धर्मपाल समग्र लेखन

१.

भारत की परम्परा

धर्मपाल

पुनरुत्थान ट्रस्ट
अहमदाबाद, गुजरात, भारत

धर्मपाल समग्र लेखन ९
भारत की परम्परा

लेखक

धर्मपाल

सम्पादक

इन्दुमति काटदरे

प्रकाशक

पुनरुत्थान ट्रस्ट,
४, वसुंधरा सोसायटी, आनन्दपार्क, कांकरिया, अहमदाबाद - ३८००२८
दूरभाष : ०७९ - २५३२२६५५

मुद्रक

साधना मुद्रणालय ट्रस्ट
सिटी मिल कम्पाउण्ड, कांकरिया मार्ग, अहमदाबाद - ३८००२२
दूरभाष : ०७९ - २५४६७७९०

मूल्य : रु. १५०-००

प्रति

२,०००

प्रकाशन तिथि

चैत्र शुक्ल १, वर्षप्रतिपदा, युगाब्द ५१०९
२० मार्च २००७

विभाग ३ : 'व्यवस्था का स्वरूप' अनुवाद
प्रणव भारती

अनुक्रमणिका

धर्मपाल समग्र लेखन

ग्रन्थ सूची

१. भारतीय चित्त, मानस एवं काल

२. १८ वीं शताब्दीमें भारतमें विज्ञान एवं तंत्रज्ञान : कतिपय समकालीन यूरोपीय वृत्तान्त
Indian Science and Technology in the Eighteenth Century : Some Contemporary European Accounts

३. भारतीय परम्परामें असहयोग
Civil Disobedience in Indian Tradition

४. रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा
The Beautiful Tree : Indigenous Indian Education in the Eighteenth Century

५. पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र
Panchayat Raj and Indian Polity

६. भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल
The British Origin of Cow slaughter in India

७. भारतकी लूट एवं बदनामी : १९ वीं शताब्दी की अंग्रेजों की जिहाद
Despoliation and Defaming of India :
The Early Nineteenth Century of British crusade

८. गांधी को समझें
Understanding Gandhi

९. भारत की परम्परा
Eassys in Tradition, Recovery and Freedom

१०. भारत का पुनर्बोध
Rediscovering India

मनोगत

गांधीजी के अगस्त १९४२ के 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन के कुछ समय पूर्व से ही मैं देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन से पूर्णरूप से प्रभावित हो चुका था। उस समय मैंने जीवन के बीस वर्ष पूरे किए थे। अगस्त १९४२ में, हम दो चार मित्र, जिनमें मित्र श्री जगदीश प्रसाद मित्तल प्रमुख थे, उत्तरप्रदेश से 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के लिए ही कांग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में भाग लेने मुम्बई गए। मैंने उससे पूर्व १९३० का लाहौर का कांग्रेस सम्मेलन देखा था, परन्तु मुम्बई के सम्मेलन का स्वरूप और अपेक्षाएँ हमारे लिए एकदम नई थीं। सम्मेलन में हमें दर्शक के रूप में भाग लेने की अनुमति मिल गई। हमने वहाँ की सम्पूर्ण कार्यवाही देखी, सभी भाषण सुने। ८ अगस्त की सायंकाल का गांधीजी का सवा दो घण्टे का भाषण तो मुझे आज भी कुछ कुछ याद है। उन्होंने प्रथम डेढ़ घण्टा हिन्दी में भाषण दिया, फिर पौन घण्टा अंग्रेजी में। सम्मेलन में ५० हजार से अधिक भीड़ थी। सभी उपस्थित लोगों से, सभी भारतवासियों से तथा विश्व के सभी देशों से गांधीजी का मुख्य निवेदन तो यही था कि वे सभी भारत और अंग्रेजों के वार्तालाप में सहायक हों । हमारे जैसे अधिकांश लोगों ने उस समय विचार किया होगा कि आन्दोलन का प्रारम्भ तो कुछ समय बाद ही होगा।

परन्तु दूसरे ही दिन सवेरे ५-६ बजे से ही पूरे मुम्बई में हलचल शुरू हो गई। मुम्बई से बाहर जानेवाली रेलागाड़ियां दोपहर के बाद तक बन्द रहीं। अंग्रेज और भारतीय पुलिस व्यापक रूप से लोगों की गिरफ्तारी करती रही। अन्ततः ९ अगस्त का शाम तक हमें दिल्ली जाने के लिए गाड़ी मिल गई। परन्तु रास्ते भर हलचल थी और गिरफ्तारियां हो रही थीं। हममें से अधिकांश लोग अपनी अपनी जगह पहुँचकर 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' आन्दोलन शुरू करनेवाले थे।

दिल्ली पहुँचकर मैं अन्य साथियों के साथ आसपास के क्षेत्रों में चल रहे आन्दोलन में जुड़ गया। कितने महीने तक इसी में ही संलग्न रहा। उस बीच अनेक गाँवों और कसबों में भी गया। वहाँ लोगों के घरों में रहा। वहीं से ही भारत के सामान्य जीवन

के साथ मेरा परिचय प्रारम्भ हुआ। दिसम्बर १९४२ में अनेक घनिष्ठ मित्रों ने सलाह दी की मुझे आन्दोलन के काम के लिए मुम्बई जाना चाहिए। इसलिए फरवरी १९४३ में मैं मुम्बई गया और वहाँ रहा। आन्दोलन का साहित्य लेकर वाराणसी और पटना भी गया। मुम्बई में गांधीजी के निकटस्थ स्वामी आनन्द ने मेरे रहने खाने की व्यवस्था की थी। वे अलग अलग लोगों से मेरा परिचय भी कराते थे। वस्तुत: मेरा मुम्बई के साथ परिचय तो उनके कारण ही हुआ। मुम्बई में ही मैं श्रीमती सुचेता कृपलानी से भी एक दो बार मिला। उसी प्रकार गिरिधारी कृपलानी से मिलना हुआ। उस समय मैं खादी का धोती कुर्ता पहनता था और स्वामी आनन्द आदि के आग्रह के बाद भी मैंने कभी पतलून आदि नहीं पहना।

मार्च १९४२ में मैं मुंबई से दिल्ली और उत्तरप्रदेश गया। अप्रैल १९४३ में दिल्ली के चाँदनीचौक पुलिस थाने में मेरी गिरफ्तारी हुई और लगभग दो महीने अलगअलग थानों में रहा। वहाँ मेरी गहन पूछताछ हुई, धमकाया भी गया। यद्यपि मारपीट नहीं हुई। जून १९४३ में मुझे सरकार के आदेशानुसार दिल्ली से निष्कासित किया गया। एकाध वर्ष बाद यह निष्कासन समाप्त हुआ।

लम्बे अरसे से मेरा मन गाँव में जाकर रहने और काम करने का था। मेरे एक पारिवारिक मित्र गोरखपुर जिले के एक हजार एकड़ जितने विशाल फार्म के मैनेजर थे। उन्होंने मुझे फार्म पर आकर रहने के लिए निमंत्रण दिया। यह फार्म सुन्दर तो था परन्तु यह तो वहाँ रहनेवालों से कसकर परिश्रम कराने की जगह थी। गाँव जैसा सामूहिकता का वातावरण वहाँ नहीं होता था। वहाँ गाँव के लोगों से मिलने, बात करने का अवसर भी नहीं मिलता था। परन्तु एक बात मैंने देखी कि वहाँ लोग गरीब होने के बाद भी प्रसन्नचित्त दिखाई देते थे।

एक वर्ष बाद जून अथवा जुलाई १९४४ में यह फार्म छोड़ कर मैं वापस आ गया। तत्काल ही मेरठ के मित्रों ने मुझे श्रीमती मीराबहन के पास जाने की सलाह दी। मीरा बहन रूड़की के निकट एक आश्रम स्थापित करने का विचार कर रही थीं। बात सुनकर मैंने पहले तो मना करने का प्रयास किया परन्तु मित्रों के आग्रह के कारण अक्टूबर १९४४ में मैं मीराबहन के पास गया। रूड़की से हरिद्वार की दिशा में सात-आठ मील दूर गाँव वालों ने मीरा बहन को आश्रम निर्माण के लिए जमीन दी थी। आश्रम हरिद्वार से बारह मील दूर था। आश्रम का नाम दिया गया 'किसान आश्रम'। यहीं से मेरा ग्रामजीवन और उसके रहनसहन के साथ परिचय शुरू हुआ। उनकी कुशलताएँ और अपने व्यवहार, रहन सहन तथा उपाय ढूंढ निकालने की योग्यता मुझे यहीं जानने

को मिली। मैं तीन वर्ष किसान आश्रम में रहा। उसके बाद पाकिस्तान से आए शरणार्थियों के पुनर्वसन का कार्य चलता था उसमें सहयोग देने के लिए मैं दिल्ली गया। उस दौरान मेरा अनेक लोगों के साथ परिचय हुआ। उसमें मुख्य थीं कमलादेवी चट्टोपाध्याय और डॉ. राममनोहर लोहिया। १९४७ से १९४९ के दौरान श्री रामस्वरूप, श्री सीताराम गोयल, श्री रामकृष्ण चाँदीवाले (उनके घर में मैं महीनों रहा), श्री नरेन्द्र दत्त, श्रीमती स्वर्णा दत्त, श्री लक्ष्मीचन्द जैन, श्री रूपनारायण, श्री एस. के. सक्सेना, श्री ब्रजमोहन तूफ़ान, श्री अमरेश सेन, श्री गोपालकृष्ण आदि के साथ भी मित्रता हुई।

दिल्ली में भारतीय सेना के कुछ अधिकारियों ने कहा कि फिलिस्तीन के यहूदी इज़रायल नामक छोटा देश बना रहे हैं। वहाँ सामूहिकता के आधार पर जीवन रचना के महत्त्वपूर्ण प्रयास हो रहे हैं। उन लोगों ने इतने आकर्षक ढंग से उसका वर्णन किया कि मैंने इज़रायल जाकर यह देखकर आने का निर्णय किया। नवम्बर १९४९ में इज़रायल जाने के लिए मैं इंग्लैण्ड गया। वहाँ आठदस महीने रह कर नवम्बर-दिसम्बर में मैं पत्नी फ़िलिस के साथ इज़रायल तथा अन्य अनेक देशों में गया। इज़रायल के लोगों ने जो कर दिखाया था वह तो बहुत प्रशंसनीय और श्रेष्ठ कार्य था परन्तु भारतीय ग्रामरचना और भारतीय व्यवस्थाओं में उस का बहुत उपयोग नहीं है, ऐसा भी लगा।

जनवरी १९५० में मैं और फिलिस हृषीकेश के निकट निर्माणाधीन, मीराबहन के 'पशुलोक' में पहुँच गये। वहाँ मीराबहनने, मेरे अन्य मित्रों, और सविशेष मार्कसवादी मित्र जयप्रकाश शर्मा के साथ मिलकर एक नए छोटे गाँव की रचना की शुरुआत की थी। उसका नाम रखा गया 'बापूग्राम'। गाँव ५० घरों का था। उसमें सभी पहाड़ी और मैदानी जाति के लोग साथ रहेंगे ऐसा प्रयास किया था। यह भी ध्यान रखा गया कि लोग अत्यन्त गरीब हों। परंतु उस के कारण गाँव की रचना का काम अधिक कठिन हो गया। गाँव के लोगों के कष्ट बढ़े। गाँव में ५०० एकड़ जमीन थी, किन्तु अनेक जंगली जानवर भी वहाँ घूमते थे। हाथी भी वहाँ आता-जाता रहता। इस लिए प्रारम्भ में खेती भी बहुत दुष्कर थी। खेती में कुछ बचता ही नहीं था। आज भी यह गाँव जैसे तैसे टिका हुआ है। १९५७ से गाँव के साथ मेरा सम्बन्ध ठीक-ठीक बढ़ा। मैं विभिन्न पंचायतों का अध्ययन करता था। इसलिए गाँव के लोगों की समझदारी और अपने प्रश्नों की ओर देखने और उसे हल करने का उनका दृष्टिकोण भलीभाँति ध्यान में आने लगा। इस बात का भी एहसास होने लगा कि अपने अधिकांश शहरी और समृद्ध लोग गाँव को जानते ही नहीं। राजस्थान, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, उड़ीसा आदि राज्यों में तो यह एहसास सविशेष हुआ। इस एहसास के कारण ही मैं १९६४-६५ में सन् १९०० के आसपास के अंग्रेजों

द्वारा तैयार किए गए दस्तावेजों के अध्ययन की ओर मुडा।

लगभग १७५० से १८५० तक अंग्रेजों ने सरकारी अथवा गैर सरकारी स्तर पर इंग्लैण्ड में रहने वाले अपने अधिकारियों तथा परिचितों को लिखे पत्रों की संख्या शायद करोड़ों दस्तावेजों में होगी। उसमें ८० से ८५ प्रतिशत की प्रतिलिपियां भारत के कोलकता, मद्रास, मुम्बई, दिल्ली, लखनऊ आदि के अभिलेखागारों में भी हैं। लन्दन की ब्रिटिश इंड़िया ऑफ़िस में और अन्य अनेक अभिलेखागारों में पाँच से सात प्रतिशत ऐसे भी दस्तावेज होंगे जो भारत में नहीं होंगे। उसमें से बहुत से ऐसे हैं जिनके अध्ययन से अंग्रेजों ने भारत में क्या किया यह समझ में आता है। उस समय के इंग्लैण्ड के समाज और शासन तंत्र की यदि हमें जानकारी होगी तो अंग्रेजों ने भारत में जो किया उसे समझने में सहायता मिल सकती है।

१९५७ से ही, जब मैं एवार्ड (Association of Voluntary Agencies for Rural Development [AVARD]) का मंत्री बना तब से ही अनेक प्रकार से सीखने का अवसर मिला और अनेक व्यक्तियों की अनेक प्रकार से सहायता भी मिली। उसमें मुख्य थे श्री अण्णासाहब सहस्रबुद्धे और श्री जयप्रकाश नारायण। नागपुर के श्री आर. के. पाटिल ने भी १९५८ से १९८० तक इस काम में बहुत रुचि ली और अलग अलग ढंग से सहायता करते रहे। श्री आर. के. पाटिल पुराने आई. सी. एस. थे, योजना आयोग के सदस्य थे, पूर्व मध्यप्रदेश के मंत्री थे और विनोबा जी के निकटवर्ती थे। १९७१ से गांधी शांति प्रतिष्ठान के मंत्री श्री राधाकृष्ण का सहयोग भी बहुत मूल्यवान था। इसी प्रकार गांधी विद्या संस्थान और पटना की अनुग्रह नारायण सिन्हा इन्स्टीटयूट का भी सहयोग मिला। डॉ. डी. एस. कोठारी भी शुरू से ही उसमें रुचि लेते थे।

१९७१ में 'इंड़ियन सायन्स एण्ड टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' Indian Science and Technology in the Eighteenth Century और 'सिविल डिसओबिड़ियन्स इन इंड़ियन ट्रेड़िशन' Civil Disobedience in Indian Tradition ऐसी दो पुस्तकें प्रकाशित हुईं। उनका विमोचन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डॉ. दौलतसिंह कोठारी ने किया। पहले ही दिन से उस पुस्तक का परिचय करनेवाले प्रजा समाजवादी पक्ष के नेता और साहित्यकार श्री गंगाशरण सिन्हा, विवेकानंद केन्द्र, कन्याकुमारी के श्री एकनाथ रानडे और अमेरिका की बर्कले यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर यूजिन ईर्शिक थे। ईर्शिक के मतानुसार 'सिविल डिसओबिडियन्स इन ईंड़ियन ट्रेड़िशन' मेरी सबसे उत्तम पुस्तक थी। श्री रामस्वरुप और श्री ए. बी. चटर्जी, जो आई. सी. एस. थे और मिनिस्ट्री ऑफ़ स्टेट्स के सचिव थे, उनके मतानुसार 'इंड़ियन सायन्स एण्ड

टेक्नोलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक थी। १९७१ से १९८५ के दौरान इन दोनों पुस्तकों का अनेक प्रकार से उल्लेख होता रहा। देशभर में इसका उल्लेख करनेवालों में मुख्य थे श्री जयप्रकाश नारायण, श्री रामस्वरुप और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के श्री एकनाथ रानड़े, प्रोफ़ेसर राजेन्द्रसिंह और वर्तमान सरसंघचालक श्री सुदर्शन जी।

अभी तक ये पुस्तकें मुख्य रूप से अंग्रेजी में ही हैं। उसका एक विशेष कारण यह है कि उसमें समाविष्ट दस्तावेज सन् १८०० के आसपास अंग्रेजों और अन्य यूरोपीय लोगों ने अंग्रेजी में ही लिखे हैं। प्रारंभ में ही यह सब हिन्दी अथवा अन्य भारतीय भाषा में प्रकाशित करना बहुत मुश्किल लगता था। लेकिन जब तक यह सब भारतीय भाषाओं में प्रकाशित नहीं होता तब तक सर्वसामान्य लोग दो सौ वर्ष पूर्व के भारत के विषय में न जान सकेंगे, न समझ सकेंगे, और न ही चर्चा कर सकेंगे।

इसलिए इन पुस्तकों का अब हिन्दी भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो रहा है यह बहुत प्रशंसनीय कार्य है।[१]

मैं १९६६ तक अधिकांशत: इंग्लैण्ड और सविशेष लन्दन में रहा। उस समय भारत से सम्बन्धित वहाँ स्थित दस्तावेजों में से पांच अथवा दस प्रतिशत सामग्री का मैंने अवलोकन किया होगा। उनमें से कुछ मैंने ध्यान से देखे, कुछ की हाथ से नकल उतार ली, अनेकों की छायाप्रति बना ली। उस दौरान बीच बीच में भारत आकर कोलकता, लखनऊ, मुम्बई, दिल्ली और चेन्नई के अभिलेखागारों में भी कुछ नए दस्तावेज देखे।

उन दस्तावेजों के आधार पर अभी गुजरात से प्रकाशित हो रही अधिकांश पुस्तकें तैयार की गई हैं। ये पुस्तकें जिस प्रकार सन् १८०० के समय के भारत से सम्बन्धित हैं उसी प्रकार १८८० से १९०३ के दौरान गोहत्या के विरोध में हुए आन्दोलन के और १८८० के बाद के दस्तावेजों के आधार पर लिखी गई हैं। उनमें एकाध पुस्तक इंग्लैण्ड और अमेरिका के समाज से भी सम्बन्धित है। इसकी सामग्री इंग्लैण्ड में मिली है और यह पढ़ी गई पुस्तकों के आधार पर तैयार की गई है।

१९६० से शुरू हुए इस प्रयास का मुख्य उद्देश्य दो सौ वर्ष पूर्व के भारतीय समाज को समझना ही था। लेकिन मात्र जानना, समझना पर्याप्त नहीं है। उसका इतना महत्त्व भी नहीं है। महत्त्व तो यह जानने समझने का है कि अंग्रेजों से पूर्व का स्वतंत्र भारत, जहाँ उसकी स्थानिक इकाइयां अपनी अपनी दृष्टि और आवश्यकतानुसार अपना समाज चलाती थीं, वह कैसा रहा होगा। अचानक १९६४-६५ में चेन्नई के एगमोर

अभिलेखागार में ऐसी सामग्री मुझे मिली, और ऐसी ही सामग्री इग्लैण्ड में उससे भी सरलता से मिली। यदि मैं पोर्टुगल और हॉलेण्ड की भाषा जानता तो १६ वीं, १७ वीं सदी में वहाँ भी भारत के विषय में क्या लिखा गया है यह जान पाता। खोजने के बाद भी चालीस वर्ष पूर्व भारतीय भाषाओं में इस प्रकार के वर्णन नहीं मिले।

हमें तो गत दो तीन हज़ार वर्ष के भारत और उसके समाज को समझने की आवश्यकता है। हम जब उस तरह से समझेंगे तभी भारतीय समाज की पारम्परिक व्यवस्थाओं, तंत्रों, कुशलताओं और आज की अपनी आवश्यकताओं और अपनी क्षमता के अनुसार पुनःस्थापना की रीति भी जान लेंगे और समझ लेंगे।

भारत बहुत विशाल देश है। चार पाँच हज़ार वर्षों में पड़ोसी देश - ब्रह्मदेश, श्रीलंका, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, इंड़ोनेशिया, वियतनाम, कम्बोड़िया, मलेशिया, अफ़गानिस्तान, ईरान आदि के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। भारतीयों का स्वभाव और उनकी मान्यताएँ उन देशों के साथ बहुत मिलती जुलती हैं। सन् १५०० के बाद एशिया पर यूरोप का प्रभाव बढ़ा उसके बाद उन सभी पडोसी देशों के साथ की पारस्परिकता लगभग समाप्त हो गई है। उसे पुन: स्थापित करना ज़रूरी है। इसी प्रकार यूरोप, खासकर इंग्लैण्ड और अमेरिका के साथ तीन सौ चार सौ वर्षों से जो सम्बन्ध बढ़े हैं उनका भी समझ बूझकर फिर से मूल्यांकन करना जरूरी है। यह हमारे लिए और उनके लिए भी श्रेयस्कर होगा। देशों को बिना जरूरत से एक दूसरे के अधिक निकट लाना अथवा एक देश दूसरे देश की ओर ही देखता रहे यह भविष्य की दृष्टि से भी कष्टदायी साबित हो सकता है।

मकरसंक्राति
१४, जनवरी २००५
पौष शुद ५, युगाब्द ५१०६

धर्मपाल
आश्रम प्रतिष्ठान
सेवाग्राम
जिला वर्धा (महाराष्ट्र)

१. यह प्रस्तावना गुजराती अनुवाद के लिये लिखी गई है। हिन्दी अनुवाद के लिये श्री धर्मपालजी की ही सूचना के अनुसार उसे यथावत् रखा है : मूल प्रस्तावना हिन्दी में ही है, गुजराती के लिये उसका अनुवाद किया गया था। - सं.

सम्पादकीय

१.

सन् १९९२ के जनवरी मास में चैन्नई में विद्याभारती का प्रधानाचार्य सम्मेलन था। उस सम्मेलन में श्री धर्मपालजी पधारे थे। उस समय पहली बार The Beautiful Tree के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त हुई। दो वर्ष बाद कोईम्बतूर में यह पुस्तक खरीद की और पढ़ी। पढ़कर आश्चर्य और आघात दोनों का अनुभव हुआ। आश्चर्य इस बात का कि हम इतने वर्षों से शिक्षा क्षेत्र में कार्यरत हैं तो भी इस पुस्तक में निरूपित तथ्यों की लेशमात्र जानकारी हमें नहीं है। आघात इस बात का कि शिक्षा विषयक स्थिति ऐसी दारुण है तो भी हम उस विषय में कुछ कर नहीं रहे हैं। जो चल रहा है उसे सह लेते हैं और उसे स्वीकृत बात ही मान लेते हैं ।

तभी से उस पुस्तक का प्रथम हिन्दी में और बाद में गुजराती में अनुवाद करके अनेकानेक कार्यकर्ताओं और शिक्षकों तक उसे पहुँचाने का विचार मन में बैठ गया। परन्तु वर्ष के बाद वर्ष बीतते गये। प्रवास की निरन्तरता और अन्यान्य कार्यो में व्यस्तता के कारण मन में स्थित विचार को मूर्त स्वरूप दे पाने का अवसर नहीं आया। इस बीच विद्या भारती विदर्भ ने इसका संक्षिप्त मराठी अनुवाद प्रकाशित किया। 'भारतीय चित्त, मानस एवं काल', 'भारत का स्वधर्म' जैसी पुस्तिकायें भी पढ़ने में आयीं। अनेक कार्यकर्ता भी इसका अनुवाद होना चाहिये ऐसी बात करते रहे। इस बीच पूजनीय हितरुचि विजय महाराजजी ने गोवा के 'द अदर इंड़िया बुक प्रेस' द्वारा प्रकाशित पांच पुस्तकों का संच दिया और पढ़ने के लिये आग्रह भी किया। इन सभी बातों के निमित्त से अनुवाद भले ही नहीं हुआ परन्तु अनुवाद का विचार मन में जाग्रत ही रहा। उसका निरन्तर पोषण भी होता रहा। चार वर्ष पूर्व मुझे विद्याभारती की राष्ट्रीय विद्वत् परिषद के संयोजक का दायित्व मिला। तब मन में इस अनुवाद के विषय में निश्चय सा हुआ। उस विषय में कुछ ठोस बातें होने लगीं। अन्त में पुनरुत्थान ट्रस्ट इस अनुवाद का प्रकाशन करेगा ऐसा निश्चय युगाब्द ५१०६ की व्यास पूर्णिमा को हुआ। सर्व प्रथम तो यह अनुवाद

हिन्दी में ही होना था। उसके बाद हिन्दी एवं गुजराती दोनों भाषओं में करने का विचार हुआ। परन्तु इस कार्य के व्याप को देखते हुए लगा कि दोनों कार्य एक साथ नहीं हो पायेंगे। एक के बाद एक करने पड़ेंगे।

साथ ही ऐसा भी लगा कि यह केवल प्रकाशन के लिये प्रकाशन, अनुवाद के लिये अनुवाद तो है नहीं। इसका उपयोग विद्वज्जन करें और हमारे छात्रों तक इन बातों को पहुँचाने की कोई ठोस एवं व्यापक योजना बने इस हेतु से इस सामग्री का भारतीय भाषाओं में होना आवश्यक है। ऐसे ही कार्यों को यदि चालना देनी है तो प्रथम इसका क्षेत्र सीमित करके ध्यान केन्द्रित करना पड़ेगा। इस दृष्टिसे प्रथम इसका गुजराती अनुवाद प्रकाशित करना ही अधिक उपयोगी लगा।

निर्णय हुआ और तैयारी प्रारम्भ हुई। सर्व प्रथम श्री धर्मपालजी की अनुमति आवश्यक थी। हम उन्हें जानते थे परन्तु वे हमें नहीं जानते थे। परन्तु हमारे कार्य, हमारी योजना और हमारी तैयारी जब उन्होंने देखी तब उन्होंने अनुमति प्रदान की। साथ ही उन्होंने अपनी और पुस्तकों के विषय में भी बताया। इन सभी पुस्तकों के अनुवाद का सुझाव भी दिया।

हम फिर बैठे। फिर विचार हुआ। अन्त में निर्णय हुआ कि जब कर ही रहे हैं तो काम पूरा ही किया जाय।

इस प्रकार एक से पांच और पांच से ग्यारह पुस्तकों के अनुवाद की योजना आखिर बन गई।

योजना तो बन गई परन्तु आगे का काम बड़ा विस्तृत था। भिन्न भिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित मूल अंग्रेजी पुस्तकें प्राप्त करना, उन्हें पढ़ना, उनमें से चयन करना, अनुवादक निश्चित करना आदि समय लेनेवाला काम था। अनुवादक मिलते गये, कई पक्के अनुवादक खिसकते गये, अनेपक्षित रूप से नये मिलते गये और अन्त में पुस्तक और अनुवादकों की जोड़ी बनकर कार्य प्रारम्भ हुआ और सन २००५ और युगाब्द ५१०६ की वर्ष प्रतिपदा को कार्य सम्पन्न भी हो गया। १६ अप्रैल २००५ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के परम पूजनीय सरसंघचालक माननीय सुदर्शनजी एवं स्वयं श्री धर्मपालजी की उपस्थिति में तथा अनेपक्षित रूप से बडी संख्या में उपस्थित श्रोतासमूह के मध्य इन गुजराती पुस्तकों का लोकार्पण हुआ।

प्रकाशन के बाद भी इसे अच्छा प्रतिसाद मिला। विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, ग्रन्थालयों में एवं विद्वज्जनों तक इन पुस्तकों को पहुँचानें में हमें पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। साथ ही साथ महाविद्यालयों एवं विद्यालयों के अध्यापकों एवं

प्रधानाचार्यों के बीच इन पुस्तकों को लेकर गोष्ठियों का आयोजन भी हुआ।

इसके बाद सभी ओर से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह बढने लगा। स्वयं श्री धर्मपालजी भी इस कार्य के लिये प्रेरित करते रहे। अनेक वरिष्ठजन भी पूछताछ करते रहे। अन्त में इन ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन तय हुआ। गुजराती अनुवाद कार्य का अनुभव था इसलिये अनुवादक ढूँढ़ने में इतनी कठिनाई नहीं हुई। सौभाग्य से अच्छे लोग सरलता से मिलते गये और कार्य सम्पन्न होता गया। आज यह आपके सामने है।

इस संच में कुल दस पुस्तकें हैं। (१) भारतीय चित्त, मानस एवं काल (२) १८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान (३) भरतीय परम्परा में असहयोग (४) रमणीय वृक्ष : १८ वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा (५) पंचायत राज एवं भारतीय राजनीति तंत्र (६) भारत में गोहत्या का अंग्रेजी मूल (७) भारत की लूट एवं बदनामी (८) गांधी को समझें (९) भारत की परम्परा एवं (१०) भारत का पुनर्बोध। सर्व प्रथम पुस्तक '१८ वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तंत्रज्ञान' १९७१ में प्रकाशित हुई थी और अन्तिम पुस्तक 'भारत का पुनर्बोध' सन् २००३ में। इनके विषय में तैयारी तो सन् १९६० से ही प्रारम्भ हो गई थी। इस प्रकार यह ग्रंथसमूह चालीस से भी अधिक वर्षों के निरन्तर अध्ययन एवं अनुसन्धान का परिणाम है।

२.

विश्व में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। यह पहचान उसकी जीवनशैली, परम्परा, मान्यताओं, दैनन्दिन व्यवहार आदि के द्वारा निर्मित होती है। उसे ही संस्कृति कहते हैं।

सामान्य रूप से विश्व में दो प्रकार की विचारशैली, व्यवहारशैली दिखती हैं। एक शैली दूसरों को अपने जैसा बनाने की आकांक्षा रखती है। अपने जैसा ही बनाने के लिए यह जबर्दस्ती, शोषण, कत्लेआम आदि करने में भी हिचकिचाती नहीं, यहां तक की ऐसा करने में दूसरा समाप्त हो जाय तो भी उसे परवाह नहीं। दूसरी शैली ऐसी है जो सभी के स्वत्व का समादर करती है, उनके स्वत्व को बनाए रखने में सहायता करती है। ऐसा करने में दोनों एक दूसरे स प्रभावित होती हैं और सहज परिवर्तन होता रहता है फिर भी स्वत्व बना रहता है।

यह तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से पहली यूरोपीय अथवा अमेरिकी शैली है तो दूसरी भारतीय। इन दोनों के लिए क्रमश: 'पाश्चात्य' और 'प्राच्य' ऐसी अधिक व्यापक

संज्ञा का प्रयोग हम करते हैं।

यह तो सर्वविदित है कि भारतीय संस्कृति विश्व में अति प्राचीन है। केवल प्राचीन ही नहीं तो समृद्ध, सुव्यवस्थित, सुसंस्कृत और विकसित भी है।

परन्तु आज से ५०० वर्ष पूर्व यूरोप ने विस्तार करना शुरू किया। समग्र विश्व में फैल जाने की उसको आकांक्षा थी। विश्व के अन्य देशों के साथ भारत भी उसका लक्ष्य था। इंग्लैण्ड में ईस्ट इंड़िया कम्पनी बनी। वह भारत में आई। समुद्रतटीय प्रदेशों में उसने अपने व्यापारिक केन्द्र बनाए। उन केन्द्रों को किले का नाम और रूप दिया, उनमें सैन्य भी रखा, धीरे धीरे व्यापार के साथ साथ प्रदेश जीतने और अपने कब्जे में लेने का काम शुरू किया, साथ ही साथ ईसाईकरण भी शुरू किया। सन् १८२० तक लगभग सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के कब्जे में चला गया।

भारत को अपने जैसा बनाने के लिए अंग्रेजों ने यहाँ की सभी व्यवस्थाओं- प्रशासकीय और शासकीय, सामाजिक और सांस्कृतिक, आर्थिक और व्यावसायिक, शैक्षणिक और नागरिक को तोड़ना शुरू किया। उन्होंने नए कायदे कानून बनाए, नई व्यवस्थाएँ बनाईं, संरचनाओं का निर्माण किया, नई सामग्री और नई पद्धति की रचना की और जबरदस्ती से उसका अमल भी किया। यह भी सच है कि उन्होंने भारत में आकर जो कुछ किया उसमें से अधिकांश तो इंग्लैण्डमें अस्तित्व में था। इसके कारण भारत दरिद्र होता गया। भारत में वर्ग संघर्ष पैदा हुए। लोंगो का आत्मसम्मान और गौरव नष्ट हो गया। मौलिकता और सृजनशीलता कुंठित हो गई, मूल्यों का ह्रास हुआ। मानवीयता का स्थान यांत्रिकता ने लिया और सर्वत्र दीनता व्याप्त हो गई। लोग स्वामी के स्थान पर दास बन गए। एक ऐसे विराट, राक्षसी, अमानुषी व्यवस्था के पुर्जे बन गये जिसे वे बिल्कुल मानते नहीं, समझते नहीं और स्वीकार भी करते नहीं थे, क्योंकि यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं था।

भारत की शिक्षाव्यवस्था की उपेक्षा करते करते उसे नष्ट कर उसके स्थान पर यूरोपीय शिक्षा लागू करने, प्रतिष्ठित करने का कार्य भारत को तोडने की प्रक्रिया में सिरमौर था। क्योंकि यूरोपीय शिक्षाप्राप्त लोगों के विचार, मानस, व्यवहार, दृष्टिकोण सभी कुछ बदलने लगा। उसका परिणाम सर्वाधिक शोचनीय और घातक हुआ। हमें गुलामी रास आने लगी। दैन्य अखरना बन्द हो गया। अंग्रेजों का दास बनने में ही हमें गौरव का अनुभव होने लगा। जो भी यूरोपीय है वह विकसित है, आधुनिक है, श्रेष्ठ है और जो भी अपना है वह निकृष्ट है, हीन है और लज्जास्पद है, गया बीता है ऐसा हमें लगने लगा। अपनी शिक्षण संस्थाओं में हम यही मानसिकता और यही विचार एक के

बाद एक आनेवाली पीढ़ी को देते गए। इस गुलामी की मानसिकता के आगे अपनी विवेकशील और तेजस्वी बुद्धि भी दब गई। यूरोपीय, या यूरोपीय जैसा बनना ही हमारी आकांक्षा बन गई। देश को वैसा ही बनाने का प्रयास हम करने लगे। अपनी संरचनाएँ, पद्धतियां, संस्थाएँ वैसी ही बन गई।

गांधीजी १९१५ में दक्षिण अफ्रिका से भारत आए तब भारत ऐसा था। उन्होंने जनमानस को जगाया, उसमें प्राण फूंके, उसकी भावनाओं को अपने वाणी और व्यवहार में अभिव्यक्त कर, भारत के लिए योग्य हज़ारों वर्षों की परम्परा के अनुसार व्यवस्थाओं, गतिविधियों और पद्धतियों को प्रतिष्ठित किया और भारत को फिर से भारत बनाने का प्रयास किया। स्वतंत्रता के साथ साथ स्वराज को भी लाने के लिए वे जूझे।

परंतु स्वतंत्रता मात्र सत्ता का हस्तान्तरण (Transfer of Power) ही बन कर रह गया। उसके साथ स्वराज नहीं आया। सुराज्य की तो कल्पना भी नहीं कर सकते।

आज की अपनी सारी अनवस्था का मूल यह है। हम अपनी जीवनशैली चाहते ही नहीं हैं। स्वतंत्र भारत में भी हम यूरोप अमेरिका की ओर मुँह लगाये बेठे हैं। यूरोप के अनुयायी बनना ही हमें अच्छा लगता है।

परन्तु, यह क्या समग्र भारत का सच है ? नहीं, भारत की अस्सी प्रतिशत जनसंख्या यूरोपीय विचार और शैली जानती भी नहीं और मानती भी नहीं है। उसका उसके साथ कुछ लेना देना भी नहीं है। उनके रीतिरिवाज, मान्यताएं, पद्धतियां, सब वैसी की वैसी ही हैं। केवल शिक्षित लोग उन्हें पिछड़े और अंधविश्वासी कहकर आलोचना करते हैं, उन्हें नीचा दिखाते हैं और अपने जैसा बनाना चाहते हैं। यही उनकी विकास और आधुनिकताकी कल्पना है।

भारत वस्तुतः तो उन लोगों का बना हुआ है, उन का है। परन्तु जो बीस प्रतिशत लोग हैं वे भारत पर शासन करते हैं। वे ही कायदे-कानून बनाते हैं और न्याय करते हैं, वे ही उद्योग चलाते हैं और कर योजना करते हैं। वे ही पढ़ाते हैं और नौकरी देते हैं, वे ही खानपान, वेशभूषा, भाषा और कला अपनाते हैं (जो यूरोपीय हैं) और उनको विज्ञापनों के माध्यम से प्रतिष्ठित करते हैं। यहाँ के अस्सी प्रतिशत लोगों को वे पराये मानते हैं, बोझ मानते हैं, उनमें सुधार लाना चाहते हैं और वे सुधरते नहीं इसलिए उनकी आलोचना करते हैं। वे लोग स्वयं तो यूरोपीय जैसे बन ही गए हैं, दूसरों को भी वैसा ही बनाना चाहते हैं। वे जैसे कि भारत को यूरोप के हाथों बेचना ही चाहते हैं, जिन लोगों का भारत है वे तो उनकी गिनती में ही नहीं हैं।

इस परिस्थिति को हम यदि बदलना चाहते हैं तो हमें अध्ययन करना होगा -

स्वयं का, अपने इतिहास का और अपने समाज का। भारत को तोड़ने की प्रक्रिया को जानना और समझना पड़ेगा। भारत का भारतीयत्व क्या है, किसमें है, किस प्रकार बना हुआ है यह सब जानना और समझना पड़ेगा। मूल बातों को पहचानना होगा। देश के अस्सी प्रतिशत लोगों का स्वभाव, उनकी आकांक्षाएँ, उनकी व्यवहारशैली को जानना और समझना पड़ेगा। उनका मूल्यांकन पश्चिमी मापदण्डों से नहीं अपितु अपने मापदण्डों से करना पड़ेगा। उसका रक्षण, पोषण और संवर्धन कैसे हो यह देखना पड़ेगा। भारत के लोगों में साहस, सम्मान, आत्मगौरव जाग्रत करना पड़ेगा। भारत के पुनरुत्थान में उनकी बुद्धि, भावना, कर्तृत्वशक्ति और कुशलताओं का उपयोग कर उन्हें सचे अर्थ में सहभागी बनाना पड़ेगा। यह सब हमें पाश्चात्य प्रकार की युनिवर्सिटियों से नहीं अपितु सामान्य, 'अशिक्षित', 'अर्धशिक्षित' लोगों से सीखना होगा।

आज भी यूरोप बनने की इच्छा करनेवाला भारत जोरों से प्रयास कर रहा है और कुंठाओं का शिकार बन रहा है। भारतीय भारत उलझ रहा है, छटपटा रहा है, और शोषित हो रहा है। भाग्य केवल इतना है कि क्षीणप्राण होने पर भी भारतीय भारत गतप्राण नहीं हुआ है। इसलिए अभी भी आशा है - उसे सही अर्थ में स्वाधीन बनाकर समृद्ध और सुसंस्कृत बनाने की।

३.

धर्मपालजी की इन पुस्तकों में इन सभी प्रक्रियाओं का क्रमबद्ध, विस्तृत निरूपण किया गया है। अंग्रेज भारत में आए उसके बाद उन्होंने सभी व्यवस्थाओं को तोड़ने के लिए किन चालबाजियों को अपनाया, कैसा छल और कपट किया, कितने अत्याचार किए और किस प्रकार धीरे धीरे भारत टूटता गया, किस प्रकार बदलती परिस्थितियों का अवशता से स्वीकार होता गया उसका अभिलेखों के प्रमाणों सहित विवरण इन ग्रंथों में मिलता है। इंग्लैण्ड के और भारत के अभिलेखागारों में बैठकर, रात दिन उसकी नकल उतार लेने का परिश्रम कर धर्मपालजी ने अंग्रेज क्लेक्टरों, गवर्नरों, वाइसरायों ने लिखे पत्रों, सूचनाओं और आदेशों को एकत्रित किया है, उनका अध्ययन कर के निष्कर्ष निकाले हैं और एक अध्ययनशील और विद्वान व्यक्ति ही कर सकता है ऐसे साहस से स्पष्ट भाषा में हमारे लिये प्रस्तुत किया है। लगभग चालीस वर्ष के अध्ययन और शोध का यह प्रतिफल है।

परन्तु इसके फलस्वरूप हमारे लिए एक बड़ी चुनौती निर्माण होती है, क्योंकि -

- आजकल विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले इतिहास से यह इतिहास भिन्न

है। हम तो अंग्रेजों द्वारा तैयार किए और कराए गए इतिहास को पढ़ते हैं। यहाँ अंग्रेजों ने ही लिखे लेखों के आधार पर निरूपित इतिहास है।

- विज्ञान और तंत्रज्ञान की जो जानकारी उसमें है वह आज पढ़ाई ही नहीं जाती।
- कृषि, अर्थव्यवस्था, करपद्धति, व्यवसाय, कारीगरी आदि की अत्यंत आश्चर्यकारक जानकारियां उसमें है। भारत को आर्थिक रूप में बेहाल और परावलम्बी बनानेवाला अर्थशास्त्र आज हम पढ़ते हैं। यहाँ दी गई जानकारियों में स्वाधीन भारत को स्वावलम्बन के मार्ग पर चल कर समृद्धि की ओर ले जानेवाले अर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों की सामग्री हमें प्राप्त होती है।
- व्यक्ति को किस प्रकार गौरवहीन बनाकर दीनहीन बना दिया जाता है इसका निरूपण है, साथ ही उस संकट से कैसे निकला जा सकता है उसके संकेत भी हैं।
- संस्कृति और समाजव्यवस्था के मानवीय स्वरूप पर किस प्रकार आक्रमण होता है, किस प्रकार उसे यंत्र के अधीन कर दिया जाता है इसका विश्लेषण यहाँ है। साथ ही उसके शिकार बनने से कैसे बचा जा सकता है, उसके लिए दृढता किस प्रकार प्राप्त होती है इसका विचार भी प्राप्त होता है।

यह सब अपने लिए चुनौती इस रूप में है कि आज हम अनेक प्रकार से अज्ञान से ग्रस्त हैं।

हमारा अज्ञान कैसा है ?

- शिक्षण विषय के वरिष्ठ अध्यापक सहजरूप से मानते हैं कि अंग्रेज आए और अपने देश में शिक्षा आई। उन्हें जब यह कहा गया कि १८ वीं शती में भारत में लाखों की संख्या में प्राथमिक विद्यालय थे, और चार सौ की जनसंख्या पर एक विद्यालय था, तो वे उसे मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें जब 'The Beautiful Tree' दिखाया गया तो उन्हें आश्चर्य हुआ (परन्तु रोमांच अथवा आनन्द नहीं हुआ।)
- शिक्षाधिकारी, शिक्षासचिव, शिक्षा महाविद्यालय के अध्यापक अधिकांशत: इन बातों से अनभिज्ञ हैं। कुछ जानते भी हैं तो यह जानकारी बहुत ही सतही है।

यह अज्ञान सार्वत्रिक है, केवल शिक्षा विषयक ही नहीं अपितु सभी विषयों में है।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम स्वयं को ही नहीं जानते, अपने इतिहास को नहीं जानते, स्वयं को हुई हानि को नहीं जानते और अज्ञानियों के स्वर्ग में रहते हैं। यह स्वर्ग भी अपना नहीं है। उस स्वर्ग में भी हम गुलाम हैं और पश्चिममुखापेक्षी, पराधीन बनकर रह रहे हैं।

४.

इस संकट से मुक्त होना है तो मार्ग है अध्ययन का। धर्मपालजी की पुस्तकें अपने पास अध्ययन की सामग्री लेकर आई हैं, हम सो रहे हैं तो हमें जगाने के लिए आई हैं, जाग्रत हैं तो झकझोरने के लिए आई हैं, दुर्बल हैं तो सबल बनाने के लिए आई हैं, क्षीणप्राण हुए हैं तो प्राणवान बनाने के लिए आई हैं।

ये पुस्तकें किसके लिए हैं ?

ये पुस्तकें इतिहास, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, जिसे आज की भाषा में ह्यूमेनिटीज़ कहते हैं, उसके विद्वानों, चिन्तकों, शोधकों, अध्यापकों और छात्रों के लिए हैं।

ये पुस्तकें भारत को सही मायने में स्वाधीन, समृद्ध, सुसंस्कृत, बुद्धिमान और कर्तृत्ववान बनाने की आकांक्षा रखने वाले बौद्धिकों, सामान्यजनों, संस्थाओं, संगठनों और कार्यकर्ताओं के लिए हैं।

ये पुस्तकें शोध करने वाले विद्वानों और शोधछात्रों के लिए हैं।

प्रश्न यह है कि इन पुस्तकों को पढ़ने के बाद क्या करें ?

धर्मपालजी स्वयं कहते हैं कि पढ़कर केवल प्रशंसा के उद्गार, अथवा पुस्तकों की सामग्री एकत्रित करने के परिश्रम के लिए लेखक को शाबाशी देना पर्याप्त नहीं है। उससे अपना संकट दूर नहीं होगा।

आवश्यकता है इस दिशा में शोध को आगे बढ़ाने की, भारत की १८ वीं, १९ वीं शताब्दी से सम्बन्धित दस्तावेजों में से कदाचित पांच सात प्रतिशत का ही अध्ययन इस में हुआ है। अभी भी लन्दन के, भारत की केन्द्र सरकार के तथा राज्यों के अभिलेखागारों में ऐसे असंख्य दस्तावेज अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। उन सभी का अध्ययन और शोध करने की योजना महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, शैक्षिक संगठनों और सरकार ने करना आवश्यक है। आवश्यकता के अनुसार इस कार्य के लिए अध्ययन और शोध की स्थानीय और देशी प्रकार की संस्थाएं भी बनाई जा सकती हैं।

इसके लिए ऐसे अध्ययनशील छात्रों की आवश्यकता है। इन छात्रों को मार्गदर्शन तथा संरक्षण प्राप्त हो यह देखना चाहिये।

साथ ही एक साहसपूर्ण कदम उठाना जरूरी है। विश्वविद्यालयों, और महाविद्यालयों के इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के अध्ययन मण्डल (बोर्ड ऑफ़ स्टडीज़) और विद्वत् परिषदों (एकेडमिक काउन्सिल) में इन विषयों पर चर्चा होनी चाहिए, और पाठ्यक्रमों में इसके आधार पर परिवर्तन करना चाहिए। युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड इसके आधार पर सन्दर्भ पुस्तकें तैयार कर सकते हैं। ऐसा होगा तभी आनेवाली पीढ़ी को यह जानकारी प्राप्त होगी। यह केवल जानकारी का विषय नहीं है, यह परिवर्तन का आधार भी बनना चाहिए। आवश्यकता पडने पर इसके लिए व्यापक चर्चा जहां सम्भव है ऐसी गोष्ठियों एवं चर्चा सत्रों का आोयजन करना चाहिए।

इसके आधार पर रूपान्तरण कर के जनसामान्य तक ये बातें पहुँचानी चाहिए। कथाएँ, नाटक, चित्र, प्रदर्शनी तैयार कर उस सामग्री का प्रचार-प्रसार किया जा सकता है। इससे जनसामान्य के मन में स्थित सुषुप्त भावनाओं और अनुभूतियों का यथार्थ प्रतिभाव प्राप्त होगा।

माध्यमिक और प्राथमिक विद्यालय में पढ़ने वाले किशोर और बाल छात्रों के लिए उपयोगी वाचनसामग्री इसके आधर पर तैयार की जा सकती है।

ऐसा एक प्रबल बौद्धिक जनमत तैयार करने की आवश्यकता है जो इसके आधार पर संस्थाएँ निर्माण करे, चलाये, व्यवस्था का निर्माण करे। या तो सरकार के या सार्वजनिक स्तर पर व्यवस्था बदलने की, और नहीं तो सभी व्यवस्थाओं को अपने नियंत्रण से मुक्त कर जनसामान्यके अधीन करने की अनिवार्यता निर्माण करे। सच्चा लोकतंत्र तो यही होगा।

बन्धन और जकड़न से जन सामान्य की बुद्धि को मुक्त करनेवाली, लोगों के मानस, कौशल, उत्साह और मौलिकता को मार्ग देने वाली, उनमें आत्मविश्वास का निर्माण करनेवाली और उनके आधार पर देश को फिर से उठाया और खड़ा किया जा सके इस हेतु उसका स्वत्व और सामर्थ्य जगानेवाली व्यापक योजना बनाने की आवश्यकता है।

इन पुस्तकों के प्रकाशन का यह प्रयोजन है।

५.

श्री धर्मपालजी गांधीयुग में जन्मे, पले। गांधीयुग के आन्दोलनों में उन्होंने भाग लिया, रचनात्मक कार्यक्रमों में भाग लिया, मीराबहन के साथ बापूग्राम के निर्माण में वे सहभागी बने।

महात्मा गांधी के देशव्यापी ही नहीं, तो विश्वव्यापी प्रभाव के बाद भी गांधीजी के अतिनिकट के, अतिविश्वसनीय, गांधीभक्त कहे जाने वाले लोग भी उन्हें नहीं समझ सके, कुछ ने तो उन्हें समझने का प्रयास भी नहीं किया, कुछ ने उन्हें समझा फिर भी उन्हें दरकिनार कर सत्ता का स्वीकार कर भारत को यूरोप के तंत्रानुरूप ही चलाया। उन नेताओं के जैसे ही विचार के लगभग दो चार लाख लोग १९४७ में भारत में थे (आज उनकी संख्या शायद पाँच दस करोड़ हो गई है)। यह स्थिति देखकर उनके मन में जो मंथन जागा उसने उन्हें इस अध्ययन के लिये प्रेरित किया। लन्दन के और भारत के अभिलेखागारों में से उन्होंने असंख्य दस्तावेज एकत्रित किए, पढ़े, उनका अध्ययन किया, विश्लेषण किया और १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के भारत का यथार्थ चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। जीवन के पचास साठ वर्ष वे इस साधना में रत रहे।

ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में हैं। उनका व्यापक अध्ययन होने के लिए ये भारतीय भाषाओं में हों यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। कुछ लेख हिन्दी में हैं और 'जनसत्ता' आदि दैनिक में और 'मंथन' आदि सामयिकों में प्रकाशित हुए हैं । मराठी, तेलुगु, कन्नड आदि भाषाओं में कुछ अनुवाद भी हुआ है परन्तु संपूर्ण और समग्र प्रयास तो गुजराती में ही प्रथम हुआ है। और अब हिन्दी में हो रहा है।

इस व्यापक शैक्षिक प्रयास का यह अनुवाद एक प्रथम चरण है।

६.

इस ग्रन्थ श्रेणी में विविध विषय हैं। इसमें विज्ञान और तंत्रज्ञान है; शासन और प्रशासन है; लोकव्यवहार और राज्य व्यवहार है; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, अर्थशास्त्र नागरिक शास्त्र भी है। इसमें भारत, इंग्लैंड और अमेरिका है। परन्तु सभी का केन्द्रबिन्दु हैं गांधीजी, कोंग्रेस, सर्वसामान्य प्रजा और ब्रिटिश शासन।

और उनके भी केन्द्र में है भारत।

अत: एक ही विषय विभिन्न रूपों में, विभिन्न संदर्भो के साथ चर्चा में आता रहता है। और फिर विभिन्न समय में, विभिन्न स्थान पर, भिन्न भिन्न प्रकार के श्रोताओं के सम्मुख और विभिन्न प्रकार की पत्रिकाओं के लिये भाषण और लेख भी यहां समाविष्ट हैं। अत: एक साथ पढ़ने पर उसमें पुनरावृत्ति दिखाई देती है-विचारोंकी, घटनाओं की, दृष्टान्तों की। सम्पादन करते समय पुनरावृत्ति को यथासम्भव कम करने का प्रयास किया है। इसीके परिणाम स्वरुप गुजराती प्रकाशन में ११ पुस्तकें थीं और हिन्दी में १० हुई हैं। परंतु विषय प्रतिपादन की आवश्यकता देखते हुए पुनरावृत्ति कम करना हमेशा संभव नहीं हुआ है।

फिर, सर्वथा पुनरावृत्ति दूर कर उसे नये ढंग से पुनर्व्यवस्थित करना तो वेदव्यास

का कार्य हुआ। हमारे जैसे अल्प क्षमतावान लोगों के लिये यह अधिकारक्षेत्र के बाहर का कार्य है।

अत: सुधी पाठकों के नीरक्षीर विवेक पर भरोसा करके सामग्री यथातथ स्वरूप में ही प्रस्तुत की है।

यहां दो प्रकार की सामग्री है। एक है प्रस्तुत विषय से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित यूरोप के अधिकारियों और बौद्धिकोंने प्रत्यक्षदर्शी प्रमाणों एवं स्वानुभव के आधार पर, विभिन्न प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रस्तुत की हुई भारत विषयक जानकारी, और दूसरी है धर्मपालजीने इस सामग्री का किया हुआ विश्लेषण, उससे प्राप्त निष्कर्ष और उससे प्रकाशित ब्रिटिशरों के कार्यकलापों का, कारनामों का अन्तरंग।

इसमें प्रयुक्त भाषा दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेजी भाषा है, सरकारी तंत्र की है, गैर साहित्यिक अफसरों की है, उन्होंने भारत को जैसा जाना और समझा वैसा उसका निरूपण करनेवाली है। और धर्मपालजी की स्वयं की भाषा भी उससे पर्याप्त मात्रा में प्रभावित है।

फलत: पढ़ते समय कहीं कहीं अनावश्यक रूप से लम्बी खींचनेवाली शैली का अनुभव आता है तो आश्चर्य नहीं।

और एक बात।

अंग्रेजो ने भारत के विषय में जो लिखा वह हमारे मन मस्तिष्क पर इस प्रकार छा गया है कि उससे अलग अथवा उससे विपरीत कुछ भी लिखे जाने पर कोई उसे मानेगा ही नहीं यह भी सम्भव है। इसलिए यहाँ छोटी से छोटी बात का भी पूरा पूरा प्रमाण देने का प्रयास किया गया है। साथ ही इतिहास लेखन का तो यह सूत्र ही है कि नामूलं लिख्यते किञ्चित् - बिना प्रमाण तो कुछ भी लिखा ही नहीं जाता। परिणामतः यहाँ शैली आज की भाषा में कहा जाए तो सरकारी छापवाली और पांडित्यपूर्ण है, शोध करनेवाले अध्येता की है।

प्रमाणों के विषयमें तो आज भी स्थिति यह है कि इसमें ब्रिटिशरों के स्वयं के द्वारा दिये गये प्रमाण हैं इसलिये पाठकों को मानना ही पडेगा इस विषय में हम आश्वस्त रह सकते हैं। (आज भी उसका तो इलाज करना जरूरी है।)

साथ ही, पाठकों का एक वर्ग ऐसा है जो भारत के विषय में भावात्मक, या भक्तिभाव पूर्ण बातें पढ़ने का आदी है, अथवा वैश्विक परिप्रेक्ष्य में लिखा गया, अर्थात् अमेरिका के दृष्टिकोण से लिखा गया विचार पढ़ने का आदी है। इस परिप्रेक्ष्य में विषय सम्बन्धी पारदर्शी, ठोस, तर्कनिष्ठ प्रस्तुति हमें इस ग्रंथवाली में प्राप्त है। अनेक विषयों

में अनेक प्रकार से हमें बुद्धिनिष्ठ होने की आवश्यकता है इसकी प्रतीति भी हमें इसमें होती है।

७.

अनुवादकों तथा जिन जिन लोगों ने ये पुस्तकें मूल अंग्रेजी में पढ़ी हैं अथवा अनुवाद के विषय में जाना है उन सभी का सामान्य प्रतिभाव है कि इस काम में बहुत विलम्ब हुआ है। यह बहुत पहले होना चाहिये था। अर्थात् सभी को यह कार्य अतिमहत्त्वपूर्ण लगा है। सभी पाठकों को भी ऐसा ही लगेगा ऐसा विश्वास है।

अनुवाद का यह कार्य चुनौतीपूर्ण है। एक तो दो सौ वर्ष पूर्व की अंग्रेज अधिकारियों की भाषा; फिर भारतीय परिवेश और परिप्रेक्ष्य को अंग्रेजीं में उतारने और अपने तरीके से कहने के आयास को व्यक्त करने वाली भाषा और उसके ही रंग में रंगी श्री धर्मपालजी की भी कुछ जटिल शैली पाठक और अनुवादक दोनों की परीक्षा लेनेवाली है।

साथ ही यह भी सच है कि यह उपन्यास नहीं है, गम्भीर वाचन है।

संक्षेप में कहा जाय तो यह १८ वीं और १९ वीं शताब्दी का दो सौ वर्ष का भारत का केवल राजकीय नहीं अपितु सांस्कृतिक इतिहास है।

८.

इस ग्रंथावलि के गुजराती अनुवाद कार्य के श्री धर्मपालजी साक्षी रहे। उसका हिन्दी अनुवाद चल रहा था तब वे समय समय पर पृच्छा करते रहे। परन्तु अचानक ही दि. २४ अक्टूबर २००६ को उनका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व तो उनके साथ बात हुई थी। आज हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन के अवसर पर वे अपने बीच में विद्यमान नहीं हैं। उनकी स्मृति को अभिवादन करके ही यह कार्य सम्पन्न हो रहा है।

९.

इस ग्रंथावलि के प्रकाशन में अनेकानेक व्यक्तियों का सहयोग एवं प्रेरणा रहे हैं। उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारा सुखद कर्तव्य है।

अनेकानेक कार्यकर्ता एवं विशेष रूप से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सहसरकार्यवाह माननीय सुरेशजी सोनी की प्रेरणा, मार्गदर्शन, आग्रह एवं सहयोग के कारण से ही इस ग्रंथावलि का प्रकाशन सम्भव हुआ है। अत: प्रथमत: हम उनके आभारी हैं।

सभी अनुवादकों ने अपने अपने कार्यक्षेत्र में अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी समय सीमा में अनुवाद कार्य पूर्ण किया तभी समय से प्रकाशन सम्भव हो पाया। उनके परिश्रम के लिये हम उनके आभारी हैं।

यह ग्रंथावलि गुजरात में प्रकाशित हो रही है। इसकी भाषा हिन्दी है। हिन्दी भाषी लोगों पर भी गुजराती का प्रभाव होना स्वाभाविक है। इसका परिष्कार करने के लिये हमें हिन्दीभाषी क्षेत्र के व्यक्तियों की आवश्यकता थी। जोधपुर के श्री भूपालजी और इन्दौर के श्री अरविंद जावडेकरजी ने इन पुस्तकों को साद्यन्त पढ़कर परिष्कार किया इसलिये हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

अच्छे मुद्रण के लिये साधना मुद्रणालय ट्रस्ट के श्री भरतभाई पटेल और श्री धर्मेश पटेल ने भी जो परिश्रम किया है इसके लिये हम उनके आभारी हैं।

'पुनरुत्थान' के सभी कार्यकर्ता तो तनमन से इसमें लगे ही हैं। इन सभी के सहयोग से ही इस ग्रन्थावलि का प्रकाशन हो रहा है।

१०.

सुधी पाठक देश की वर्तमान समस्याओं के निराकरण की दिशा में विचार विमर्श करते समय, नई पीढ़ी को इस देश के इतिहास में अंग्रेजों की भूमिका का सही आकलन करना सिखाते समय इस ग्रंथावलि की सामग्री का उपयोग कर सकेंगे तो हमारा यह प्रयास सार्थक होगा।

साथ ही निवेदन है कि इस ग्रंथावलि में अनुवाद या मुद्रण के दोषों की ओर हमारा ध्यान अवश्य आकर्षित करें। हम उनके बहुत आभारी होंगे।

इति शुभम् ।

सम्पादक

वसन्त पंचमी
युगाब्द ५१०८
२३, जनवरी २००७

विभाग १

अंग्रेजों से पहले का भारत

१. उधार की आंखों से देखना समझना

२. अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी

३. तो तस्वीर इतनी उल्टी क्यों दिखती है

४. लूट के लिये बिगाडी गई व्यवस्था

५. बेगारी करवा के सभ्य समाज को तोडा

६. पराए ढांचे से नहीं जुडते अपने लोग

७. दुनिया को अपनी नजर से देखना

१. उधार की आंखों से देखना समझना

राजस्थान पंचायतों का अध्ययन करते हुए १९६१में मुझे अपने गाँववालों के बारे में एक बिल्कुल दूसरी समझ हासिल हुई। सवाई माधोपुर जिले के एक गांव में हमें पता चला कि वहां सिंचाई के कुछ जलाशय हैं। चूंकि पंचायत के दस्तावेजों में उनका कोई जिक्र नहीं था इसलिए मैंने वहां के लोगों से पूछा कि इनमें क्या कभी कोई परिवर्तन हुआ है। मैंने पूछा कि कौन उनकी मरम्मत करता है तो जवाब मिला हम। मैंने पूछा 'हम'से क्या मतलब है ? पंचायत से ? उन्होंने बताया कि इसका मतलब पंचायत से नहीं, उन लोगों से है जिनके खेतों को इससे पानी मिलता है।

उन्होंने यह भी बताया कि किस तरह इन जलाशयों की मरम्मत के लिए श्रम और दूसरे साधन एकत्र किए जाते हैं। जब मैंने पूछा कि पंचायत उनकी मरम्मत क्यों नहीं करती तो उन्होनें बताया कि यह पंचायत का काम नहीं है। मेरे पूछने पर, कि फिर पंचायत का क्या काम है उन्होंने जवाब दिया कि उसका काम विकास करना है और विकास का मतलब होता है वे कार्यक्रम जिन्हें सरकार उनके लिए तय करे। उनकी समज से उन जलाशयों की मरम्मत विकास के किसी कार्यक्रम में नहीं आती। इसलिए उन्होंने मान लिया कि यह काम एसा है जिसे उन्हें खुद करना है। ठीक उसी प्रकार जैसे कि सैकडों सालों से वे करते चले आ रहे हैं। इस गाँव को देखने के लिए हम पूरे दल के साथ वहां गए थे जिसमें योजना आयोग के पूर्व सदस्य, एक युवा आई.ए.एस. अफसर और उस इलाके के बी.डी.ओ. महोदय भी थे।

उसी शाम हमने इस गांव व शहरपंचायत का दौरा भी किया। इस पंचायत ने कुछ ही महीने पहले एक विशाल पंचायतघर बनावाया था जिसमें हम उस समय बैठे हुए थे। पंचायत के दस्तावेजों को पलटते हुए मैंने उनसे पूछा कि कागजों में कहीं उस पंचायत घर को बनाने के फैसले दर्ज नहीं हैं, लेकिन बनाने के लिए इकटठे किए गए पैसे का हिसाब जरूर दर्ज है। मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने यह फैसला कब और क्यों लिया था। उन्होंने बताया कि एक और पंचायत है जिसमें गाँव के सभी वर्गों के लोगों का प्रतिनिधित्व है और उसे 'बीस बिस्वा' पंचायत कहते हैं। इस पंचायत घर को बनाने का

फैसला कानून द्वारा बनाइ गई पंचायत में क्यों नहीं लिया गया। मुझे याद आता है कि उन्होंने कानूनपंचायत की जगह सरकारी पंचायत शब्द कहा था और बताया था कि पंचायतघर बनाने का फैसला लेने की जगह वह नहीं है। फिर भी मैंने पूछा कि ऐसा ही कोई फैसला उन्हें दुबारा लेने की जरूरत पडी तो वे क्या करेंगे ? उन्होंने दो टूक जवाब दिया कि यह फैसला कानूनी पंचायत के बजाय अपनी 'बीस बिस्वा' पंचायत में ही लेंगे।

कुछ महीनों बाद इसी तरह की बातें मैंने आंध्र प्रदेश के गाँव में सुनीं। उसके बाद १९६२ के दौरान मैं जगन्नाथपुरी में था और पुरी जिला परिषद के अध्यक्ष से मिलने गया। उन्होंने मुझे नई पंचायतों की कमियां बताईं। उनके अधिकारों और साधनों की कमी का जिक्र किया। और जैसा कि एसे मौकों पर सुनने को मिलता है, पंचायतों को लेकर उन्हें अनेकों तरह की शिकायतें थीं। मैंने उनकी ज्यादातर बातों से सहमति जताते हुए पूछा कि पहले के समय में पंचायतों की क्या हालत थी? तब उन्होंने बताया कि पुरी के आसपास ही कोई ५२ शासन गांव थे, जहां जमीन में सभी प्रकार का साझा स्वामित्व था। यह व्यवस्था सदियों से चली आई थी लेकिन जब १९३७ में हमने खेतिहर को जमीन देने के राष्ट्रीय कार्यक्रम पर अमल करना शुरू किया तो यह व्यवस्था समाप्त कर दी गई।

मेरे आग्रह पर उन्होंने ऐसा एक गांव देखने की व्यवस्था कर दी। उस गांव की यात्रा के बाद मेरी राय बनी कि जहाँ तक सुन्दरता का, गाँव की योजना का, खेती और नारियल या दूसरे पेडों को लगाने तथा दूसरी सामाजिक सुविधाओं का सवाल था, इस गांव की तुलना इजराइली किबुत्जिम या इंग्लैंड या यूरोप के किसी दूसरे देश के गांव से की जा सकती है। मुझे बताया गया कि गांव था तो मुझे शंका हुई कि शायद वह कोई विशेष गांव रहा हो। लेकिन उन्होनें भरोसा दिलवाया कि ५२ शासन गांवो में से कई गांवों में दूसरी जातियों के लोग रहेते हैं और कई गांव तो मछुआरों के हैं मगर सब की योजना और व्यवस्था एक जैसी ही है।

१९६२ के बाद मुझे ऐसे गांवो की झलक दक्षिण के बहुत से इलाकों में मिलने लगी, खास तौर पर तमिलनाडु के इलाकों मे, जहां मैं अक्सर जाता रहा। १९६४ में मुझे तंजावुर में बताया गया कि १९३७ तक वहां ऐसे सौ गांव थे जिन्हें समुदाय गांव कहा जाता था। इन्हें भी कानून के जरिये खेतिहरों को जमीन देनेवाले राष्ट्रीय कार्यक्रम पर अमल करते हुए भंग कर दिया गया। यह भी पता लगा कि समुदायम व्यवस्था वाले तंजावुर के इन गांवों के बारे में आचार्य विनोबा भावे को भी बतलाया गया था जब वे

१९५६-५७ में वहाँ आये थे। लेकिन इस जानकारी का उन पर कोई असर पडा दिखाई नहीं दिया। बाद में मैंने अपने एक सर्वोदय के मित्र से इस बात का जिक्र किया तो पलट कर उन्होंने पूछा कि मैं विनाबा से कैसी प्रतिक्रिया की आशा कर रहा हूँ? मैंने कहा कि मैं विनोबाजी से समुदाय गांवों पर कोई शोध करने की आशा तो नहीं करता लेकिन अगर उन्होंने महसूस किया होता कि उनकी ग्रामदान की अवधारणा इन समुदाय गांवों के विचार के जरिए मनोवैज्ञानिक और एतिहासिक स्तर पर अपने समाज से जुड सकती है तो इसे वे अपने अनुयायियों को जरूर बताते और उनमें से कई उनके इस विचार की सार्थकता सिद्ध या असिद्ध करने में उनकी मदद कर सकते थे।

इस ब्यौरे का, कि मैं महालेखागार में रखी हुई सामग्री के प्रति कैसे आकर्षित हुआ, एक मनोरंजक किस्सा गांव पंचायत की कानूनी तौर पर एक निश्चित अवधि के बाद अनिवार्य रूप से होने वाली बैठकों को लेकर है। तमिलनाडु की पंचायतों के अध्ययन के आरम्भिक दौर में १९६४-६५ के आसपास मैंने पाया कि बहुत सारी पंचायतों की बैठकें इसलिए नहीं हो पाती कि इन बैठकों के लिए कोई इमारत नहीं है। इसलिए कानूनी अनिवार्यता की खानापूरी के लिए प्रस्तावों को सब सदस्यों के घर भेजकर दस्तखत करवा लिए जाते हैं। मुझे लगा कि दलबंदी के कारण पंचायत के सदस्य किसी एक सदस्य या अध्यक्ष के यहां बैठक करने के लिए सहमत नहीं होते होंगे। इसलिए मैंने पूछा कि पंचायत की बैठकें स्कूल में क्यों नहीं होतीं? १९६४में भी तमिलनाडु के ज्यादातर गाँवों में स्कूल की छोटी या बडी कोई न कोई इमारत मौजूद थी। उन्होंने बताया कि काम के दिनों में यानी सोमवार से शनिवार तक स्कूल चलते हैं इसलिए वहां उनकी बैठक नहीं हो सकती। तो मैंने कहा कि रविवार को बैठक कर लेनी चाहिए। इस पर उन्होंने बताया कि सरकार के नियम कानूनों के अनुसार पंचायत की बैठक रविवार को नहीं की जा सकती।

एक या दो साल बाद मुझे पता लगा कि रविवार को कोई सरकारी काम न करने का कानून लगभग१८००के आसपास बना था। इससे कुछ साल पहले ब्रिटेन में ऐसा ही एक कानून बनाया गया था ताकि सबाथ का दिन यानी रविवार मनाने की कड़ाई से व्यवस्था की जा सके। ब्रिटेन में इस कानून के जरिए रविवार को किसी भी तरह का सरकारी कामकाज न किए जाने की व्यवस्था, नाटकों के मंचन को रोकने, ज्यादातर दुकानों को बंद रखने और यहां तक कि घरेलू कपडों को भी न धोने या सूखने के लिए उन्हें पिछवाड़े डालने के रिवाजों समेत आज भी लागू है और जैसा कि ज्यादातर लोग जानते हैं, आज के आधुनिक इझराइल में भी सबाथ का दिन शनिवार को मनाने के इसी

तरह के कड़े प्रावधान हैं।

इन्हीं सब बातों के कारण मेरे मन में यह बात बैठी कि हममें से अधिकांश लोगों का अपने देश की परिस्थिति से संपर्क पूरी तरह टूट चुका है। हमारे देश के लोग स्वभाव से नरम और सहिष्णु हैं और जब उन्हें खाली पेट सोना पड़ता है या बिना कपड़ों के या बिना छत के रहना पड़ता है तो भी वे हम पर पत्थर नहीं फेंकते या सोते हुए हमारी हत्या नहीं कर डालते। इसलिए हमने उन्हें मरे समान या बिल्कुल गूँगा मान लिया है और सोच लिया है कि उनके भविष्य को निर्धारित करने या अपने हिसाब से उन्हें चलाने का हमें अधिकार है। हम अपने लोगों के बारे में तो ऐसे सोचते हैं लेकिन जिन कानूनों, नियमों, प्रतिक्रियाओं और योजनाओं के जरिये हम इस देश पर शासन कर रहे हैं और जिनके जरिए हमें लगता है कि हम नए भारत का निर्माण कर लेंगे, उनके बारे में हम कुछ नहीं जानते और न हम उन्हें समझते हैं।

मद्रास में सबसे पहले सरकारी रिकार्ड पर मेरी नजर गई तो वे ज्यादातर बीसवीं सदी से सम्बन्धित थे, लेकिन उनमें से कुछ उन्नीसवीं सदी के बारे में भी थे। मद्रास अभिलेखागार के इन दस्तावेजों को देखते हुए दो बातें मेरी समझ में आईं। पहली यह कि १८०५ के आसपास तंजावुर जिले में कोई अठारह सौ गाँव ऐसे थे जिन्हें समुदायम गाँव कहा जाता था और वे इस जिले के कुल गाँवों के करीब तीस फीसदी थे। दूसरी यह कि ब्रिटिश सरकार ने बंगाल और मद्रास दोनों प्रेसीडेंसियों में कुल कृषि उपज का पचास फीसदी लगान तय किया था। यह लगान १७६० से १८२० के बीच तय हुआ था जब ब्रितानी लोग इन इलाकों पर पूरी तरह काबिज हो चुके थे। इस खबर ने खासतौर पर मुझे परेशान किया और बाद में जब उसका पूरा अर्थ मेरी समझ में आया तो मैं भौंचक्का रह गया। मैंने इस जानकारी का जिक्र अपने कुछ विद्वान दोस्तों से किया जिनमें राजनेता, योजनाविद, सरकार में ऊँचे स्थानों पर रहे लोग और भूमि तथा दूसरी ग्रामीण समस्याओं से सम्बन्ध रखने वाले कई तरह के लोग थे, जो देश की गरीबी को लेकर मेरी तरह ही चिंतित थे। लेकिन काफी समय तक उनमें से कोई इन आँकड़ों पर विश्वास नहीं कर पाया।

उनमें से एक जो कि एक जिले में कलेक्टर रह चुका था और बाद में मंत्री रहा और योजना आयोग का सदस्य भी, इस आँकडों के गलत होने के बारे में बिल्कुल निश्चिंत था। उसका मानना था कि कोई भी कृषि, सरकार द्वारा इतने बड़े पैमाने पर लगाया गया लगान बर्दाश्त नहीं कर सकती। मेरे एक दूसरे दोस्त ने, जो इतिहासकार है मगर जिसका २० वीं सदी से ताल्लुक ज्यादा है, कुछ महिने बाद मुझे बताया कि

अंग्रेजोंने कुल कृषि उपज के ५० फिसदी को लगान के तौर पर वसूला जरूर था मगर ज्यादा भारतीय यह जानते नहीं हैं और महत्त्वपूर्ण लोगों में जो अकेले व्यक्ति शायद इस तथ्य को जानते थे वे भारतीय गणराज्य के पहले प्रधानमंत्री थे। जहाँ तक समुदाय व्यवस्था वाले गाँवों का सवाल है भारतीय योजना आयोग में भूमि सुधार विभाग के एक पूर्व अध्यक्ष का कहना था कि तंजावुर जिले में ऐसे कोई गाँव नहीं हो सकते, क्यों कि भारतीय भू-कानूनों के बारे में १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए विद्वान बेवरिज ने ऐसा कुछ नहीं लिखा है।

इसी तरह की घटनाओं और अनुभवों ने मुझे इस दिशा में निरन्तर अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया और तभी मुझे पता लगा कि भारत के अभिलेखागारों में जमा सामग्री का क्या अर्थ है और वह हमारे किस उपयोग की है। अभिलेखागारों में रखी हुई सामग्री के आधार पर मैंने भारत के समाज और राज्य व्यवस्था को किस तरह समझा है इसके बारे में कुछ कहने से पहले मैं एक तो अपनी ब्रिटिश रिकार्ड पर पूरी निर्भरता के बारे में बताना चाहूँगा। यह सचमुच काफी अफसोस की बात है। लेकिन जहाँ तक मैं जानता हूँ भारतीय समाज और व्यवस्था की बुनियादी सूचनाएँ देने वाले कोई विस्तृत भारतीय रिकार्ड आझादी प्राप्त करने के आज चार दशक बाद भी उपलब्ध नहीं है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि कुछ पुरातत्त्वीय काम को छोड़ कर अपने अतीत, खासतौर पर अपने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्वरूप, विस्तार और उसके नियामक नियमों के बारे में कोई जानकारी इकट्ठी नहीं की गई।

मेरा विश्वास है कि ऐसे भारतीय रिकार्ड हैं जरूर। हो सकता है वे हर गाँव, कस्बे या जिले में अब मिलें, लेकिन इतने बड़े देश में अभी भी ऐसी दर्जनों जगहें निकल आएँगी जहाँ इस तरह के रिकार्ड मौजूद हों। इस तरह की सामग्री भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक केन्द्रों, पुरानी रियासतों या राजकीय परिवारों, पुराने सेठों और साहूकरों या जो लोग पारम्परिक रूप से पंजीयक या हिसाब किताब रखने का काम करते रहे उनके परिवारों में मिल सकती है। भारत के गांवो में भी विस्तृत रिकार्ड रखे जाते थे। इसका साक्ष्य ब्रिटिश दस्तावेजों और दूसरे स्रोतों से मिलता है।

अब तक हमारा इतिहास ज्यादातर दरबारी इतिवृत्तों और ताम्र अभिलेखों, विदेशी यात्रियों के यात्रा वृत्तांतों आदि पर आधारित रहा है। इस इतिहास लेखन के दिशा और स्वरूप, तथ्यों पर कम, विचारात्मक आग्रहों पर ज्यादा रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दी की यूरोप की इतिहासदृष्टि के अनुसार समाज के विकास में सामंतवाद एक सीढी के तौर पर जरूर होना चाहिए, इसलिए यह मान लिया गया कि भारत में भी एक

दौर जरूर होगा। यूरोपीय मान्यताओं के अनुसार समाज एक दिशा में या सर्पिल गति से बढता है इसलिए मान लिया गया कि भारत में भी ऐसा ही हुआ होगा। यानी १८३० में, जिसके बारे में कुछ प्रकाशित आंकडे मौजूद हैं, कि भारत के लोगों का जीवन स्तर एक निश्चित प्रकार का था तो उससे ६० या १०० बरस पहले जीवन स्तर इससे निम्न ही रहा होगा। इसी तरह एक डच यात्री ने जहांगीर के शासनकाल में पाया कि भारतीय भोजन उसकी रुचि या हाजमे के अनुकूल नहीं बैठ रहा तो मान लिया गया कि उस समय का भारतीय भोजन बहुत खराब और तकलीफदेह था और आम लोग भयानक हालत में रह रहे थे। इस डच यात्री की शिकायत दरअसल यह थी कि भारत में गाय के माँस पर पाबंदी लगी हुई थी। उस यात्री ने यह भी लिखा है कि भारत में आगरा जैसी जगहों में मामूली से मामूली मजदूर को भी मक्खन मिली हुई खिचडी रोज खाने को मिल जाती थी। उसके इस कथन की सुविधापूर्वक उपेक्षा की जाती है।

या जैसा कि हाल में प्रकाशित हुआ भारत का एक प्रसिद्ध आर्थिक इतिहास बताता है कि हमारे मध्यकाल में यहां राजाओं, कुलीनों और उनके आसपास रहने वाले लोगों की जिंदगी काफी तडक भडक से भरी हुई थी। इसका उदाहरण देते हुए इस प्रसिद्ध इतिहास ने १७३९ के दिल्ली के लेखक उद्रण का जिक्र किया है, जिसने लिखा है कि दिल्ली के बाजारों में इन दिनों एक कुलीन नौजवान अपनी आम जरूरतों पर एक लाख रूपये तक उडा देता था। यह बात खिल्ली उडाने के लिए कही गई है या उस समय की स्थिति बताने वाली कोई गम्भीर टिप्पणी है इसकी जांच-पडताल नहीं की गई। इस उद्धरण का उपयोग सिर्फ यह साबित करता है कि उस जमाने में यानी अंग्रेजों से पहले भारत में राजाओं-महाराजाओं और अमीर लोगों का रहनसहन बहुत खर्चीला था। इसीलिए आम लोगों की जिंदगी बहुत तकलीफ में रही होगी। या सत्रहवीं शताब्दीका एक यूरोपीय लेखक कहता है कि उस समय दिल्ली पेरिस जितनी बडी दिखती थी और पेरिस में उन दिनों पाँच लाख लोग रहते थे तो मान लिया गया कि दिल्ली में भी उतने ही रहते होंगे। अथवा सत्रहवीं शताब्दी का कोई दरबारी इतिहास कहता है कि मुगल साम्राज्य (क्षेत्रफल के हिसाब से इसका मतलब जो रहा हो) में ५० लाख की फौज थी तो यह कल्पना करके कि स्त्रियों और बच्चों समेत ३० लोगों पर एक सैनिक होता होगा, यह मान लिया गया कि उस समय देश की जनसंखया १५ करोड रही होगी।

२. अंग्रेजी बर्बरता हमारे लिए विदेशी थी

अपने अध्ययन के लिए मैंने १८वीं और १९वीं शताब्दी को ही क्यों चुना, इसका भी कारण है। मैं १८वीं शताब्दी के मध्य बिंदु को भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था की जानकारी के लिए महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। अगर हमारे पास १७०० के आसपास के रिकार्ड होते तो मैं उन्हें निश्चय ही १७५० के बाद के रिकार्ड से ज्यादा पसंद करता। क्योंकि अगर वे बाद के इन ब्रिटिश रिकार्डो जितनी तफसील देते तो इनके मुकाबले वे भारतीय जीवन की ज्यादा सच्ची तस्वीर पेश करते। मद्रास में और दूसरे अभिलेखागारों में सूरत और बंगाल जैसे इलाकों सें संबंधित ऐसी कुछ सामग्री जरूर है जो १७५० से पहले के बारे में बताती है। १६६० के मद्रास के रिकार्ड बताते हैं कि अंग्रेजों को दक्षिणवर्गीय और वामवर्गीय जातीय समूहों से कितनी दिक्कत हुई थी और उन्होंने मद्रास के अंग्रेज अधिकारियों का कितना विरोध किया था।

ऐसे भी रिकार्ड हैं जो बताते हैं कि १७५० से पहेले के समय में मद्रास में फौज और पुलिस को कृषि उपज का एक निश्चित अंश मिलता था और इसके बदले यह उनका कर्तव्य था कि वे स्थानीय गडबडी की घटनाओं और चोरी आदि के समय उनकी रक्षा करें। अगर पुलिस चोरी गए सामान को हासिल करने में नाकामियाब होती थी तो उसे चोरी गए सामान के बराबर भरपाई करनी पडती थी। लेकिन १७५० से पहले के ब्रिटिश रिकार्ड उस समय के सामाजिक और राजनैतिक ढांचे के बारे में कोई विस्तृत जानकारी नहीं देते। अलबत्ता १६२० के आसपास के हेनरी लार्ड के लिखे सूरत के बनियों ओर पारसियों से संबंधित कुछ ब्यौरे जरूर हैं या फिर पीटर डेला वेला के १७वीं शताब्दी के मध्य के ब्यौरे हैं जो दूसरी चीजों के साथ कर्नाटक के एक स्कूल और उसमें चलने वाली पढाई के बारे में जानकारी देते हैं।

१७५० के बाद अंग्रेजी रिकार्ड अपने इलाके पर अंग्रेजी प्रभुत्व से एक दो दशक पहले के समाज की तरफ इशारा जरूर करते हैं। इन ब्यौरों में जानकारी के स्वरूप, विस्तार और गुण के खयाल से भिन्नताएं होना स्वाभाविक है, और वह इस पर निर्भर करता है कि ये रिकार्ड किस इलाके के हैं और उन्हें किसने तैयार किया। लेकिन

भारतीय समाज के इस दौर को समझने के लिए, कि किस तरह उसे नष्ट किया गया, किस तरह के विचारों और ढांचे के जरिए उसे दूसरी शक्ल में ढालने की कोशिश की गई, ज्यादा उपयोगी सामग्री ब्रिटेन के अभिलेखागारों में मिलती है; क्योंकि नीतियां और यहां के लिए नया ढांचा ब्रिटेन में ही बनाया गया था। राजनैतिक, शैक्षिक और व्यापारिक स्तर पर जिस तरह के सोचविचार ने इन नीतियों को और इस पूरी रणनीति को पैदा किया वह ब्रिटेन के ही आंतरिक दस्तावेजों में मिल सकती है। मद्रास, कोलकता, बंबई, लखनऊ और दिल्ली के अभिलेखागारों में तो वे अंतिम निर्देश ही मिल सकते हैं जो अमल में लाने के लिए यहां के अंग्रेज अधिकारियों के पास पहुंचे। बहरहाल, आज जिन्हें हम भारतीय अभिलेखागार कहते हैं उनमें ले देकर अंग्रेजी रिकार्ड ही हैं या बहुत मामूली संख्या में वे दस्तावेज हैं जिन्हे अंग्रेजों ने पुराने भारतीय स्रोतों से इकट्ठा किया था या उनकी नकल करवाई थी।

अंग्रेजों से पहले के भारतीय समाज को समझने के लिए मुझे १७४० से १८३० के बीच के ब्रिटेन के अंदरूनी दस्तावेज ज्यादा उपयोगी दिखाई देते हैं।

आमतौर पर ऐसा मान लिया गया है और इसमें पश्चिम के उदारवादियों की काफी भूमिका रही है कि पश्चिमी देशों ने, खासतौर पर अंग्रेजोंने दुनिया भर में तो बर्बरता दिखाई मगर अपने यहां उन्होंने लोकतांत्रिक और उदारवादी रुख अपनाया था। यह मान्यता सच्चाई से कोसों दूर है। भारत में अंग्रेजों ने जो किया, वह ईंग्लैंड में ११वीं शताब्दी में हुइ नार्मन विजय के बाद से जो कुछ किया गया और जो १८०० के बाद तक जारी रहा, उससे बहुत भिन्न नहीं था। १६वीं, १७वीं और १८वीं शताब्दी में उत्तरी अमेरिका में वह दोहराया गया। ब्रिटिश सत्ता के उत्तराधिकारी अमरीकियों ने १८वीं, १९ वीं शताब्दी में अपने तेजी से फैले साम्राज्य में भी यही किया। भारत में फिर उनके द्वारा किया गया विनाश, दमन और उनकी पैदा की हुई अव्यवस्था इन इलाकों के मुकाबले हल्की लगती है। इसकी वजह चाहे देश का बहुत विशाल होना रहा हो, जनसंख्या की सघनता रही हो या यूरोपीय लोगों के प्रतिकूल साबित होने वाली यहां की जलवायु रही हो।

ब्रिटेन में १८१८ तक करीब दो सौ छोटे बडे अपराधों के लिए, जिनमें पांच शिलिंग से उपर की चोरी भी शामिल है, मृत्युदंड देना कानून सम्मत था। इसी तरह १८३० तक किसी गंभीर समझे गए अपराध के लिए किसी अंग्रेज सैनिक को खास तरह के कोडों से चार पांच सौ कोडे लगाना आम बात थी। भारत में अंग्रेजों द्वारा मृत्युदंड देने, कोडे लगाने या दूसरी सजाएं दिए जाने की संख्या बडी हो सकती है, लेकिन कडाई

३. तो आज तस्वीर इतनी उल्टी क्यों दिखती है?

१७वीं और १८वीं शताब्दी के अंग्रेजी दस्तावेजों में भारत के विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बारे में जानकारी मिलती है। इसका कुछ श्रेय तो १९२० और १९३० के बीच किए गये काम को है और कुछ विद्वानों द्वारा किये गये ताजा शोध को। इन क्षेत्रों में अब काफी जानकारी हासिल हो गई है। हमें प्राचीन काल में भारत में लोहे और इस्पात के उत्पादन, उसकी श्रेष्ठता और विश्व प्रसिद्धि के बारे में काफी मालूम है। जैसा कि हाल के शोधों से पता लगा है भारत में लोहे का उत्पादन उत्तर प्रदेश के अतिरंजन खेडा जैसे स्थानों पर कम से कम बारहवीं शताब्दी से हो रहा है। लेकिन जिस बात के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है, वह यह कि १८०० के आसपास भी देश में यह उद्योग काफी बडे क्षेत्र में खूब फल फूल रहा था और उत्पादन की तकनीक के मामले में बहुत उन्नत अवस्था में था। एक मोटे अनुमान के अनुसार १८०० से आसपास देशमें ऐसी कोई दस हजार भट्ठियां थी जहां लोहे और इस्पात का उत्पादन होता था और एक साल में ३५ से ४० सप्ताह काम कर बीस टन श्रेष्ठ इस्पात एक भट्ठी में पैदा किया जा सकता था। ये भट्ठियां काफी हल्की होती थीं और उन्हें बैलगाडी में लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था।

बहुत से लोगों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि १८वीं शताब्दी में भारत में कृत्रिम तरीके से पानी को ठंडा करके बर्फ बनाई जाती थी। ऐसा हिमालय जैसे ठंडे इलाकों में नहीं बल्कि इलाहाबाद जैसे गरम मौसम वाले इलाकों में होता था। १८वीं शताब्दी में चेचक के टीके लगाने और प्लास्टिक सर्जरी की प्रथा के सुश्रुत और चरक के सैकडों साल बाद भी व्यवहार में होने की खबरें भी बहुतेरे लोगों को चकित कर सकती हैं। इनकी तरफ अंग्रेज अधिकारियों का ध्यान सब से पहले पुणे में गया था। इसी तरह का आश्चर्य उस समय की भारतीय कृषि की प्रौद्योगिकी तथा खेती के उन्नत औजारों और उँची उत्पादकता के बारे में जानकर हो सकता है। सन् १८०० से पहले के एक अंग्रेज कलेक्टर ने खेती के औजार, जिनमें बरमे वाला हल शामिल था, मद्रास प्रेसीडेंसी के जिलों से ब्रिटेन भेजे थे ताकि वहां के खेती के औजारों में कुछ सुधार किए जा सकें।

इन आंकडों से उस समय की जो तस्वीर बनती है उसका आधार कोई जीवनहीन परम्पराएं या यांत्रिक जीवनशैली नहीं हो सकती। चीजों के प्रति लोगों में एक गहरा दृष्टिकोण जडें जमाए हुए था और जब भी इस पर चोट होती थी, लोग विभिन्न तरीकों से अपना विरोध प्रकट करते थे। इन तरीकों में धरना, त्रागा, किसान आंदोलन और आज जिसे हम नागरिक अवज्ञा आंदोलन कहते हैं, सभी दिखाई देते हैं। अंग्रेज अधिकारियों द्वारा १८१०-११ में लगाए गए आवास कर के खिलाफ चले लंबे आंदोलन का केन्द्र वाराणसी शहर था। उस समय के सरकारी दस्तावेजों के अनुसार इस आंदोलन के कारण पूरे शहर का कामधाम कई दिन तक ठप्प रहा था और मुर्दों तक को बिना अन्तिम संस्कार किए गंगा में प्रवाहित करना पडा था। बनारस के कलेक्टर के अनुसार कोई २० हजार लोग लगातार धरने पर बैठे रहे, जबकि एक दूसरे अनुमान के अनुसार सिकरोल और शहर के बीच कोई दो लाख लोग इकट्ठे हुए थे। उस जमाने में कन्नड, मालाबार और महाराष्ट्र के इलाकों में हुए आंदोलन के आंकडे तो काफी उँचे हैं।

नमक कर के खिलाफ शुरू के आंदोलनों में सबसे पहला जिक्र सूरत के १८४० के आंदोलन का मिलता है। एक अनोखा उदाहरण तमिलनाडु के नागौर और नागपत्तम इलाकों के लोगों का है जो १८०० से पहले का है। इन लोगों का मानना था कि भूमि के मामले में उनके साथ अन्याय किया गया है। इसलिए वे मन्दिर के स्तूप पर चढ गए और वहां से कूद कर आत्महत्या करने की धमकी दी। जब उन्हें भरोसा दिलाया गया कि उनके साथ किये गये अन्याय की सुनवाई होगी तो वे नीचे उतरने को राजी हुए। अलबत्ता, नए अंग्रेज कलेक्टर को यह हल रास नहीं आया था।

जब लोगों को लगता था कि राज्य के अधिकारियों के किसी कार्य से उनके साथ अन्याय हुआ है तो वे धरना या त्रागा जैसे कदम उठाने को मजबूर होते थे और इसे एक उचित राजनैतिक कार्यवाही माना जाता था व उनकी शिकायत सुनी जाती थी। लेकिन इस तरह का विरोध प्रदर्शन करने के कम ही मौके आते थे। ऐसा लगता है कि राजनीतिक व्यवस्था में लोगों और राज्य अधिकारियों के बीच गरिमापूर्ण संवाद बनाये रखने की गुंजाइश थी और उसका आधार पुरानी परम्पराएं थीं जो अंग्रेजी आधिपत्य के आरम्भिक दिनों में भी कुछ हद तक जीवित दिखाई देती हैं। दक्षिण भारत में राज्याधिकारियों से मिलने आने वालें ग्रामप्रधानों या साधारण किसानों तक को मानद स्वरूप कोई वस्त्र या शाल देने का रिवाज १८०० तक दिखाई देता है। जहां अंग्रेजों को यह सद्भावना प्रदर्शन सीखना बाकी था, क्योंकि उनकी राज्य सत्ता पूरी तरह कायम नहीं हुई थी, वहां गाँव के लोगोंने खुद उन्हें यह रिवाज उपनाने की सलाह दी और उसका खर्च उठाने के लिए

३. तो आज तस्वीर इतनी उल्टी क्यों दिखती है?

१७वीं और १८वीं शताब्दी के अंग्रेजी दस्तावेजों में भारत के विज्ञान और प्रौद्योगिकी के बारे में जानकारी मिलती है। इसका कुछ श्रेय तो १९२० और १९३० के बीच किए गये काम को है और कुछ विद्वानों द्वारा किये गये ताजा शोध को। इन क्षेत्रों में अब काफी जानकारी हासिल हो गई है। हमें प्राचीन काल में भारत में लोहे और इस्पात के उत्पादन, उसकी श्रेष्ठता और विश्व प्रसिद्धि के बारे में काफी मालूम है। जैसा कि हाल के शोधों से पता लगा है भारत में लोहे का उत्पादन उत्तर प्रदेश के अतिरंजन खेडा जैसे स्थानों पर कम से कम बारहवीं शताब्दी से हो रहा है। लेकिन जिस बात के बारे में ज्यादा जानकारी नहीं है, वह यह कि १८०० के आसपास भी देश में यह उद्योग काफी बडे क्षेत्र में खूब फल फूल रहा था और उत्पादन की तकनीक के मामले में बहुत उन्नत अवस्था में था। एक मोटे अनुमान के अनुसार १८०० से आसपास देशमें ऐसी कोई दस हजार भट्टियां थी जहां लोहे और इस्पात का उत्पादन होता था और एक साल में ३५ से ४० सप्ताह काम कर बीस टन श्रेष्ठ इस्पात एक भट्टी में पैदा किया जा सकता था। ये भट्टियां काफी हल्की होती थीं और उन्हें बैलगाडी में लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था।

बहुत से लोगों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि १८वीं शताब्दी में भारत में कृत्रिम तरीके से पानी को ठंडा करके बर्फ बनाई जाती थी। ऐसा हिमालय जैसे ठंडे इलाकों में नहीं बल्कि इलाहाबाद जैसे गरम मौसम वाले इलाकों में होता था। १८वीं शताब्दी में चेचक के टीके लगाने और प्लास्टिक सर्जरी की प्रथा के सुश्रुत और चरक के सैकडों साल वाद भी व्यवहार में होने की खबरें भी बहुतेरे लोगों को चकित कर सकती हैं। इनकी तरफ अंग्रेज अधिकारियों का ध्यान सब से पहले पुणे में गया था। इसी तरह का आश्चर्य उस समय की भारतीय कृषि की प्रौद्योगिकी तथा खेती के उन्नत औजारों और उँची उत्पादकता के बारे में जानकर हो सकता है। सन् १८०० से पहले के एक अंग्रेज कलेक्टर ने खेती के औजार, जिनमें बरमे वाला हल शामिल था, मद्रास प्रेसीडेंसी के जिलों से ब्रिटेन भेजे थे ताकि वहां के खेती के औजारों में कुछ सुधार किए जा सकें।

इन आंकडों से उस समय की जो तस्वीर बनती है उसका आधार कोई जीवनहीन परम्पराएं या यांत्रिक जीवनशैली नहीं हो सकती। चीजों के प्रति लोगों में एक गहरा दृष्टिकोण जडें जमाए हुए था और जब भी इस पर चोट होती थी, लोग विभिन्न तरीकों से अपना विरोध प्रकट करते थे। इन तरीकों में धरना, त्रागा, किसान आंदोलन और आज जिसे हम नागरिक अवज्ञा आंदोलन कहते हैं, सभी दिखाई देते हैं। अंग्रेज अधिकारियों द्वारा १८१०-११ में लगाए गए आवास कर के खिलाफ चले लंबे आंदोलन का केन्द्र वाराणसी शहर था। उस समय के सरकारी दस्तावेजों के अनुसार इस आंदोलन के कारण पूरे शहर का कामधाम कई दिन तक ठप्प रहा था और मुर्दो तक को बिना अन्तिम संस्कार किए गंगा में प्रवाहित करना पडा था। बनारस के कलेक्टर के अनुसार कोई २० हजार लोग लगातार धरने पर बैठे रहे, जबकि एक दूसरे अनुमान के अनुसार सिकरोल और शहर के बीच कोई दो लाख लोग इकट्ठे हुए थे। उस जमाने में कन्नड, मालाबार और महाराष्ट्र के इलाकों में हुए आंदोलन के आंकडे तो काफी उँचे हैं।

नमक कर के खिलाफ शुरू के आंदोलनों में सबसे पहला जिक्र सूरत के १८४० के आंदोलन का मिलता है। एक अनोखा उदाहरण तमिलनाडु के नागौर और नागपत्तम इलाकों के लोगों का है जो १८०० से पहले का है। इन लोगों का मानना था कि भूमि के मामले में उनके साथ अन्याय किया गया है। इसलिए वे मन्दिर के स्तूप पर चढ गए और वहां से कूद कर आत्महत्या करने की धमकी दी। जब उन्हें भरोसा दिलाया गया कि उनके साथ किये गये अन्याय की सुनवाई होगी तो वे नीचे उतरने को राजी हुए। अलबत्ता, नए अंग्रेज कलेक्टर को यह हल रास नहीं आया था।

जब लोगों को लगता था कि राज्य के अधिकारियों के किसी कार्य से उनके साथ अन्याय हुआ है तो वे धरना या त्रागा जैसे कदम उठाने को मजबूर होते थे और इसे एक उचित राजनैतिक कार्यवाही माना जाता था व उनकी शिकायत सुनी जाती थी। लेकिन इस तरह का विरोध प्रदर्शन करने के कम ही मौके आते थे। ऐसा लगता है कि राजनीतिक व्यवस्था में लोगों और राज्य अधिकारियों के बीच गरिमापूर्ण संवाद बनाये रखने की गुंजाइश थी और उसका आधार पुरानी परम्पराएं थीं जो अंग्रेजी आधिपत्य के आरम्भिक दिनों में भी कुछ हद तक जीवित दिखाई देती हैं। दक्षिण भारत में राज्याधिकारियों से मिलने आने वालें ग्रामप्रधानों या साधारण किसानों तक को मानद स्वरूप कोई वस्त्र या शाल देने का रिवाज १८०० तक दिखाई देता है। जहां अंग्रेजों को यह सद्भावना प्रदर्शन सीखना बाकी था, क्योंकि उनकी राज्य सत्ता पूरी तरह कायम नहीं हुई थी, वहां गाँव के लोगोंने खुद उन्हें यह रिवाज उपनाने की सलाह दी और उसका खर्च उठाने के लिए

स्वेच्छापूर्वक तैयारी दिखाई, जैसा कि १७८२में बडामहल इलाके में दिखाई देता है। रामनद जिले की १७९६ की एक दूसरी रपट के अनुसार जो लोग अंग्रेजी कचहरी में अपने अच्छे आचरण के शपथ पत्र दाखिल करने आते थे वे भी यह उम्मीद करते थे कि राज्याधिकारियों की तरफ से उन्हें पान भेंट किया जाएगा।

मैंने कहा था कि सिर्फ दो शताब्दी पहले भारत के अधिकांश हिस्सों में सुचारु रूप से चलने वाला क्रियाशील समाज दिखाई देता है। ऐसा नहीं है कि उसकी अपनी कोई समस्याएं नहीं हैं, कि उसे आतंरिक युद्ध नहीं भुगतने पडते थे, कि उसमें कोई सामाजिक और राजनैतिक उपद्रवकारी घटनाएं नहीं होती थीं। एक हद तक वह भी समय समय पर अस्त व्यस्त होता रहता था। एक राज्य दूसरे राज्य पर आक्रमण करता था और देश के अनेक हिस्से लंबी अवधियों तक ऐसे हमलावरों और दुस्साहसी लोगों के आधिपत्य में आ जाते थे जिनका मुख उद्देश्य लूटपाट होता था और वे विजित इलाकों के लोगों की मान्यताओं को जानते मानते नहीं थे। जब भी इस तरह के अतिक्रमण हुए, उन्होंने राज्य व्यवस्था और समाज के बीच खाई पैदा की और इस तरह के बाहरी शासनों के लंबे दौर का असर और भी ज्यादा बडे इलाके पर पडा। जो इलाके इस तरह के विदेशी शासन के सीधे असर में ज्यादा समय तक नहीं रहे वहाँ के लोग भी सुरक्षात्मक होने को मजबूर हो जाते थे। उनकी इस सुरक्षात्मकता के कारण राज्य की शैली में जो परिवर्तन जरूरी थे हो जाते थे। उसके कारण स्थानीय समाज और राज्य व्यवस्था के बीच कुछ खट्टे रिश्ते बनने लगना स्वाभावकि था।

विजयनगर राज्य शृंगेरी के शंकर मठ के महान आचार्यों के समर्थन और आशीर्वाद से बना था, यह सब लोग जानते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि उसे पडोस के उन छोटे राज्यों का भी सहयोग और समर्थन मिला होगा जो दक्षिणी भारत में बाहर के आक्रमणों को रोकने का उपाय ढूंढ रहे थे। इस विजयनगर राज्य ने भी अपना राजस्व बारहवें भाग से बढाकर छठा भाग और फिर चौथा भाग कर दिया था जिसकी धर्मशास्त्रों में बहुत बडे संकट के समय ही इजाजत दी गई है। उसके इस कदम से उन तनावों को समझा जा सकता है जो इस तरह के सुरक्षात्मक राज्य की नीतियों के कारण पैदा हो रहे थे और जिनसे लोगों पर अनुचित दबाब बढ रहा था।

दूसरा उदाहरण १८वीं शताब्दी में देश के काफी हिस्सों तक फैलते गए मराठाओं का लिया जा सकता है। उन्होंने भारत के दूसरे शासकों को अपने अधीन किया और इसके प्रतीक स्वरूप उनसे चौथ वसूल करना शुरू कर दिया। कई राज्यों ने, खासतौर पर राजस्थान के पुराने राज्यों ने इसका विरोध किया। मराठों की अधीनता न मानने के ऐसे ही अवसरों पर वे लूटपाट और दमन पर उतरे होंगे। अगर यह मान लिया जाए कि मराठे

भारत को आजाद करवाने की कोशिश कर रहे थे और वे इसे पुरानी भारतीय राज व्यवस्था में लौटा लाना चाहते थे और उन्होंने जो कुछ किया वह इसी उद्देश्य के लिए किया, तो उनके ये कृत्य क्षम्य माने जा सकते हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि इस तरह के उद्देश्य के बावजूद उन्होंने मुगलों के तौरतरीकों को अपनाना शुरू कर दिया था, और वे अपने को सुसंगठित भी नहीं रख पाए।

बहरहाल, अस्तव्यवस्तता के इन दौरों के बाबजूद भारत का समाज और उसकी राज्य व्यवस्था १७५० तक, और कई इलाकों में तो १८०० तक सुचारु रूप से क्रियाशील दिखाई देती है। इसकी वजह चाहे यह रही हो कि भारत के अधिकांश रजवाडे अपने पुराने विचारों और मान्यताओं के कम से कम मोटे ढांचे को बरकरार रखते गये और उनमें अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक प्राथमिकताओं का अहसास कायम रहा। या फिर इसकी वजह यह रही हो कि यूरोपियों के आने से पहले जो भी विदेशी शासक यहां आए उनके पास राज्यव्यवस्था का एक ऊपरी ढांचा ही था और वह भारतीय समाज में नीचे तक गहरी जडें फैलाये राजनैतिक ढांचे की जगह नहीं ले सकता था। लोगों का, जिन्हें १८वीं और १९वीं शताब्दी में अंग्रेजों की भाषा में जनता के 'निचले वर्ग' कहा जाता था, सामान्य जीवन स्तर अच्छा और १८०० के आसपास ब्रिटेन के उन्हीं वर्गों के मुकाबले बेहतर दिखाई देता है। कृषि उपज ब्रिटेन से उँची थी और खेती के औजार तथा तरीके विविध और उन्नत थे। कपडा उद्योग ही नहीं, दूसरे धंधे जैसे लोहा और इस्पात, विभिन्न रसायन और रंगसाजी का सामान, गुड और चीनी, जहाजनिर्माण, वास्तु शिल्प, जलाशय बनाना और नदी व सडक यातायात आदि इन सब खूबियों से पूरी तरह सम्पन्न थे, जो इन क्षेत्र में दूसरे देशों में दिखाई दे सकती हैं। जैसा कि हमने अब तक के आंकडों में देखा है, समाज और राजव्यवस्था बहुत अच्छी तरह संगठित थी और उनकी विभिन्न व्यवस्थाओं का आधार, काफी उन्नत विचार थे।

यह पूछा जा सकता है कि जो बाते मैंने कही हैं वे अगर ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित हैं, तो आज हमें भारतीय समाज और राजव्यवस्था की इतनी उलटी तस्वीर क्यों दिखाई देती है? इस बीच असल में दो शताब्दियां बीत चुकी हैं जिनमें हम अपने शासक खुद नहीं रहे और हमारे राजा महाराजाओं, नवाबों, साहूकारों और गुरुओं व पंडितों समेत किसी को सामाजिक और सार्वजनिक जीवन में किसी तरह की कोई पहल हासिल नहीं रही। इस पूरे दौर में हमारे देश के अधिकांश लोगों को काफी दुःख भुगतने पडे और वे किसी तरह अपना अस्तित्व भर कायम रख पाए। इसकी झलक दादाभाई नौरोजी, रमेश दत्त की तरह के विख्यात भारतीय लेखकों और १८२४ में थामस मुनरो से ले कर जान ब्राइट, विलियम डिग्बी और कीर हार्डी तक अनगिनत अंग्रेजो से मिल सकती है।

४. लूट के लिए बिगाडी गई व्यवस्था

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की स्थिति के बारे में जो तथ्य मैंने दिये हैं उनसे क्या निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं ? अब तक या तो इस तरह के तथ्य अज्ञात थे या उनकी जानबूझकर उपेक्षा की गई थी। इसलिए थामस मुनरो या दादाभाई नौरोजी के ब्यौरों का अपनी अपनी विचारधाराओं के अनुसार अर्थ लगाया जा सकता है। वाल्तेयर या एडिनबरो के प्रो. डब्ल्यू राबर्टसन जैसे लोगों ने भारतीय सभ्यता, उसके तौरतरीकों और स्वरूप की जो तारीफ की है उसे छोड दिया जाए तो भारत के मूल्याकंन की दो मुख्य पश्चिमी दृष्टियां दिखाई पडती हैं, और दोनों ही भारत को बर्बर मानती हैं। पहली दृष्टि ईसाई धर्म संस्थाओं की है जो ब्रिटेन में विलियम विल्बरफोर्स और उनके बडे अनुयायियों द्वारा सामने रखी गई। इन लोगों के अनुसार भारत में कोई अच्छाई हो ही नहीं सकती थी, और उन्होंने मान रखा था कि भारत अंधविश्वास, अज्ञान, दुःख व बदहाली में डूबा हुआ है। इन सभी विशेषणों का उस समय ईसाइयों के लिए एक ही मतलब था कि भारत ईसाइयत से वंचित है इसलिये वह दुःख और अज्ञान में तो होगा ही। उनके लिए इससे कोई फर्क नहीं पड सकता था यदि भारत के लोग सब के सब पढे लिखे और पंडित होते और उनमें से अधिकांश वैभवपूर्ण जीवन जी रहे होते। उनका विश्वास था कि ईसाइयत के बिना इन सब चीजों का कोई मतलब नहीं है। अंग्रेज अफसरों का एक अच्छाखासा वर्ग और बहुत सारे अंग्रेज लेखक उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक और कुछ तो उससे भी काफी बाद तक इसी राय के रहे हैं।

भारतीय समाज और सभ्यता को लौकिक मानदंडों से देखने वाली दूसरी दृष्टि का प्रतिनिधित्व जेम्स मिल करते हैं। उनके अनुसार किसी सभ्यता की चरम उपलब्धि एक सफल सैनिक सभ्यता हो सकती है। इसलिए भारत की जगह उनके मूल्यांकन में काफी नीची थी। उन्होंने ब्रिटिश भारत का बहुखंडीय इतिहास लिखा है, और १८२० के बाद भारत आने वाले सभी अंग्रेज अफसरों को इसे पढना और हजम करना पडता था। इसलिए स्वाभाविक है कि मिल ने भारत के बारे में जो कहा उसका असर उनके दिमाग पर रहता हो।

जेम्स मिल के कुछ दशकों बाद कार्ल मार्क्स हुए। वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कोई प्रशंसक नहीं थे, मगर भयभीत सभ्यता को तो वे और भी कम पसंद करते थे। हममें से

बहुत से लोगों की तरह अंग्रेजी शासन द्वारा भारत पर ढाई गई मुसीबतों के खिलाफ उन्होंने अपने लेखन में काफी गुस्सा दिखाया है। एक मानवतावादी के नाते उन्हें भारत के लोगों से सहानुभूति भी रही होगी। लेकिन एक वैज्ञानिक सिद्धांतकार के तौर पर उन्हें भारत की किसी चीज में और उसके किसी काम में कोई अच्छाई दिखाई नहीं दी। वे मानते थे कि अंग्रेज शासन चाहे जितना क्रूर रहा हो लेकिन भारत में उसने जो कुछ भी किया वह जरूरी था। और वह भी पश्चिमी मजदूर वर्ग की किसी संस्था के बिना संभव नहीं था।

भारत की पराजय के कारण उसके ज्ञान और शिक्षा के स्तर पर दो बातें हुईं। पहली यह कि परंपरागत भारतीय विद्वान सामाजिक क्षेत्र से अलग थलग हो गए और नए संकटपूर्ण वातावरण में जिस हद तक संभव था उस हद तक अपने को बचाते हुए धार्मिक पुस्तकों और कर्मकांड में सीमित होते चले गए। दूसरी बात यह हुई कि १८३० के बाद अंग्रेजों ने भारत में एक नया शिक्षित वर्ग पैदा करना शुरू किया। यह वर्ग बहुत चुने हुए अंग्रेजी शैक्षिक और सांस्कृतिक साहित्य के आधार पर पनपा है। इन अभिजात शिक्षितों ने फिर निचली शिक्षित जमात खडी की और चार छह पीढियों के भीतर जो नया शिक्षित विद्वत् वर्ग उभर कर आया वह वही कुछ जानता और मानता है जो एक सीमित अंग्रेजी साहित्य के आधार पर उसे बताया गया है। यह हो सकता है कि इस शिक्षित वर्ग में कुछ प्रतिभाशाली भारतीय अपने आप को अंग्रेजों के बराबर समझने लगे और जब उन्होंने उन्हें नीचा दिखाने की कोशिश की तो वे उनके आलोचक और विरोधी हो गए। इसी संदर्भ में १८७५ में बंगाल के एक प्रमुख गवर्नर ने लिखा था, 'स्कूल और कॉलेजों में पढकर निकलने वाले लोग एक असंतुष्ट वर्ग में परिवर्तित हो रहे हैं इसमें कोई शक नहीं है। पर इसकी कुछ वजह शायद यह है कि हमारी शिक्षा विधि, प्रशासन, साहित्य जैसी दिशाओं में कुछ ज्यादा ही प्रवृत्त है जहां उन्हें यह गलतफहमी पालने का मौका मिल जाता है कि वे हमारी बराबरी कर सकते हैं। लेकिन हम उन्हें ज्यादा से ज्यादा व्यावहारिक विज्ञान की दिशा में मोडने की कोशिश करेंगे ताकि वे महसूस कर सकें कि वे हमसे कितने निम्न कोटि के हैं।'

ऐसा लगता है कि जब व्यावहारिक विज्ञान की पढाई का भी यह नतीजा नहीं निकला तो उन्हें पश्चिमी समाजविज्ञानों की सरलीकृत शिक्षा दी जाने लगी, और उसके बाद उतने ही सरलीकृत पश्चिमी दर्शन की, और उसके बाद किताबी मार्क्सवाद की, जो आज भी आधी शताब्दी के बाद हमारे पढेलिखे लोगों की सोचसमझ को प्रभावित किए हुए है।

भारत की जो तस्वीर दो सदी पहले के तथ्यों और आंकडों से उभरती है उसमें संदेह का एक दूसरा कारण हमारी 'सत्यमेव जयते' संबंधी मान्यता हो सकती है। अगर अंग्रेजों के पहले का हमारा समाज इतना अच्छा था तो वह पराजित कैसे हो गया? इस सवाल का कोई सही सही जवाब नहीं दिया जा सकता, सिवाय इसके कि सत्यमेव जयते

का कोई शाब्दिक अर्थ नहीं निकाला जाना चाहिए और उसे एक बडे परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने की कोशिश की जानी चाहिए। सबसे अच्छे तरीकों से संगठित और सबसे ताकतवर समाज भी कभी कभी दूसरों द्वारा विजित कर लिए जाते हैं। मानव इतिहास इस तरह की घटनाओं से भरा पडा है।

अब हम देख सकते हैं कि हमारे वर्तमान के लिए हमारे इस अतीत की क्या प्रासंगिकता है ? इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि गांधीजी या उनके विचारों और मान्यताओं से दूर तक सहमति रखने वाले बाबू भगवानदास जैसे लोग स्वतंत्र भारत के समाज और उसकी राज्य व्यवस्था का जो नक्शा तैयार कर रहे थे वह अपने स्वरूप और ताने बाने के लिहाज से भारत के उसी समाज और राज्य व्यवस्था जैसा था जो कि अंग्रेजों के आने के पहले भारत में मौजूद था। यह दावा किया जा सकता है कि भारत से सम्बन्धित गांधीजी की तस्वीर की बुनियाद गहरी और ज्यादा मजबूत थी। यह भी कहा जा सकता है कि १८ वीं शताब्दी के भारत का समाज और राज्य व्यवस्था का बहुत बडा हिस्सा ऐतिहासिक और आध्यात्मिक कारणों से तुलनात्मक रूप से खोखला हो चुका था और अंग्रेजों के आधिपत्य में पहुंचने तक उसके जैविक गठन और पुनर्रचना की क्षमता काफी घट चुकी थी।

कहा जा सकता है कि १८वीं शताब्दी के भारतीय समाज और उसकी राज्य व्यवस्था में जैविक बुनावट और पुनर्रचना की क्षमता बची भी होती तो वह लंबे समय तक यूरोप के दबाव और घेराबंदी के सामने टिकी नहीं रह सकती थी। जैसा कि पहले मैं कह चुका हूं सन १५००के बाद दुनिया की दूसरी अधिकांश सभ्यतायें यूरोप के सामने धराशायी होने लगी थीं। इनमें से कुछ सभ्यताएं जैसे कि अमेरिकी, सन् १५०० तक जनसंख्या के खयाल से उतनी ही बडी थीं जितनी कि यूरोप की। कुछ दूसरी सभ्यताएं, जैसे जापानी, इस यूरोपीय आक्रमण से अपने को दो तीन शताब्दियों तक काटे रखकर ही बच सकीं।

पंद्रहवीं शताब्दी के बाद हुए यूरोप के इस विस्तार का कारण न उसकी तथाकथित वैज्ञानिक जिज्ञासा थी, न पुनर्जागरण काल के दौरान पैदा हुआ तथाकथित ज्ञान और न तथाकथित लोकतांत्रिक मूल्य। १५वीं शताब्दी में या उसके तीन शताब्दी बाद तक भी यूरोप उन सभी मामलों में दूसरी सभ्यताओं से, जैसे कि चीन से, काफी पीछे था। यूरोप के इस विस्तार की कोई तुलना अगर की जा सकती है तो पैगंबर मुहम्मद की मृत्यु के बाद हुए मुस्लिम विस्तार से शायद की जा सके, या हमारे अपने इस जमाने में १९१७ की रूस की बोल्शेविक क्रांति के बाद मार्क्सवादी राज्य और उसकी मान्यताओं का जो विस्तार हुआ है उससे।

५. बेगारी करवा के सभ्य समाज को तोडा

अंग्रेज जानते थे कि भारत भूगोल और जनसंख्या के मामले में एक विशाल देश है और इसलिए यूरोपीय लोगों के भरोसे इसका पूरी तरह औपनिवेशीकरण नहीं किया जा सकता। यहां के लोगों को पूरी तरह अधीन बनाकर और श्रमिक के तौर पर इस्तेमाल करके वह इस उत्पादक क्षेत्र से कहीं बडे पैमाने पर फायदे लूट सकता है। यही वजह है कि वे इसे अधीन बनाकर यहां से ज्यादा से ज्यादा लूटकर ले जाने के लिए उत्सुक रहे। इस कोशिश में जहां जरूरत हुई वहां उन्होंने पूरी जनसंख्या को समाप्त कर दिया या अकाल, सूखा और महामारी के भयानक दौरों में निर्ममतापूर्वक उपेक्षा करके बडे पैमाने पर लोगों को मर जाने दिया। अपने इस आधिपत्य को आसान और टिकाऊ बनाने के लिए उन्होंने पुराने भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था के तानेबाने को नष्ट कर दिया और उस पर एक ऐसा ढांचा लाद दिया जिसे यहां के लोग न समझ सकते थे और न उसमें पूरी दक्षता हासिल कर सकते थे। इस नए ढांचे को अंग्रेजों ने खुद अपने यहां श्रेणियों में गहरे विभाजित तानेबाने को खडा करने के लिए काफी उपयोगी पाया था। भारत में उसका इस्तेमाल करते हुए उन्होंने इसे एक झूठा भारतीय खोल देने की कोशिश की और मिलतेजुलते भारतीय तत्त्वों से घोलकर उसे यहां औचित्य दिलवाने की कोशिश की।

अंग्रेजों द्वारा भारत के विनाश पर इकट्ठी की गई मेरी आरंभिक सामग्री को देखने के बाद एक बार जयप्रकाश नारायण ने पूछा था कि अंग्रेजों ने इस काम को अधूरा क्यों छोड दिया? उस समय मुझे इसका कोई जवाब नहीं सूझा था सिवाय यह कहने के कि शायद १८५७ तक आते आते वे अपनी इन कोशिशों से इतने पस्त हो चुके थे कि उन्होंने भारत के विनाश की नई तरकीबें ढूँढने की कोशिश छोड दी होगी। लेकिन आज मुझे समझ में आता है कि देश के विनाश के इस काम को आधे रास्ते आकर उन्होंने जानते बूझते ही छोडा था। एक बार जब उनकी समझ में यह आ गया कि यूरोपीय लोगों के जरिए भारत का पूरी तरह उपनिवेशीकरण नहीं किया जा सकता है तो उन्होनें इसे साधनों की लूट का स्थायी माध्यम बनाने की योजना बनाई और यहा से वस्तुएं और लोगो को अपने यहां के कुछ उद्योगों के इस्तेमाल के लिए ले जाते रहे।

इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये भारतीय समाज को भीतर से तोडकर खंड-

खंड कर देने की और फिर उन्हें आपस में लडाकर पूरे समाज को जड अवस्था में पहुंचा देने की जरूरत थी। आज का हर समजदार और अनुभवी प्रशासक जानता है कि किसी भी समाज को जडता की स्थिति में पहुंचा देना, जहां राज्य की किसी कार्यवाही का नतीजा अधिकांश क्षेत्रों में समाज को टिकाए भर रखना होता है, अंग्रेजों द्वारा बनाई गई राज्य व्यवस्था की खास खूबी है। १९४७ के पहले के ढांचे में समज बूझकर पैदा की गई और भी गहरी जडता के प्रमाण मिलते हैं जिन्हे अंग्रेजों के छोडे गए उन दस्तावेजों में देखा जा सकता है जो उनकी ज्यादा उपयोगी विरासत हैं। विंस्टन चर्चिल ने १९४५ में जर्मनी को पराजित करने के बाद उसे पुरानी पशुपालन वाली अवस्था में पहुंचा देने का विचार जाहिर किया था। इससे यूरोपीयों, और खासतौर पर अंग्रेजों के प्रभुवर्ग के सोचने समझने और काम करने के तरीकों की झलक हम पा सकते हैं। चर्चिल ने जर्मनी के संदर्भ में जो सुझाव दिया था वही तौरतरीफा यूरोपने १५०० के बाद अपने यहां समाज में और बाद में दुनियाभर में, जहां भी वे पहुंचे, इस्तेमाल किया।

पश्चिमी और मध्य अफ्रिका के लोगों के साथ या अमेरिकी महाद्वीप के लोगों के साथ, जिनकी संख्या १५०० ई. के आसपास नौ से बारह करोड तक बताई जाती है, क्या हुआ, यह एक भयावह कहानी है। लेकिन इन सब तौर तरीकों का भारत में इस्तेमाल किया गया था; हालांकि शायद तुलनात्मक रूप से छोटे पैमाने पर। १७६० के बाद अवज्ञाकारी भारतीय सैनिकों पर तोप के मुँह से आग के गोले दागना, अंग्रेज अफसरों को नाराज करने के अपराधी पाए गए भारतीय अफसरों को कोडे लगाना, गाँव के मुखियाओं और घरेलू नौकरों पर कोडे फटकारना और अंग्रेजी हुकूमत की मुखालफत करने वाले लोगों को कोडे मारना, दागना या फांसी पर चढाना ऐसे ही तौरतरीके थे और वे भारत को पूरी तरह अपनी अधीनता में लाने के लिए जरूरी समझे गए थे। इससे भी ज्यादा तबाही की गई बेगार को कानूनी प्रथा बनाकर। अंग्रेजों नें १७६० से लेकर १९२० तक सैनिक और नागरिक जरूरतों के लिए बडे पैमाने पर लोगों से बेगार ली।

अंग्रेज प्रशासन के एक ऊंचे अधिकारीने १८८०में बेगार का यह कहते हुए समर्थन किया था कि राज्य की भलाई के लिए लोगों को कुछ कीमत तो चुकानी पडेगी। इसके २५ साल बाद अंग्रेज कमांडर इन चीफ ने यह सिफारिश की थी कि छुट्टी पर गए सैनिकों को बेगार से मुक्त रखा जाना चाहिए। इसे रद्द करते हुए एक दूसरे ऊंचे अधिकारीने तर्क दिया था कि इन इलाकों में मंदिरों के पुजारियों तक को, जिनका सामाजिक स्तर और ज्यादा ऊंचा समझा जाता है जबरन बेगार करनी पडती है। लोगो को अपने अधीन करने से भी ज्यादा इन तरीकों की जरूरत उनमें अपनी गरिमा की भावना खत्म कर देने के लिए थी, ताकि उनमें किसी तरह की कोई पहल न रहे।

ऐसा लगता है कि काफी पुराने जमाने से, शायद रोमन काल से, यूरोप में जो लोग ताकत में रहे हैं, उनमें दुनिया को एक तरह का चिडियाघर समझने की प्रवृत्ति बन गई है। हालांकि यूरोप में सत्ता में रहे लोग अक्सर अपने शासितों पर स्नेह और दया भी दिखाते रहे हैं। मगर यह सोचना उनके लिए असंभव रहा है कि जिनको वे अपने से कमजोर मानते हैं उन्हें किसी भी तरह की स्वायत्तता देने के लिए तैयार हों। बहरहाल, इस सवाल पर दार्शनिक लोग ही कुछ ज्यादा जांचपडताल कर सकते हैं।

अंग्रेजों के शासन में आठ दस पीढियों तक भारत के लोगों को किस तरह की दुःख और मुसीबतें बर्दाश्त करनी पडीं, इनका ज्यादा ब्यौरा देने की जरूरत नहीं है। ऐसी घटनाएं अनगिनत हैं। इन घटनाओं का एक बडा असर यह हुआ है कि उसने हमारे आबादी के एक बहुत बडे हिस्से को शरीर और मन से बिल्कुल बुझा दिया है और वह एक अर्द्धचेतन अवस्था में पडा दिखाई देता है। बंगाली लोगों पर अंग्रेजी शासन के दौरान क्या बीत रही थी, इसकी एक झलक एक बंगाली स्त्री के ब्यौरे से मिलती है जो १८२८ में एक बंगाली अखबार समाचार दर्पण में छपा था। इस स्त्रीने लिखा था-

'मैं एक बुनकर हूँ। काफी दुःख सहने के बाद मैं यह चिट्ठी आपको लिख रही हूँ। कृपया इसे अपने पत्र में छाप दीजिएगा। मैंने सुना है कि अगर यह आपके यहां छप गई तो इसकी आवाज उन लोगों तक पहुंच जाएगी जो मेरी तकलीफ को कुछ कम कर सकते हैं और इस तरह मेरी इच्छा पूरी कर सकते हैं। मेहरबानी करके मुसीबत में पडी एक स्त्री की इस चिट्ठी को उपेक्षित मत कीजिएगा।

मैं बडी बदकिस्मत हूँ। अगर मैं अपनी सब तकलीफों को गिनाने लगूँ तो एक लंबी कहानी हो जाएगी। फिर भी मैं संक्षेप में कुछ कहने की कोशिश करुंगी। जब मैं २२ साल की थी और मेरी तीन लडकियां हो चुकी थीं, मैं विधवा हो गई। मेरे पति मरते समय मेरे सासससुर और तीनों बेटियों को पालने पोसने के लिए कुछ नहीं छोड गए थे। मैंने श्राद्ध करने के लिए अपने गहने बेचे। उस समय जब हम भुखमरी की हालत में थे ईश्वर ने मुझे रास्ता दिखाया और मैंने तकली और चर्खे पर कातना शुरू किया।

सबेरे मैं घर का कामकाज निपटा कर चर्खे पर कातने बैठ जाती थी और दोपहर को उठती थी। सासससुर, और बच्चों को खिलाकर और खुद खाकर मैं फिर तकली कातने बैठ जाती। इस तरह रोज एक तोला सूत कात लेती थी। बुनकर हमारे घर आकर एक रूपया प्रति तोला के हिसाब से उसे ले जाते थे। कभी मुझे अग्रिम पैसे की जरूरत पडती तो मैं उनसे माँग सकती थी। इससे हमारे भोजन और कपडे की चिंताएं मिट गईं।

कुछ सालों में मेरे पास २८ रूपये जुड गए और मैंने अपनी एक लडकी की शादी कर दी। इसी तरह मैंने अपनी तीनों लडकियों की शादी कर दी। मैंने अपनी बिरादरी की

सभी रस्में पूरी कीं। कोई मेरी लड़कियों को नीची निगाह से नहीं देखता क्योंकि मैंने अपनी जात बिरादरी के लोगों और घटक का जो भी पावना होता है वह सब उन्हें चुका दिया। जब मेरे ससुर मरे तो मैंने ४४ रूपये उनके श्राद्ध पर खर्च किए।

यह पैसा मुझे बुनकरों से कर्ज मिला था जिसे मैंने साल-डेढ साल में चुका दिया। यह सब चरखे की ही कृपा थी। अब तीन साल से मैं और मेरी सास भूखों मरने की हालत में हैं। बुनकर हमारे यहाँ कता सूत लेने नहीं आते। यही नहीं, उसे हम बाजार में बेचने जाएं तो भी वह एक चौथाई दाम पर भी नहीं बिकता। मुझे नहीं मालूम ऐसा कैसे हुआ। मैं ने बहुत से लोगों से इसके बारे में पूछा। वे कहते हैं अब बडे पैमाने पर विलायती सूत मंगाया जाने लगा है। बुनकर उसी को खरीदते हैं और उसी से बुनते हैं। मुझे यह अभिमान था कि विलायती सूत मेरे सूत से बढिया नहीं हो सकता। लेकिन जब मैंने देखा तो पाया कि वह मेरे सूत से बढिया है। मैंने सुना है कि इसकी कीमत तीन से चार रूपये सेर है। इस पर मैंने अपनी भौहें उंची कीं और कहा कि हे भगवान, मुझसे भी ज्यादा दुःखी बहनें इस दुनिया में हैं। मैं तो सोचती थी कि विलायत मैं सब अमीर लोग ही रहते हैं पर अब मुझे समझ में आता है कि वहां मेरे जैसी गरीब स्त्रियां हैं।

मै उनकी गरीबी को अच्छी तरह समझती हूँ जिसकी वजह से उन्हें कातने को मजबूर होना पडा है। उन्होंने यह सामान हमारे यहां इसीलिए बेचा है कि उनके अपने यहां इसे बेचने की गुंजाइश नहीं होगी। अगर उनके सूत के यहां अच्छे दाम मिलते तो कोई बात होती। लेकिन इसने तो हमें ही मुसीबत में और बर्बादी में डाल दिया है। हमारे यहां के लोग इसके कपडे को दो महीने भी नहीं पहन सकते। यह सड जाता है। इसीलिए मैं विलायत में इसे कातने वाले लोगों से यह आग्रह करना चाहती हूं कि वे सोचें कि उनका यह काम क्या उचित है।'

इस चिट्ठी को गांधीजी ने १९३१ में यंग इंडिया में छापा था। हो सकता है कि लंकाशायर की स्त्रियों ने १९२१ के विश्वव्यापी मंदी के दौर के बाद कुछ इसी स्त्री की तरह महसूस किया हो जब भारत में विदेशी वस्तुओं के खिलाफ आंदोलन शुरू हुआ था और असहयोग सत्याग्रह चला था। लेकिन यह सोचना शायद गलत नहीं होगा कि १९३१ में जब वे लंकाशायर गए और वहां की स्त्रियों से मिले तो उन्हें यह समझा पाये थे कि लंकाशायर ने भारतीय स्त्रियों की हालत एक सदी से भी ज्यादा समय तक उनसे भी खराब बना रखी थी।

देश के ज्यादातर लोगों की इस आर्थिक दुर्दशा का ही यह परिणाम था कि जो लोग इससे ऊपर पहुंचने में सफल हो जाते थे वे बाकी लोगों से अपने आपको अलग-थलग कर लेते थे। उनकी अपनी स्थिति कमजोर बुनियाद पर टिकी हुई थी। इसलिए वे अपने दुःख में पडे देशवासियों से कठोरता और निर्ममतापूर्वक ही व्यवहार करते थे।

६. पराए ढांचे से नहीं जुड़ते अपने लोग

अंग्रेजों के जमाने में फैली इस आर्थिक दुर्दशा से मुट्ठी भर लोग ही मुक्त हो पाये होंगे। ये लोग, जो दूसरों से थोड़े ज्यादा सुरक्षित और सुविधा सम्पन्न हैं, देश की कुल जनसंख्या के एक चौथाई से ज्यादा नहीं होंगे। इन सब ने धीरे धीरे अपने आपको अपनी सभ्यता से अलग थलग कर लिया है और वे विदेशियों की तरह ही सिविल लाईनों या सैनिक छावनियों अथवा १९४७ के बाद फले फूले महानगरों में रहने लगे हैं। उन्होंने अपनी जीवनशैली पश्चिम यूरोप के रंगढंग से ढाल ली है। कुछ तो बडे भौंड़े ढंग से पश्चिम की नकल करने लगे हैं। दूसरों में यह नकल कुछ दबी ढकी रहती है। १८३० में ही एक अंग्रेज वाइसराय बैंटिक इस बात पर बडा ख़ुश हुआ था कि बंगाल क़े अमीर हिन्दू परिवारों में ब्राह्मणों को भोजन करवाने की प्रथा घटी है, मन्दिरों को दान देने का रिवाज कम हुआ है और इस सबके बजाय वे यूरोपीय लोगों जैसे दिखाऊ और तडक भडक वाले मनोरंजन की तरफ बढ रहे हैं।

इसका एक हास्यास्पद नतीजा देश के किसी भी जिला मुख्यालय और खासतौर पर उत्तर के जिला मुख्यालय में देखा जा सकता है जहां कोई दो सौ से चार सौ सरकारी अफसर अपने परिवार सहित रहते हैं। इन लोगों का उस समाज से बहुत कम सम्पर्क दिखाई देता है या फिर वे कॉलेज के छात्रावासों में रहते दिखाई देते हैं। इन जगहों पर आधुनिक जिंदगी जीने के लिए जरूरी सांस्कृतिक और शौक्षिक तामझाम कम ही होता है। अच्छे पुस्तकालयों, थियेटर या संगीत भवनों, कलादीर्घाओं, मद्धिम रोशनी वाले महँगे रेस्तरां के बिना अपनी जिंदगी वे काफी असुविधाजनक और नीरस पाते हैं।

ये लोग अपने इलाकों में राज्य की शक्ति और वैभव का प्रतिनिधित्व जरूर करते हैं। लेकिन आजादी के बाद भी राज्य लोगों के लिए एक निराकार संज्ञा से ज्यादा महत्त्व हासिल नहीं कर पाया। वह उनमें एक तरह का डर तो जरूर पैदा करता है मगर उसका कोई गहरा और आत्मीय अर्थ आज तक नहीं निकल पाया। इन सरकारी अफसरों के प्रभुताशील वर्ग के पक्ष में यह जरूर कहा जा सकता है कि जिस तरह के गैर आरामदेह और अक्सर भद्दे आकार प्रकार वाले घरों में और जिन परिस्थितयों में वे रहते हैं या

सभी रस्में पूरी कीं। कोई मेरी लड़कियों
अपनी जात बिरादरी के लोगों और घटक
दिया। जब मेरे ससुर मरे तो मैंने ४४ रुप

यह पैसा मुझे बुनकरों से कर्ज
दिया। यह सब चरखे की ही कृपा थी।
की हालत में हैं। बुनकर हमारे यहाँ कता
में बेचने जाएं तो भी वह एक चौथाई द
कैसे हुआ। मैं ने बहुत से लोगों से इस
विलायती सूत मंगाया जाने लगा है। बुन
मुझे यह अभिमान था कि विलायती सूत
मैंने देखा तो पाया कि वह मेरे सूत से
चार रूपये सेर है। इस पर मैंने अपनी
ज्यादा दुःखी बहनें इस दुनिया में हैं। मैं
ही रहते हैं पर अब मुझे समझ में आता

मै उनकी गरीबी को अच्छी तर
मजबूर होना पडा है। उन्होंने यह साम
यहां इसे बेचने की गुंजाइश नहीं होगी।
कोई बात होती। लेकिन इसने तो हमें
यहां के लोग इसके कपडे को दो मह
इसीलिए मैं विलायत में इसे कातने वाले
कि उनका यह काम क्या उचित है।'

इस चिट्ठी को गांधीजी ने १९३१
लंकाशायर की स्त्रियों ने १९२१ के विश्व
तरह महसूस किया हो जब भारत में विदेशी
और असहयोग सत्याग्रह चला था। लेकिन
१९३१ में जब वे लंकाशायर गए और वहां क
थे कि लंकाशायर ने भारतीय स्त्रियों की हालत
भी खराब बना रखी थी।

देश के ज्यादातर लोगों की इस आर्थिक दु
लोग इससे ऊपर पहुंचने में सफल हो जाते थे वे बाव
थलग कर लेते थे। उनकी अपनी स्थिति कमजोर बुनिया
अपने दुःख में पडे देशवासियों से कठोरता और निर्ममतापूर्व

जिलाना सम्भव नहीं है। अपनी आध्यात्मिक और भौतिक दुर्दशा को देखते हुए हम गांधीजी के समय में जिस तरह का भारत खड़ा करने का सपना देख रहे थे उसे शक्ल देना तो और भी मुश्किल है। हम हमारे मन में जबरदस्ती डाली गई इस धारणा के बाद कि हम दुनिया की मेहरबानी पर जी रहे हैं, यह भी जरूरी हो जाता है कि समाज और राज्य व्यवस्था का एक ऐसा वैचारिक ढांचा खड़ा करें जिसमें दुनिया के लिए भी कुछ अनुकरणीय हो। जब तक हम ऐसा नहीं कर पाते हमें मौजूदा परिस्थितियों में ही अपनी गुंजाइश बनानी पडेगी। इसका एक तरीका तो वही है जिसे हम १९४७ के बाद से इस्तेमाल कर रहे हैं यानी पश्चिमी तौरतरीकों का अनुकरण और उसके बाद भी यह गलतफहमी पाले रहें कि एक दिन हमारा भी समय आएगा। दूसरा तरीका हाल में पहले से भी ज्यादा आत्मविश्वास और जोर के साथ की गई इन घोषणाओं में देखा जा सकता है कि सन २००१ तक हम पिछले तीन सौ साल में बनी खाई को पाटकर पश्चिम के बराबर जा पहुँचेंगे और फिर उनसे बराबरी के स्तर पर होड करने की स्थिति में होंगे।

यह दूसरी भाषा में रखा गया विकल्प उन लोगों को काफी आकर्षक दिखाई दे सकता है जो पश्चिमी विज्ञान और प्रौद्योगिकी में शिक्षित और दीक्षित हुए हैं या जो उसके ढांचे के काम को समझते हैं। लेकिन गहराई में जाकर देखें तो इस तरह का उद्देश्य शायद ही कभी पूरा हो पाता है। इतिहास में या जीवन में कोई लंबी कूद के जरिए इस तरह ध्येय नहीं छू पाया। जो लोग बेहतर भविष्य की इच्छा रखते हैं वे अपना ही रास्ता ढूँढते हैं। ऐसी परिस्थितियों में जहां किसी ताकतवर प्रतिद्वंदी से मुकाबला करना पड़ रहा हो, जैसा कि भारत को पश्चिमी सभ्यता से करना पड़ रहा है तो जरूरत अपने प्रतिद्वंद्वी से कई कदम आगे जाने की होती है, सिर्फ उसे पकड लेने और इतिहास की खाई पाट देने से काम नहीं चलता। हमारे अपने समय में गांधीजी ने बीस पचीस बरस तक ठीक यही काम किया था। अपनी सेनानायक जैसी विलक्षण प्रतिभा और देशज विचारों और संस्थाओं के जरिए उन्होंने जो सांस्थानिक स्वरूप खड़े किए, अंग्रेजों से लडाई की श्रेष्ठ तकनीकी दी और सामाजिक, आर्थिक जीवन के वैकल्पिक ढांचे दिखाए, उनके कारण कोई दो दशक तक अंग्रेजों को सुरक्षात्मक स्थिति में उतर जाना पड़ा। हो सकता है कि गांधीजी ने जो किया उसे दोहराना सम्भव न हो, या सम्भव भी हो तो उससे वर्तमान परिस्थितियों में हमें कोई मदद नहीं मिल सकती। तो भी जितनी जल्दी हम मौजूदा जड़ता और निराशा की परिस्थितियों से अपने समाज और राज्य व्यवस्था को निकाल पाएं उतना ही अच्छा होगा।

इतने महान राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वतंत्रता पाने के कोई चार दशक बाद भी

उन्हें जो भी कानूनी और गैरकानूनी पैसा मिलता है, उसे देखते हुए उनका जीवन स्पृहणीय नहीं लगता। उन थोडे से लोगों की बात जाने दें जो अपेक्षाकृत ऊँची जगह पर बैठे हैं और नीति निर्णायक हैं। ज्यादातर सरकारी अफसर परेशान और करुणाजनक स्थिति में ही दिखाई देते हैं। और किसी भी ऐसे समाज में, जो हमारी तरह दुर्दशा का शिकार और इतना अव्यवस्थित नहीं है, उनकी हालत दयनीय समझी जायगी।

अंग्रेजी राज का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि राज्य के कामकाज में लगा कोई भी आदमी अपने काम को पक्की तरह से नहीं समझता। दूसरी तरफ से उसे जो काम सौंपा जाता है उसका देश के सामान्य जीवन से या सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध जुड़ता दिखाई नहीं देता, न समाज की प्राथमिकताओं से उनका कोई लेनादेना नजर आता है। यहां तक कि इन लोगों का अपने पारिवारिक जीवन में भी अलगाव जैसा ही रहता है। ये लोग ज्यादातर एक दूसरे से कटे हुए, दो अलग अलग जीवन जी रहे हैं जो उन्हें भौंचक्का किए हुए हैं। आम धारणा यह है कि राज्य की ताकत का वे मनमाना इस्तेमाल करते हैं। यह धारणा गलत है, अगर हम कुछ व्यक्तियों की परपीड़क इच्छाओं को ही उनका आनन्द न मान बैठें।

अलबत्ता, यह सब उन दस बीस हजार परिवारों के बारे में सही नहीं है जो सरकार की नीतियाँ निर्धारित करने वाली स्थिति में हैं या सरकार के विभिन्न विभागों अथवा सरकारी निगमों को चलाते हैं। उनका भौतिक जीवन स्तर सुखसुविधा से भरा हुआ, सामाजिक प्रतिष्ठा से सम्पन्न दिखाई देता है। ये लोग अमीर देशों के अपनी हैसियत वाले लोगों जैसी ही सुविधा सम्पन्न जिंदगी बिता रहे हैं। इनमें पचास हजार से एक लाख तक वे परिवार भी जोडे जा सकते हैं, जो उद्योग या व्यापारिक घरानों के मालिक या प्रबन्धक हैं या फिर खेती, डेयरी या चाय बागानों के जरिए अमीर बन गए हैं। वकालत, डाक्टरी, शिक्षा या पत्रकारिता में बहुत ऊँची सफलता पाने वाले कुछ लोग भी इस वर्ग में रखे जा सकते हैं।

भारत के इतिहास में और उसकी परम्परा में समाज और राज्य व्यवस्था के बीच इस तरह का भेद और वैमनस्य कभी नहीं रहा। यह खाई तो विदेशी मान्यताओं और विचारों के आधार पर बनी हमारी आज की राज्य व्यवस्था ने पैदा की है। यह राज्य व्यवस्था, जिसे डेढ़ दो सौ बरस पहले अंग्रेजों ने खडा किया था, एक मरणासन्न डायनासोर की तरह विपदाकारी बनी हुई है।

यह बात समझी जा सकती है कि आज हम जिन परिस्थितियों में हैं उनमें अंग्रेजों से पहले के भारत की सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं और ढांचों को दुबारा

जिलाना सम्भव नहीं है। अपनी आध्यात्मिक और भौतिक दुर्दशा को देखते हुए हम गांधीजी के समय में जिस तरह का भारत खड़ा करने का सपना देख रहे थे उसे शक्ल देना तो और भी मुश्किल है। हम हमारे मन में जबरदस्ती डाली गई इस धारणा के बाद कि हम दुनिया की मेहरबानी पर जी रहे हैं, यह भी जरूरी हो जाता है कि समाज और राज्य व्यवस्था का एक ऐसा वैचारिक ढांचा खड़ा करें जिसमें दुनिया के लिए भी कुछ अनुकरणीय हो। जब तक हम ऐसा नहीं कर पाते हमें मौजूदा परिस्थितियों में ही अपनी गुंजाइश बनानी पडेगी। इसका एक तरीका तो वही है जिसे हम १९४७ के बाद से इस्तेमाल कर रहे हैं यानी पश्चिमी तौरतरीकों का अनुकरण और उसके बाद भी यह गलतफहमी पाले रहें कि एक दिन हमारा भी समय आएगा। दूसरा तरीका हाल में पहले से भी ज्यादा आत्मविश्वास और जोर के साथ की गई इन घोषणाओं में देखा जा सकता है कि सन २००१ तक हम पिछले तीन सौ साल में बनी खाई को पाटकर पश्चिम के बराबर जा पहुँचेंगे और फिर उनसे बराबरी के स्तर पर होड करने की स्थिति में होंगे।

यह दूसरी भाषा में रखा गया विकल्प उन लोगों को काफी आकर्षक दिखाई दे सकता है जो पश्चिमी विज्ञान और प्रौद्योगिकी में शिक्षित और दीक्षित हुए हैं या जो उसके ढांचे के काम को समझते हैं। लेकिन गहराई में जाकर देखें तो इस तरह का उद्देश्य शायद ही कभी पूरा हो पाता है। इतिहास में या जीवन में कोई लंबी कूद के जरिए इस तरह ध्येय नहीं छू पाया। जो लोग बेहतर भविष्य की इच्छा रखते हैं वे अपना ही रास्ता ढूँढते हैं। ऐसी परिस्थितियों में जहां किसी ताकतवर प्रतिद्वंदी से मुकाबला करना पड़ रहा हो, जैसा कि भारत को पश्चिमी सभ्यता से करना पड़ रहा है तो जरूरत अपने प्रतिद्वंद्वी से कई कदम आगे जाने की होती है, सिर्फ उसे पकड लेने और इतिहास की खाई पाट देने से काम नहीं चलता। हमारे अपने समय में गांधीजी ने बीस पचीस बरस तक ठीक यही काम किया था। अपनी सेनानायक जैसी विलक्षण प्रतिभा और देशज विचारों और संस्थाओं के जरिए उन्होंने जो सांस्थानिक स्वरूप खड़े किए, अंग्रेजों से लडाई की श्रेष्ठ तकनीकी दी और सामाजिक, आर्थिक जीवन के वैकल्पिक ढांचे दिखाए, उनके कारण कोई दो दशक तक अंग्रेजों को सुरक्षात्मक स्थिति में उतर जाना पड़ा। हो सकता है कि गांधीजी ने जो किया उसे दोहराना सम्भव न हो, या सम्भव भी हो तो उससे वर्तमान परिस्थितियों में हमें कोई मदद नहीं मिल सकती। तो भी जितनी जल्दी हम मौजूदा जड़ता और निराशा की परिस्थितियों से अपने समाज और राज्य व्यवस्था को निकाल पाएं उतना ही अच्छा होगा।

इतने महान राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वतंत्रता पाने के कोई चार दशक बाद भी

हमारे राज्य में बैठे लोगों को यह समझ में नहीं आया कि यह कोई साम्राज्यवादी राज्य नहीं है। वे किन्हीं वैमनस्य रखने वाले लोगों पर नहीं, बल्कि अपने ही बन्धुबान्धवों पर शासन कर रहे हैं और ये लोग उससे जितना अपनापन महसूस करेंगे उतना ही उनके राज्य का औचित्य स्थापित होगा और उनमें आत्मविश्वास तथा शक्ति बढ़ेगी । यह कहने का मतलब पिछले चार दशकों के दौर की किसी तरह की निन्दा करना नहीं है। इन तमाम दिनों में जो कुछ हुआ वह तो होना ही था। यह उन दो शताब्दियों की पराधीनता और दुनिया से अपने रिश्ते टूट जाने से पैदा हुई निराशा का स्वाभाविक नतीजा था।

हमारी समस्याएं कई तरह की हैं। जनसंख्या एक समस्या जरूर है क्योंकि हमारे पास वैसा कोई रास्ता नहीं है जैसा अपनी जनसंख्या को दूसरे क्षेत्रों में मोड देने कि लिए पिछले चार सौ पांच सौ बरस यूरोप के पास रहा है या उससे भी पहले इस्लाम के पास था। लेकिन यह सिर्फ एक समस्या है और वह भी शायद सबसे महत्त्वपूर्ण या लाइलाज नहीं। हमारी सबसे बडी समस्या तो अपने समाज और राज्य व्यवस्था के बीच तार जोड़ देने की ही है। इन दोनों को ही ज्यादा मजबूत और देशी जड़ों से निकले भरोसेमंद ढांचे की जरूरत है। इसके लिए न केवल हमको अपने पुराने विचारों और संस्थाओं या समस्याओं को हल करने के लिए जो हल निकाले थे उन्हें भी देखने की जरूरत है बल्कि १९२३ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के यशस्वी अध्यक्ष के कहने पर भारत के दूसरे यशस्वी सपूत ने स्वराज की जो रूपरेखा तैयार की थी वह इस तरह की बहस छेड़ने का आरम्भ बिन्दु बन सकती है।

७. दुनिया को अपनी नजर से देखना

हमारी राष्ट्रीय निधि और विरासत की ओर इधर ध्यान देने का जो सिलसिला शुरू किया गया है वह स्वागत योग्य है और उसे देश का समर्थन मिलना चाहिए। गंगा की सफाई ऐसा ही एक कार्यक्रम है। लेकिन दो सदियों की उपेक्षा के कारण दुर्दशा को छोटे मोटे या प्रतीकात्मक कार्यक्रमों के जरिए मिटाया नहीं जा सकता । अपनी इस विरासत को फिर से जीवन्त बनाने के लिए उतना ही ध्यान देने और साधन लगाने की जरूरत है जितना हम अपनी सुरक्षा व्यवस्था के लिए करते हैं। इससे भी ज्यादा जरूरी है स्थानीय पहल के आधार पर संगठनात्मक ढांचे को अधिक कुशल और सक्रिय बनाना। हमारे देश को टिकाए रखने और उसकी सुरक्षा के लिए हमारी इस अटूट प्राचीन परम्परा का ज्ञान, उसे फिर से बल प्रदान किया जाना, उसको संरक्षित करना और उसकी फिर से व्याख्या करना हमारी सैनिक व्यवस्था से भी ज्यादा कारगर साबित हो सकता है। हालांकि सैनिक व्यवस्था की भी आज के जमाने में जरूरत है।

इसी तरह हर साल पांच लाख हेक्टेयर जमीन पर अगले दस साल तक ऐसे पेड़ लगाना, जो गांव के और छोटे शहर-कस्बों के लोगों के इंधन और दूसरी जरूरतों के काम आ सकें, काफी उपयोगी साबित हो सकता है। पिछले दिनों व्यावसायिक उपयोग के पेड़ लगाने का जो फैशन हो गया था, जिनसे कि औद्योगिक जरूरतें ही पूरी होती हों, उनकी जगह इस तरह के कार्यक्रम को उचित जोर देकर और ठीक तरह से चलाया जाए तो इससे हमारे देश के सामान्य लोगों के दुःखदर्द घटने में मदद मिलेगी। शिक्षा, और संस्कृति के क्षेत्र में देश की प्रतिभा को पहचान कर उसका ठीक ढंग से विकास करने के केन्द्र भी जिलों जिलों में विकसित हों, यह अच्छी बात है। हालांकि आज इस तरह की कोशिशें हो रही हैं जो समाज के सीमित वर्ग तक सिमट कर रह जाती हैं और कुछ ही तरह की प्रतिभाओं की तरफ केन्द्रित हैं । इस तरह का कोई कार्यक्रम तभी सम्भव हो सकता है जब हम राज्य की सारी मशीनरी का पुनर्गठन करके जिलों में रहने वाले दस-बीस हजार राज कर्मचारियों की फौज को जिले की उत्तरदायी संस्थाओं के मातहत कर दें।

हमारे राज्य में बैठे लोगों को यह समझ में नहीं आया कि यह कोई साम्राज्यवादी राज्य नहीं है। वे किन्हीं वैमनस्य रखने वाले लोगों पर नहीं, बल्कि अपने ही बन्धुबान्धवों पर शासन कर रहे हैं और ये लोग उससे जितना अपनापन महसूस करेंगे उतना ही उनके राज्य का औचित्य स्थापित होगा और उनमें आत्मविश्वास तथा शक्ति बढ़ेगी । यह कहने का मतलब पिछले चार दशकों के दौर की किसी तरह की निन्दा करना नहीं है। इन तमाम दिनों में जो कुछ हुआ वह तो होना ही था। यह उन दो शताब्दियों की पराधीनता और दुनिया से अपने रिश्ते टूट जाने से पैदा हुई निराशा का स्वाभाविक नतीजा था।

हमारी समस्याएं कई तरह की हैं। जनसंख्या एक समस्या जरूर है क्योंकि हमारे पास वैसा कोई रास्ता नहीं है जैसा अपनी जनसंख्या को दूसरे क्षेत्रों में मोड देने कि लिए पिछले चार सौ पांच सौ बरस यूरोप के पास रहा है या उससे भी पहले इस्लाम के पास था। लेकिन यह सिर्फ एक समस्या है और वह भी शायद सबसे महत्त्वपूर्ण या लाइलाज नहीं। हमारी सबसे बडी समस्या तो अपने समाज और राज्य व्यवस्था के बीच तार जोड़ देने की ही है। इन दोनों को ही ज्यादा मजबूत और देशी जड़ों से निकले भरोसेमंद ढांचे की जरूरत है। इसके लिए न केवल हमको अपने पुराने विचारों और संस्थाओं या समस्याओं को हल करने के लिए जो हल निकाले थे उन्हें भी देखने की जरूरत है बल्कि १९२३ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के यशस्वी अध्यक्ष के कहने पर भारत के दूसरे यशस्वी सपूत ने स्वराज की जो रूपरेखा तैयार की थी वह इस तरह की बहस छेड़ने का आरम्भ बिन्दु बन सकती है।

७. दुनिया को अपनी नजर से देखना

हमारी राष्ट्रीय निधि और विरासत की ओर इधर ध्यान देने का जो सिलसिला शुरू किया गया है वह स्वागत योग्य है और उसे देश का समर्थन मिलना चाहिए। गंगा की सफाई ऐसा ही एक कार्यक्रम है। लेकिन दो सदियों की उपेक्षा के कारण दुर्दशा को छोटे मोटे या प्रतीकात्मक कार्यक्रमों के जरिए मिटाया नहीं जा सकता । अपनी इस विरासत को फिर से जीवन्त बनाने के लिए उतना ही ध्यान देने और साधन लगाने की जरूरत है जितना हम अपनी सुरक्षा व्यवस्था के लिए करते हैं। इससे भी ज्यादा जरूरी है स्थानीय पहल के आधार पर संगठनात्मक ढांचे को अधिक कुशल और सक्रिय बनाना। हमारे देश को टिकाए रखने और उसकी सुरक्षा के लिए हमारी इस अटूट प्राचीन परम्परा का ज्ञान, उसे फिर से बल प्रदान किया जाना, उसको संरक्षित करना और उसकी फिर से व्याख्या करना हमारी सैनिक व्यवस्था से भी ज्यादा कारगर साबित हो सकता है। हालांकि सैनिक व्यवस्था की भी आज के जमाने में जरूरत है।

इसी तरह हर साल पांच लाख हेक्टेयर जमीन पर अगले दस साल तक ऐसे पेड़ लगाना, जो गांव के और छोटे शहर-कस्बों के लोगों के इंधन और दूसरी जरूरतों के काम आ सकें, काफी उपयोगी साबित हो सकता है। पिछले दिनों व्यावसायिक उपयोग के पेड़ लगाने का जो फैशन हो गया था, जिनसे कि औद्योगिक जरूरतें ही पूरी होती हों, उनकी जगह इस तरह के कार्यक्रम को उचित जोर देकर और ठीक तरह से चलाया जाए तो इससे हमारे देश के सामान्य लोगों के दुःखदर्द घटने में मदद मिलेगी। शिक्षा, और संस्कृति के क्षेत्र में देश की प्रतिभा को पहचान कर उसका ठीक ढंग से विकास करने के केन्द्र भी जिलों जिलों में विकसित हों, यह अच्छी बात है। हालांकि आज इस तरह की कोशिशें हो रही हैं जो समाज के सीमित वर्ग तक सिमट कर रह जाती हैं और कुछ ही तरह की प्रतिभाओं की तरफ केन्द्रित हैं । इस तरह का कोई कार्यक्रम तभी सम्भव हो सकता है जब हम राज्य की सारी मशीनरी का पुनर्गठन करके जिलों में रहने वाले दस-बीस हजार राज कर्मचारियों की फौज को जिले की उत्तरदायी संस्थाओं के मातहत कर दें।

ये संस्थाएं तभी राष्ट्रीय हित को बढ़ा सकती हैं जब उनके कामकाज और शैक्षिक कार्यक्रम की पूरी तरह समीक्षा की जाए और उनका हर तरह से भारतीयकरण हो। इन संस्थाओं में काम करने वाले लोगों और उनसे निकलने वाले लोगों में देशभक्ति की भावना होनी चाहिए और अपने देशवासियों से उन्हें सहानुभूति होनी चाहिए। आज हमारे देश में ये दोनों ही चीजें दुर्लभ होती जा रही हैं। इनके अलावा जो लोग किसी क्षेत्र के विकास के प्रशासकीय कामों में लगे हुए हैं उनकी स्थानीय निष्ठाएं हों, यह जरूरी है। उन्हें यह समझना चाहिए कि वे जिन लोगों की सेवा के लिए वहां हैं उनके प्रति वे उत्तरदायी भी हैं। इसके बिना हमारे किसी नए संकल्प और कार्यक्रम का कोई अर्थ नहीं निकल सकता।

हमें अपने अफसरों और दूसरे राजकीय कर्मचारियों का आए दिन इधर से उधर अनावश्यक तबादला करते रहने की आदत भी छोडनी चाहिए। अंग्रेजों को अपनी अपराजेयता दिखाने के लिए अपनी फौजें लगातार लम्बे रास्तों पर दौड़ाते रहनी पड़ती थीं या अपने ऊँचे नागरिक अफसरों को इधर से उधर बदलते रहना पड़ता था, क्योंकि या तो वे जल्दी अलोकप्रिय हो जाते थे या स्थानीय स्तर पर इतने घुलने मिलने लगते थे कि ब्रिटिश हुकूमत के उतने काम के नहीं रह जाते थे। उन्हीं की नकल करते हुए हम भी इस निरर्थक और अनुपयोगी परम्परा को कायम रखें तो उसके नुकसान ही होंगे। कोई डाक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, या पुलिस कर्मचारी जहां की सेवा के लिए नियुक्त हुआ है वहां लंबे समय तक रहे तो समाज के ज्यादा काम आ सकता है। यह मान्यता कि अगर उसे एक जगह रहने दिया जाए तो वह भ्रष्ट हो जाता है, शोषण करने लगता है या निकम्मा बन जाता है, गलत है और १९४७ में हुए सत्ता के परिवर्तन के समय विरासत में मिली एक नुकसानदेह प्रशासनिक परम्परा है।

अगर ये कदम उठाएं जाएं और इस तरह से राजनैतिक और दूसरे क्षेत्रों को पुनर्गठित किया जाए तो उससे इमारतें खड़ी करने की जरूरत भी काफी घट जाएगी। इन इमारतों का निर्माण और उनका रखरखाव आज हमारी सरकारों, खासतौर से केन्द्रिय सरकार के कामकाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा हो गया है। अंग्रेजों को विदेशी होने के नाते बहुत सारी इमारतें और डाक बंगले आदि बनाने पड़े क्यों कि भारत पर कब्जावर होने के नाते अपने सैनिक और नागरिक अफसरों और राज्य व्यवस्था के दूसरे लोगों के लिए अलग से ऐसी व्यवस्था करने की जरूरत थी। इस तरह के फिजूल खर्च और हमारे राष्ट्रीय साधनों को बर्बाद करने वाले कामों की हमें जरूरत नहीं होनी चाहिए। अलबत्ता, आजादी के बाद इन इमारतों में दस बीस गुना वृद्धि हो चुकी है। इसे या तो

१९४७ से राज कर रहे लोगों की विचारहीनता कहा जा सकता है या इसका कारण यह है कि हम यांत्रिक तरीके से पुराने तौरंतरीकों को दोहराते जा रहे हैं। भारत कम से कम राष्ट्रमंडल में अकेला ऐसा देश दिखाई देता है जहां संसद और विधायिकाओं के सदस्यों को राजधानियों में स्थायी निवास की सुविधा दी जाती हो। यह आश्चर्य की बात है कि चुने जाने के साल डेढ़ साल से भीतर उनमें से ज्यादातर राजधानियों में रहने लगते हैं और अपने मतदाताओं से उनका मामूली सम्पर्क ही बचता है। इस तरह की परम्पराओं और लोगों से कटे हुए ढांचे के कारण हमारी राज्य व्यवस्था का सबसे बड़ा काम उन लोगों की सुखसुविधा देखना भालना ही रह गया है जो राज्य की नीति निर्धारित करते हैं या उस पर अमल करने के लिए रखे गए हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह ढांचा अंग्रेजों ने इसलिए बनाया था ताकि लोगों की सक्रियता को न्यूनतम रखा जा सके और राज्य की शान्ति की गारंटी हो सके। इस तरह के ढांचे में यह स्वाभाविक ही है कि राज्य की नीति निर्धारित करने वाले लोग और उनके मातहत सबसे ज्यादा जोर अपनी सुरक्षा और सुखसुविधा पर दें। यही वजह है कि राज्य की अधिकांश कोशिश अपने ही लोगों को उनके स्तर के अनुरूप सुविधाएं जुटाने में और उन्हें लोगों से दूर और सुरक्षित रखने की होती है। इसका नतीजा यह होता है कि राज्य व्यवस्था लोगों के लिए हो, ऐसा नहीं लगता बल्कि ऐसा लगता है कि जो लोग राज्य के लिए उपयोगी हैं उन्हीं को रहने का अधिकार मिला हुआ है।

इस पूरी व्यवस्था का पुनर्गठन तो लंबा काम है लेकिन जो काम फौरन शुरू कर देना चाहिए वह है, राज्य और खासतौर पर केन्द्र सरकार के कामकाज और दायित्वों के बोझ को घटाना जो पिछले सालों में लगातार बढ़ते गए हैं। ऐसे बहुत से काम हैं जिन्हें आज केन्द्र सरकार ओढ़े हुए हैं जबकि उन्हें स्थानीय प्रशासन के बीच काम का और अधिकारों का जो असन्तुलन पैदा हो गया है उसे फौरन सुधारने की जरूरत है। जिस अनुपात में काम राष्ट्रीय संस्थाओं से लेकर नीचे की और स्थानीय संस्थाओं को सौंपा जाएगा, उसी अनुपात में हमारी व्यवस्था अधिक कार्यक्षम दिखाई देगी।

अपने आपको कार्यक्षम बनाने के लिए भारत को अलग अलग क्षेत्रों में अलग अलग तरह के विकल्पों का इस्तेमाल करना पड़ेगा और कई बार अंतर्विरोधी विकल्पों का भी। जहां यह जरूरी है कि अपनी पुरानी संस्थाओं और प्रौद्योगिकी की व्यवस्था की तरफ ध्यान दें और उसको बढ़ावा दें, वहीं आधुनिक संस्थाओं और प्रौद्योगिकी को पूरी तरह समझने और उसमें सुधार-परिष्कार करने की जरूरत हो सकती है। यह दूसरी तरह की कुशलता हमें दुनिया में बराबरी की जगह दिलवा सकती है जबकि अपने लोगों

की प्रतिभा को निखारने और उन्हें अपने पैरों पर खड़ा करने के लिए पहला तरीका ही काम आ सकता है। एक बार वे अपने आत्मविश्वास को जगाकर अपने पैरों पर खड़े हो जाएं तो उनके लिए बाहर से क्या लेना चाहिए क्या नहीं, इसका सही फैसला करना आसान होगा और वे उसे अपने ढांचे के अनुरूप ढालकर उसका इस्तेमाल कर सकेंगे। इस तरह इन विरोधी दिशाओं में जानेवाली धाराओं में संगति बैठ सकती है। इसके बाद हमारे देश की जिंदगी देसी तरीकों से अनुशासित होती है या बाहर के अपने अनुरूप ढाल लिए गए तरीकों से, यह सिर्फ एक शैक्षिक बहस ही रह जाएगी।

भारतीय समाज और राज्य व्यवस्था को एक दूसरे से जोड़कर उसका इस तरह पुनर्गठन करने में अपने अतीत का ज्ञान हमें काफी लाभकारी साबित हो सकता है। उससे हमें यह समझने में मदद मिल सकती है कि हमारी उपलब्धियां और असफ़लताएं क्या रही हैं ? अलबत्ता, सिर्फ अपने बारे में ऐसी जानकारी, फिर वह चाहे कितनी ही विस्तृत क्यों न हो, अपने आप एक आत्मनिर्भर और सम्पन्न देश बनाने में हमारी मदद नहीं कर सकती। उसके लिए हमें पूरी दुनिया के बारे में समझ हांसिल करना जरूरी है। और वह भी सिर्फ दूसरों की व्याख्याओं से नहीं, दुनिया को हमें अपनी निगाह से देखना और समझना पड़ेगा। इसी तरह बाहर के बहुत से विद्वान, जिनमें सोवियत रूस, जापान या दूसरे अनेक देशों के विद्वान हैं, यहां आकर भारत की पुरानी संस्थाओं और तौर-तरीकों के बारे में जानने समझने की कोशिश कर रहैं हैं, यह अच्छी बात है। उनके काम से हमें काफी मदद भी मिल सकती है। लेकिन, अपने अतीत की कोई जांचपड़ताल तभी हमारे लिए अधिक उपयोगी हो सकती है जब हमारे विद्वान और पंडित यह काम करना शुरू करें।

विभाग २

अपना विवेक जगायें

८. साहस, आत्मसम्मान, समृद्धि, अलिप्तता

९. सेवाग्राम पर्यटन केन्द्र नहीं तीर्थ है

१०. भारतीय स्वतन्त्रता :

स्वतन्त्रता संग्राम की विजय या अंग्रेजों की देन ?

११. सूखा भगाने कि लिये क्या करना होगा ?

१२. पर्यावरण के नाम पर उपनिवेशवाद

१३. अंग्रेज दासता : वरदान थी अथवा अभिशाप ?

८. साहस, आत्मसम्मान, समृद्धि, अलिप्तता

१.

महात्मा गांधी को देखने और समझने की अनेक दृष्टियां हैं। पिछले ५० बरसों में उन्हें सत्य, अहिंसा व विश्वशान्ति के परिप्रेक्ष्य में ही अधिक देखा जाता रहा है। सत्य और अहिंसा और सबके लिये शान्ति भी, हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से अच्छे देश और काल के आधार व प्रतीक माने जाते हैं। इसी तरह से अलिप्तता भी। महाभारत में भी इनका महत्त्व है और गौतम बुद्ध और महावीर भी इन पर ज़ोर देते हैं। ऐसा माना जा सकता है कि भारतीय जन और भारतीय सभ्यता हमेशा से सत्य, अहिंसा, सबके लिये शान्ति और अलिप्तता की मान्यताओं पर टिकी है। जब जब ये आधार कुछ कमजोर होने लगते हैं या इनमें आपस का सन्तुलन बिगड़ता है, तब तब हमारे यहाँ श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध, महावीर व गांधीजी जैसे मनुष्य आकर नया सन्तुलन स्थापित करते हैं। १८९० से १९४८ तक ऐसा प्रयास महात्मा गांधी ने हमारे देखते देखते किया। यह प्रयत्न अधिक बैठ नहीं पाया। इसके कारण अनेक हैं। मुख्य कारण यह लगता है कि आज इस पृथ्वी पर जो लोग व सभ्यतायें हावी हैं, उनकी दृष्टि हमसे बहुत भिन्न है और वे सत्य, अहिंसा, अलिप्तता इत्यादि को हमारी दृष्टि से नहीं देखते।

लेकिन इन भारतीय आधारों को मानते और उन पर स्वयं चलते हुए भी गांधीजी ने और सैंकड़ों काम किये : नये नये रास्ते व विचार सबके सामने रखे और भारत के लोगों में गिरे हुए साहस और आत्मविश्वास को जगाया। गांधीजी से कई बार पूछा गया कि आपने ऐसा क्या किया कि भारत के गिड़गिड़ाते, गिरे पड़े लोग फिर से खड़े हो गये, उनमें साहस और आत्मविश्वास जाग उठा। ऐसा १९४३-४४ के कारावास के समय उनसे सुशीला नैयर ने भी पूछा। तब सुशीला नैयर ने १९१४-१५ के करीब तक के बड़े नेता फीरोजशाह मेहता की मानसिकता और व्यवहार को भी गिड़गिड़ाने की स्थिति कहा। तब गांधीजी ने कहा कि मैंने तो विशेष कुछ नहीं किया। मैंने तो केवल इतना किया कि जो विचार व बातें भारतीयों के मन में थीं और जिन्हें वे कह नहीं पाते थे, उनकी ओर से उन्हें खुले रूप से कह दिया।

२.

ये भारतीयों के मन के विचार और बातें जिन्हें वे पूरी १९ वीं सदी में साधारणतः कह नहीं पाते थे, उन्हें कहना गांधीजी ने २२ बरस की उम्र में अपने पहले प्रकाशित लेख से ही शुरू कर दिया । १८९१ में उन्होंने लन्दन की 'वेज़िटेरियन' (शाकाहारी) पत्रिका के लिये भारत के बारे में पाँच लेख लिखे। उनमें पहले लेख में ही उन्होंने भारत के लोगों की गरीबी का जिक्र करते हुए कहा कि नमक पर अंग्रेजों द्वारा भारी कर के कारण साधारण भारतीय नमक भी पूरी तरह से इस्तेमाल नहीं कर पाते। गांधीजी का १९०४ में कहना था कि इस नमक की कमी के कारण भारत में कोढ़ इत्यादि बढ़े हैं।

इसी लेख में गांधीजी ने गाय की मान्यता और उपयोगिता का जिक्र भी किया और यह भी बतलाया कि उन्हीं दिनों अंग्रेजी राज्य द्वारा भारत में या भारत से बाहर भेजकर, गाय को मारने के खिलाफ एक बड़ा आन्दोलन जारी है। यह आन्दोलन एक बड़े अखिल भारतीय रूप में १८८० से चल रहा था और १८८३-९४ में तो अंग्रेजी शासन इससे घबरा गया था।

नमक की बात गांधी जी के मन में चालीस बरस तक (१८९१-१९३०) रही। जैसा हम सब जानते हैं नमक सत्याग्रह १९३० में हुआ। 'गांधी वाङ्मय' में इस नमक का जिक्र कई बार आता है, जैसे कि ८-७-१९०५ को ('गांधी वाङ्मय' खण्ड ५; क्रम ११, पृष्ठ १० और १४-१०-१९०५, क्रम १२०, पृष्ठ १०५) और १९१७ के आसपास जब उन्होंने अपने एक साथी को नमक विभाग के कागजात देखने नमक विभाग के दफ्तर में भेजा।

लेकिन वे इन शुरू के दिनों में भी केवल नमक व गाय के प्रश्नों पर ही नहीं लगे रहे। भारतीयों के लिये श्मशान घाट का ठीक इन्तजाम हो, वह भी गांधी जी के लिये उतना ही जरूरी था ('गांधी वाङ्मय' खण्ड ५; पृष्ठ ३९९-४००, ४१५, खण्ड ८ : पृष्ठ २७५-६, २९९, ३५८) जितना कि चाहने वालों को बन्दूक इत्यादि रखने की इजाजत ('गांधी वाङ्मय' खण्ड १२ : पृष्ठ २३०-३१)। निर्भयता से आत्मसम्मान के साथ जीवन जीने के लिये मनुष्य समूह जो आवश्यक मानते हों, उन सबका ठीक इन्तजाम होना, या होने देने की इजाजत होना, वे आवश्यक मानते थे।

गांधीजी रेलगाड़ी के खिलाफ ही थे, लेकिन रेल के होते हुए कुछ मनुष्यों को उसमें चढ़ने की, या उसके कुछ डिब्बों में बैठने की इजाजत नहीं हो, इसे वे अन्याय

मानते थे। इसीलिये दक्षिण अफ्रीका में गये हुए भारतीयों और अपने आत्मसम्मान की रक्षा के लिये गांधीजी की सबसे पहली लड़ाई रेलगाड़ी में बैठने को लेकर ही हुई। ऐसी ही छोटी बड़ी बातों और झंझटों में से सत्याग्रह का समग्र रूप और आन्दोलन निकला। अन्याय को नहीं मानना, उसे हटाने के लिये खुले आम बोलना, हड़ताल करना ('गांधी वाड्मय' खण्ड ५ : पृष्ठ ४६१) और जरूरी हो तो बड़े आन्दोलन करना, जैसे कि अंग्रेजों के भारत पर कब्जा करने के समय १८०० के आस पास सारे भारत में होता रहा, ये भारत की प्राचीन मान्यतायें रहीं। लगता है गांधीजी बचपन से ही यह जानते थे। १८४४ में ही सूरत शहर में नमक पर कर बढ़ाने के खिलाफ एक बड़ी हड़ताल और आन्दोलन हुआ था। ऐसी और भी हड़ताल और आन्दोलन गुजरात और सौराष्ट्र के छोटेछोटे भारतीय राज्यों में उनके बचपन में होते रहे होंगे। इनका अन्दाजा केवल गांधीजी को ही नहीं, बल्कि लगता है कि जो गरीब मजदूर, विशेषतः तमिलनाडु से दक्षिण अफ्रीका गये हुए, गांधीजी के सम्पर्क में आये उनमें और भारत से गयी स्त्रियों में इस तरह के आचरण की धूमिल याद तब तक भी थी। गांधीजी को इस तरह से अन्याय से लड़ता देखकर उनकी यादें ताजी और शक्तिशाली हो गयीं, और वे गांधीजी के सैनिक बन गये।

३.

सदियों से भारतीय सभ्यता और भारत में रहने वाले लोगों की अपनी मान्यतायें थीं, कृषि और उद्योग करने के तरीके थे, प्रकृति, जल इत्यादि के प्रति आत्मीयता का भाव था और स्थानानुकूल तथा समयानुकूल जीवन की शैलियाँ थीं। इन्हीं से जुड़ी थीं भारत की समाज व राज्य व्यवस्थायें और भारत की तब की समृद्धि।

यहाँ भारत के भौतिक ज्ञान, कृषि और उद्योग में माहिरपन, शिक्षा, वास्तु विद्या का प्रसार, आयुर्वेद के ज्ञान व चिकित्सा के तरीकों के जीवन से करीबी सम्बन्ध के विषय में कहने की आवश्यकता नहीं है। सन् १८०० तक तो भारत इन सब बातों में संसार में आगे ही था। इतिहासकारों का मानना है कि उद्योगों में तब तक भारत और सब देशों से समर्थ औद्योगिक देश था। सन् १८०० के करीब भारत की खेती की उपज ब्रिटेन की उपज से तिगुनी थी। भारत के बहुत से क्षेत्रों में धान की उपज उस समय जापान में आज की उपज (६ टन हैक्टेयर) जैसी थी। आज इतनी उपज जापान में होती है।

भारत के लम्बे इतिहास में समय समय पर बहुत से जन समूह, अधिकांशतः उत्तरपश्चिम की ओर से शायद कुछ पूर्व में बर्मा और दक्षिण पूर्वी देशों से भी, भारत में आते रहे और बसते रहे। पृथ्वी के देशों में जन समूहों का इधर से उधर जाना, बसना, लाखों बरसों पहले से होता रहा है। यूरोप में तो पूर्व मध्य एशिया की ओर से बड़े बड़े जनसमूह हजार बरस पहले तक यूरोप के अलग अलग देशों में बसते रहे। उनमें से बहुतों ने आने पर यूरोप के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के पुराने निवासियों को समाप्त ही कर दिया और स्वयं वहाँ के निवासी और राजा बन गये। ऐसा ही १४९२ के बाद से यूरोप के लोगों ने उत्तर मध्य और दक्षिणी अमरीका में किया। अमरीका जैसे बड़े महाद्वीप में १४९२ के करीब ९ से ११ करोड़ जनसंख्या विद्वानों द्वारा मानी जाती है। इनमें से काफी लोग बड़े बड़े तीस चालीस हजार वर्ष पुराने सुन्दर नगरों में रहते थे। पिछले पाँच सौ बरस में यूरोप से आये लोगों के सम्पर्क से ये विशाल जनसंख्या वाली सभ्यताएँ समाप्त प्रायः हो गई हैं। अभी शायद मुश्किल से इनके एक करोड़ वंशज ही होंगे। १४९२ के करीब यूरोप की जनसंख्या आठ करोड़ के करीब रही होगी। आज उनके वंशज यूरोप, अमरीका, आस्ट्रेलिया और दूसरे अनेक देशों में कुल मिलाकर १५० करोड़ के करीब होंगे।

यूरोपीय सभ्यता कुछ इस तरह से बनी है कि उसके सम्पर्क से अधिकांशतः दूसरी सभ्यताओं का विनाश हो जाता है। ऐसा कई हजार बरस से हो रहा है, और अमरीका, आस्ट्रेलिया, न्यूझीलैण्ड, अफ्रीका के काफी देशों में तो पिछले पाँच सौ बरसों में तो हुआ ही है। अगर यूरोपीय सभ्यता व उसके सोच व तरीके हावी रहे और उनका समझदारी और आत्मविश्वास से मुकाबला नहीं हुआ, तो सम्भव है भारतीय व दूसरी सभ्यताएँ भी मूल अमरीकी सभ्यताओं की तरह अगले ५०-१०० बरसों में समाप्त ही हो जायें। मुकाबला होने पर यूरोपीय सभ्यता का पीछे हटना असम्भव नहीं है।

भारत में जो जनसमूह आज से एक हजार बरस पहले तक बाहर से आये, वे केवल भारत में बसे ही नहीं, लेकिन भारतीय सभ्यता में घुलमिल से गये। लेकिन आठ सौ या हजार बरस पहले इस्लाम के झंडे को लेकर जो लोग ईरान, तुर्की, अफगानिस्तान व अरब क्षेत्रों से यहाँ आने लगे वे अपने को विजेता मानते थे, और जहाँ जहाँ भारत में गये वहाँ उन्होंने काफी मार काट, लूटपाट इत्यादि की। यहाँ के लोगों को जहां तक हो सका, इस्लाम में भर्ती किया और अपनी बाहरी मान्यताओं के आधार पर अलग अलग स्थानों पर ऐसे विजेता राजा बन गये। इस्लाम का यह वर्णन गांधी जी ने अपने शुरू के दिनों में ही अपने चार व्याख्यानों में भी किया था ('गांधी वाङ्मय' खण्ड

४ मार्च अप्रैल १९०५, पृ. ३६८-७०, ३७५-३७७, ४०५-४०९)। लेकिन ईरान, तुर्की आदि से आने वाले ये विजेता राज्य व्यवस्था में विशेष कुशल नहीं थे। विजेता होने का और लूटपाट करने का इन्हें शौक था। लेकिन विजय करने के यूरोपीय तरीके जो दो हजार बरस पहले के रोम में प्रचलित थे, उनको ये समझ नहीं पाते थे। यूरोप की तो पुरानी आदत रही कि जरूरत होने पर हारे लोगों को पूर्णतः समाप्त कर देना। आदतन ये यूरोप जैसे खूंखार भी नहीं थे। इसलिये जब जब और जहाँ जहाँ भारत में इनका दबदबा इन ५००-७०० बरसों में रहा, तब भारत में कुछ अराजकता सी ही रही, और राज्य और प्रजा का सम्बन्ध टूटता गया। राज्य की मान्यतायें काफी हद तक विदेशी हो गयीं और भारत के लोगों का खुलापन, हँसी खुशी, मधुर सामूहिक सम्बन्ध घटते चले गये। राजनीतिक, सामाजिक स्तर पर तो भारत कमजोर हो ही गया, बौद्धिक स्तर पर भी ऐसी कमजोरी का असर पड़ा। लेकिन इसके बावजूद कृषि उद्योग इत्यादि में भारत फिर भी मुख्यतः आगे ही रहा।

४.

१७०० के करीब इस्लाम के नाम पर राज्य करने वाले काफी कमजोर पड़ गये। ऐसी कमजोरी गुरु नानक, समर्थ रामदास इत्यादि सन्तों की पुकार पर भारत के अलग अलग क्षेत्रों के जनसमूहों के खडे हो जाने से भी बढ़ी। गांधीजी ने इन सबके योगदान का उल्लेख अपने १९०५ के व्याख्यानों व तभी के और लेखन में किया है।

लेकिन यूरोप के देशों की सेनाएँ सन १५०० के करीब से भारत का घेराव कर रही थीं। १५०९ के करीब उन्होंने गोवा क्षेत्र पर कब्जा कर ही लिया था। १५५० तक यूरोप की विभिन्न शक्तियों ने श्रीलंका, थाईलैण्ड, मलेशिया, इन्डोनेशिया के इलाकों पर भी कब्जा करना शुरू कर दिया था। दो सौ बरस के बाद १७५० से यूरोप ने भारत में भी लड़ाई छेड़ दी और सब तरफ बढ़ना शुरू किया। १७६० में ऐसी स्थिति हो गयी कि दिल्ली के मुगल राज्य के बादशाह का पद भी ऐसे मुगल राजकुमार को दिया गया जिसे अंग्रेजों का आशीर्वाद तथा सैनिक व पैसे की मदद प्राप्त थी। इसी मुगल राजकुमार से सारे भारत का राज्य १७६५ में अंग्रेजों ने, कानूनी दृष्टि से, अपने नाम लिखवा लिया। बंगाल और दक्षिण में मारकाट, लुटाई, पुरानी व्यवस्थाओं को तोड़ना आदि तो १७५० के करीब से ही शुरू हो गया था। १८०० तक अंग्रेजी प्रभुत्व भारत पर छा सा गया, और १८१८ में मराठों के पूरी तरह हार मान लेने पर और राजस्थान के राज्यों का अंग्रेजों के मातहत हो जाने पर भारत पर अंग्रेजी प्रभुत्व एकछत्र हो गया।

राज्य और समाज के अलग अलग मान्यताओं पर चलने से भारतीय समाज और उसके समूहों के आपसी रिश्ते अंग्रेजों के आने से पहले ही जगह जगह पर बिखर से गये थे, और जहाँ इस्लामी राज्य का विशेष सीधा प्रभाव नहीं पड़ा था, वहाँ भी कमजोर हो गये थे। अंग्रेजों के हावी हो जाने के बाद तो सब तरफ भारतीय समाज और व्यवस्थायें पूरी तरह से बिखर गयीं और जो बचा वह अपने अन्दर सिकुड़ गया और सामाजिक व व्यक्तिगत कठोरता और निष्ठुरता बढ़ती चली गयी। इसके साथ भारतीय उद्योगों, कृषि, पशुपालन और वनों और नदियों का विनाश शुरू हुआ और गांधीजी के १८६९ में जन्म तक, तकरीबन हर कोई कंगाल जैसा दीखने लगा। ऐसी ही स्थिति में कुछ भारतीयों को जबरदस्ती या बहका कर अंग्रेजों क़ी खेती में मजदूरी के लिये अंग्रेजों के साम्राज्य के देशों में ले जाया गया। ये ही भारतीय १९०० से १९१४ के बरसों में दक्षिण अफ्रीका में गांधीजी के सेनानी बने।

इस तरह से जबरदस्ती व बहका कर लोगों को दूसरे देशों में कड़ी मजदूरी के लिये ले जाना अंग्रेजों की पुरानी प्रथा थी। १६ वीं, १७ वीं, १८ वीं सदी तक काफी सारे इंग्लैण्ड के गरीब लोग भी इसी तरह अमरीका व आस्ट्रेलिया ले जाये जाते रहे। आयर्लैण्ड के लोग तो १९ वीं सदी में भी ले जाये जाते रहे।

५.

भारत की गिरी स्थिति और भारतीयों की भयंकर गरीबी के इस समय में गांधीजी १८९३ में दक्षिण अफ्रीका आये। एक भारतीय के नाते उन्हें भी वे दिक्कतें, बेइज़्ज़ती इत्यादि झेलनी पड़ीं जो बाकी भारतीयों को झेलनी पड़ती थीं। ऐसी ही स्थिति में उन्हें भारतीयों में साहस और आत्मविश्वास का लौटना अति आवश्यक लगा। इसके लिये बहुत तरह के काम उन्हें करने पड़े। अपने लोगों के साथ अंग्रेजों की लड़ाइयों में भी भाग लेना पड़ा, और इस बीच क्योंकि अपने विचारों, शक्ति और कार्य को केन्द्रित करके रखना था, इसलिये यूरोप के लोगों द्वारा दक्षिणी आफ्रीका के मूल वासियों पर जो अत्याचार, इत्यादि बराबर होता था, उसकी भी अनदेखी करनी पड़ी। उनकी प्राथमिकता तो भारतीयों में आत्मसम्मान और साहस लौटाने की थी और उसके द्वारा उनमें फिर से सामाजिक सम्बन्धों की संरचना करना, स्वतंत्रता की भावना लाना और घोर गरीबी को हटाना भी था। यह सब करने के लिये वे सेनापति भी बने, शिक्षक भी और आस्था के प्रतीक भी।

१९०३ में गांधीजी ने दक्षिणी अफ्रीका में 'इंडियन ओपिनियन' नाम का

साप्ताहिक चलाया। यह गुजराती और अंग्रेजी दोनों में प्रकाशित होता था। कुछ समय तक यह हिन्दी और तमिल में भी छपा। इसमें रामायण इत्यादि पर तो लिखा जाता ही था, उसी तरह से टालस्टाय, रस्किन, थोरो इत्यादि पर भी। इन लेखों में भी साहस, आत्मसम्मान, वीरता का सन्देश रहता था। लेकिन व्यक्तिगत व सामूहिक वीरता पर भी स्वयं गांधीजी द्वारा बहुत लिखा गया। १९०५-१९०६-१९०७ में जब जापान ने रूस को हराया तब जापान पर कई लेख लिखे और एक लेख में तो गांधीजी ने कुछ दुःख के साथ यह भी कहा कि हम तो शायद जापान जैसे साहसी और वीर नहीं हो पायेंगे। इटली के मैजिनी इत्यादि पर भी ऐसा ही लिखा गया, और समर्थ रामदास पर भी।

दक्षिणी आफ्रिका में काफी भारतीय मुसलमान भी बसे थे। गांधीजी के उनमें से कइयों से शुरू से ही करीबी सम्बन्ध थे। लेकिन लगता है कि मुसलमानों के अधिक आत्मविश्वास और साहस को देखकर गांधीजी उनके अधिक करीब पहुँचे। मुसलमानों के साथ गांधीजी का ऐसा करीबी सम्बन्ध अन्त तक रहा।

६.

दिसम्बर १९०९ में गांधीजीने 'हिन्द स्वराज' लिखा। उसको लिखने से कुछ दिन पहले ही वे लन्दन की एक सभा में बोले। वहाँ उनका कहना था कि भारत को अपना आत्मसम्मान लौटाने के लिये तथा एक स्वस्थ समाज फिर बनाने के लिये वह सब पूरी तरह से भूल जाना चाहिए जो उसने पिछले ५०-१०० बरसों में अंग्रेजों व यूरोप से सीखा है। उनका मानना था कि अपनी स्वस्थ एवं टिकाऊ सभ्यता लाने के लिये हमें रेल, तार, अस्पताल, वकील, डॉक्टर इत्यादि सब छोड़ देने चाहिये और हमारे धनी लोगों को भी अपने पुराने तरीकों पर लौट आना चाहिये। भारतीय, भारत में, भारतीय तरीकों से बनी वस्तुओं पर ही जीवन चलायें, जैसे अन्न, कपड़ा, दवाई, शिक्षा, व्यवस्था।

क्योंकि गरीबी भयंकर थी और वह जल्दी मिटने वाली नहीं थी, ऐसे परिप्रेक्ष्य में गांधीजी ने दरिद्र नारायण की सेवा की बात उठाई। सबको जितना आत्मसम्मान रखते हुए मिलना सम्भव हो, दूसरों की दया व भीख पर नहीं, इसकी उनकी दृष्टि में प्राथमिकता थी। इसी में से चर्खे और खादी का कार्यक्रम व आन्दोलन निकला, और इसमें से ग्रामोद्योगों को दोबारा से खड़े करने का प्रयास। लोहा इत्यादि भी, जो भारत में १८०० के बाद तक हजारों स्थानों पर बनाया जाता रहा, गांधीजी की दृष्टि में ग्रामोद्योग में आता था। १९३६ में सांवली में और १९३८ में उड़ीसा में, जगन्नाथपुरी के पास, गांधी सेवा संघ के अधिवेशनों के अवसर पर पुराने भारतीय तरीके से लोहा बनाना

दिखाया गया। भारत कैसे व्यवस्थित हो इसे लेकर पंचायतों की बात चली और १९४६ तक पहुँचते पहुँचते सागरीय वृत्त राजनीति तन्त्र (ओशयानिक सर्कल पोलिटी) का विचार उन्होंने सबके सामने रखा। भारतीय भाषाओं में व्यवहार व लिखना पढ़ना वे आरम्भ से ही आवश्यक मानते थे। उनका मानना था कि भारत की भाषाओं की अगर कोई एक ही लिपि हो तो वह देवनागरी हो सकती है। रोमन लिपि में भारतीय भाषायें लिखी जायें, इसके वे अत्यन्त खिलाफ थे।

७.

लेकिन खादी, ग्रामोद्योग, दरिद्रनारायण की सेवा का मतलब गांधीजी के लिये यह नहीं था कि जीवन में हँसी खुशी नहीं हो, समृद्धि नहीं हो। समृद्धि और अलिप्तता भारत में हमेशा से साथ साथ देखी गयी है। गांधीजी की भी दृष्टि ऐसी ही थी, ऐसा कहा जा सकता है। हर व्यक्ति को कितने खाने की आवश्यकता है, इस पर वे अक्टूबर १९४१ में बोले। हर किसी को आधा सेर (एक पाउण्ड) दूध, दो तोला घी, और ढाई तोला मक्खन प्रति दिन मिलना चाहिये। जैसे आश्रम में सब्जी, भाजी दी जाती है, वह भी हर एक के लिये आवश्यक है। जो खेती इत्यादि के काम में लगे हैं, उन्हें ज्यादा अनाज की भी जरूरत होगी, और दाल की भी। उनके लिये दूध और मक्खन शायद कुछ घटाया जा सकता है। हमारे रसोई में मलाई निकाले हुए दूध का भी उपयोग होना चाहिये। सबको कुछ फल भी मिलना चाहिये। इमली, नीबू, टमाटर भी सबको मिलने चाहिये ('गांधी वाङ्मय' खण्ड ७५, पृष्ठ ४१)

१८०० के करीब के दक्षिण भारत में एक सर्वेक्षण के अनुसार सब तरह के लोग आधा सेर अनाज प्रति व्यक्ति प्रति दिन इस्तेमाल करते थे। तबकी इस फेहरिस्त में १८-२० और वस्तुएँ भी दी गई हैं। इस फेहरिस्त के बनने के समय तक यह क्षेत्र काफी गरीब हो चुका था।

गांधीजी ने एक बार तो हमारे आत्मसम्मान और साहस को वापिस ला ही दिया। और उसके साथ साथ देश में आशा जगी । गरीबी बाँटकर भी आपातकाल में जीवन जिया जा सकता है, यह भी हमने सीखा। ग्रामोद्योग इत्यादि भी कुछ हद तक दोबारा खड़े हो गये और अन्त में अंग्रेजी राज्य भी भारत से गया।

८.

लेकिन हमारे धनी, शिक्षित व ब्रिटिश शासन से जुड़े लोग तो १८३० के करीब से ही यूरोपीय मानयताओं की ओर बढ़ रहे थे और भारत के उद्योग इत्यादि कमजोर

पड़ने पर यूरोपीय वस्तुओं का ही इस्तेमाल करने लगे थे। गांधीजी के १९१५ में भारत आने के बाद और उन्हें सुनकर यह यूरोपीय प्रभाव कुछ घटा, लेकिन मिटा नहीं। १९४४ के करीब से यह फिर बढ़ने लगा और स्वतंत्रता संग्राम में शामिल धनी और शिक्षित लोग यूरोपीय तरीकों के हामी हो गये और ऐसा खुले आम कहने लगे कि भारत को अब यूरोप के रास्तों पर ही चलना पड़ेगा। उनके हिसाब से यही समय की माँग थी।

इन पिछले ५० बरसों में तो यूरोपीय दृष्टि और तरीकों का बोलबाला बढ़ा ही है। आज तो आधे से अधिक भारतीय खेती भी यूरोपीय पद्धति पर होती है। उद्योग तो हमारे सब मिट ही गये। हम अपने ढँग का जो बनाते भी हैं, उसके औजार तथा कच्चा माल इत्यादि तो अब ९० प्रतिशत बाहर के तरीकों से ही बना है। हमारे राजतंत्र, उद्योग, शिक्षा, नगर पालिकायें, पंचायत, इत्यादि भी यूरोपीय व्यवस्थाओं की मान्यताओं पर चलती हैं।

हमने सोचा था कि यूरोपीय ढँग अपनाने से हम जल्दी ही यूरोप व अमरीका जैसे हो जायेंगे। और देशों - जैसे कि चीन, जापान, कोरिया इत्यादि - ने भी पिछले ५०-१०० वर्षों में यूरोपीय विज्ञान और तरीके अपनाये, वे तो काफी हद तक आगे निकल गये और अपना आत्मसम्मान, अभिक्रमशीलता इत्यादि भी उनके पास रहा। लेकिन हम न केवल पिछड़े ही हैं, हमने अपना आत्मसम्मान और साहस भी खो दिया दीखता है। आज तो हम में से बहुत से भारत को और अपने को दीन अवस्था में मानते हैं। हो सकता है इस तरह की हीनता के भाव का कोई असली आधार नहीं हो। आज भी हम साहस करें, तो इस दलदल और दीनता से छुटकारा पा सकते हैं।

९.

वैसे तो यूरोप के आधुनिक तरीकों का (सन् १५०० व विशेषतः सन् १८०० के बाद से) विरोध करने वाले लोग तो यूरोप और अमरीका में जब से आधुनिकता चली, तब से रहे हैं। इनका समय समय पर आधुनिकता पर कुछ असर भी होता रहा है। विशेषतः यह असर आधुनिकता की कमियों को हटाने और नतीजतन उसे अधिक सफल बनाने और बढ़ाने में ही हुआ। इंग्लैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका में रहते समय गांधीजी का ऐसे आधुनिकता विरोधी काफी व्यक्तियों से परिचय भी था।

पिछले ६०-७० बरस में आधुनिक तरीकों का भारतीय खेती पर भी असर पड़ना शुरू हुआ। ऐसा ही खेती पर आधुनिकता का असर यूरोप और अमरीका में

पिछले डेढ़ सौ बरस से चल रहा है। लेकिन आज यह माना जाने लगा है कि आधुनिक खेती सभी दृष्टि से नाशक है और इसलिये त्याज्य भी। भारत के किसानों को भी ऐसा अन्दाजा पिछले २०-२५ बरस से हो रहा है। काफी लोगों का तो मानना है कि पुराने ढंग की, पुराने बीज, खाद इत्यादि के बल पर की गई खेती न केवल धरती को उपजाऊ रखती है, बल्कि वह कुल मिलाकर आधुनिक खेती से अधिक उपज देती है और उसमें जो पैदावार होती है, वह हर दृष्टि से (स्वाद, गुणवत्ता तथा रोगमुक्ति) आधुनिक खेती की पैदावार से बेहतर है।

अगर यह हिसाब सही है तो हमें देशव्यापी स्तर पर अपने पुराने ढंग की खेती पर लौटना आसान होना चाहिये। हो सकता है पूरी तरह से वापिस लौटनें में १०-१५ वर्ष लग जायें और पुराने तरीकों में जो आवश्यक लगे उनके अनुकूल फेरबदल भी करने पड़ें। लेकिन अगर हमें पश्चिम के शिकंजों से निकलना है, अपने पाँवों पर खड़ा हो जाना है, और अपनी साधना व बुद्धि से अपना जीवन चलाना है तो ऐसा फेरबदल खेती से शुरू कर सकते हैं।

खेती में अगर ऐसी शुरुआत होती है तो उद्योग धंधों में भी हो सकती है। ऐसा करने के लिये न केवल पुरानी कारीगरी व ज्ञान, किन्तु आधुनिक विज्ञान और तकनीक की समझ, उसके ध्येय, कमियों इत्यादि के बारे में जानकारी भी काम की होगी।

इसी तरह के निश्चयों से हम आज की शिक्षा, शासन व तंत्र की व्यवस्थाएँ इत्यादि भी बदल सकते हैं और उन्हें अपनी मान्यताओं व साधनों के आधार पर एक स्वस्थ भारतीय रूप दे सकते हैं।

लेकिन यह सब तभी हो सकेगा जब हम अपना आत्मसम्मान व साहस वापिस ले आयेंगे। अपने भरोसे जीने का निश्चय कर लेंगे और यह समझ लेंगे कि इस बदल का रास्ता कठिन और टेढ़ा, दोनों ही होगा।

१०.

मैंने १५-२० बरस पहले, गांधीजी ने ३१-३-१९३१ को कराची में जो इन्टरव्यू इंग्लैण्ड के 'गार्जियन' अखबार को दिया था, उसकी पत्रकार द्वारा टाईप की हुई प्रति देखी। यह लन्दन में निलामी में आई और इसे इंडिया आफिस लायब्रेरी ने खरीद लिया था। इस दस पन्ने की प्रति पर गांधीजीने काफी काटछांट करके सुधार किये थे और उसके बाद १ अप्रैल को सुधार किया हुआ इंटरव्यू 'गार्जियन' व कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' में छपा था। इंटरव्यू में कई प्रश्न थे। उनमें मुख्य प्रश्न दो थे, पहला कि

आप औपनिवेशिक स्वराज्य (डोमिनियन स्टेट्स) को क्यों नहीं मंजूर करते, और क्यों पूर्ण स्वराज की बात करते हैं। तब गांधीजी ने कहा था कि डोमिनियन स्टेट्स तो कनाडा, आस्ट्रेलिया इत्यादि जो ब्रिटिश कुटुम्ब के ही हैं, उनके लिये हैं। हम तो भिन्न सभ्यता के हैं। हम पूर्ण स्वराज के बगैर कैसे रह सकते हैं। दूसरा सवाल था कि पूर्ण स्वराज होने पर आपके यहाँ भयंकर हिन्दू मुस्लिम झगड़े इत्यादि होंगे तो उन्हें ब्रिटिश सेना के बगैर आप कैसे रोकेंगे। गांधीजी का कहना था कि अगर ब्रिटिश सेना की आवश्यकता पड़ी तो हम उसका खर्चा देकर उसे ब्रिटेन से माँग लेंगे। उनकी मान्यता से ब्रिटिश सेना किराये पर मिलने वाली (मरसीनरी) थी, इसलिये पैसा देकर उसका इस्तेमाल किया जा सकता था। लेकिन अगर ब्रिटेन ने सेना नहीं दी तो हम आपस में अपनी लड़ाई लड़ लेंगे। हो सकता है ऐसा करने में एक या दूसरा समूह नष्ट हो जाय। लेकिन इस डर से हम पहले से ही ब्रिटिश सेना को अपने यहाँ रखें, यह तो हम नहीं कर सकते। यह तो हमारे गौरव और आत्मसम्मान के खिलाफ होगा। बाद में गांधीजी ने यह जरूर जोड़ा कि उन्हें आशा है कि ऐसी परिस्थिति नहीं आयेगी।

दस बरस पहले कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में मैंने गांधीजी की लिखावट निर्मल कुमार बोस के कागजों में देखी थी। कागज नोआखली और बिहार में १९४६-४७ में दिये गये गांधीजी की शाम की प्रार्थनाओं के भाषणों के थे। इनमें से काफी तो दूसरे व्यक्तियों के हाथ से लिखे हुए थे, लेकिन उनमें से हर एक में गांधीजी के किये सुधार व उन्होंने जिसको ठीक पाया, इसका इशारा था। लेकिन कुछ भाषण ऐसे थे जो पूरे के पूरे गांधीजी के हाथ से लिखे गये थे। यहाँ शायद यह बताना भी ठीक होगा कि अधिक भाषणों में तो गांधीजी भविष्य के भारत के बनाने की बात कर रहे थे और उनमें निराशा तो साधारणतः नहीं दीखती थी।

ये दोनों बातें मैंने इसलिए कहीं कि हम यह समझ लें कि महात्मा गांधी केवल कोरे आत्मविश्वास व साहस के लौट आने तक की बात नहीं कर रहे थे। जब उन्होंने कहा कि मैंने विशेष कुछ नहीं किया, जो लोगों के मन में था और जिसे वे कह नहीं पाते थे उसे खुले आम कह दिया, तो इसका मतलब खाली कह देना नहीं था, जो बात मन में थी और जो कही गयी, उसके हिसाब से कदम उठाने का भी था। यही उनकी भारतवासियों से अपेक्षा थी। स्वयं तो वे किसी और के न होने पर अपने प्रार्थना-भाषण को भी, नोआखली जैसी कठिन जगह पर, प्रार्थना से लौटने पर स्वयं लिखकर ही रात को सोते होंगे।

११.

दस बारह वर्ष पहले प्रोफेसर स्वामीनाथन ने, जिन्होंने ९० खण्डों का 'गांधी वाङ्मय' सम्पादित किया है, गांधीजी को हनुमान की उपमा दी थी। तब तो यह उपमा मुझे बहुत ठीक नहीं लगी थी। लेकिन अब लगता है कि वे सोचसमझकर ही ऐसा कर रहे थे।

लेकिन हनुमान को तो देशभर जानता है और उसकी पूजा करता है। महाराष्ट्र में तो, शायद समर्थ रामदास के समय से या और पहले से भी, हनुमान जयन्ती हर जगह मनायी जाती है और हर व्यक्ति और घर उसे मानता है। सेवाग्राम में किसी ने मुझे बताया कि हनुमान को तो सब मानते हैं, उसमें हिन्दू मुसलमान या और किसी तरह का फर्क नहीं रहता और सब ही 'हनुमान जयन्ती' को मनाते हैं। हो सकता है अगर हम इस पर विचार करेंगे तो जिस साहस, आत्मसम्मान और लगन की हमें आवश्यकता है, वह हमें गांधीजी पर फिर से मनन करने पर मिल जायेगी।

१. सेवाग्राम पर्यटन केन्द्र नहीं तीर्थ है

तीस अप्रैल १९३६ के दिन गांधीजी वर्धा से पैदल चल कर सेवाग्राम पहुँचे। उस दिन सेवाग्राम आश्रम शुरू हुआ। उस घटना को पचास साल हो चुके हैं। इस बीच पूरा जमाना बदल गया। महाराष्ट्र सरकार अब २ अक्टूबर को आश्रम की स्वर्ण जयन्ती मनाना चाहती है। सरकार के सूचना और जनसम्पर्क मंत्री जिचकार का कहना है कि वे इस अवसर पर बीच पच्चीस 'बापू कुटियां' बनवाएंगे। ये कुटियां सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त होंगी। जयन्ती के बाद उन कुटियों को पर्यटकों के हवाले कर दिया जायेगा। इस देश की कोई सरकार बापू के नाम को पर्यटन व्यापार के लिए बरतने की कैसे सोच सकती है ? मंत्री जिचकार मज़ाक कर रहे हैं क्या ? या कहीं हम सब पगला तो नहीं गए कि हम पवित्र और बेहूदा में फर्क करना भूल गए हों ? मंत्री जिचकार कहना क्या चाहते हैं ? शायद वे जानते हों कि 'बापू कुटी' सेवाग्राम आश्रम में बनी उस झोंपड़ी का नाम है जहाँ रह कर बापू ने इस देश में नई जान फूँकी थी। मंत्री जिचकार बीच-पचीस या इससे ज्यादा 'बापू कुटिया' कैसे बनवाँएगे ? और यह 'सभी आधुनिक सुविधाओं से युक्त' बापू कुटी क्या होती है ? मंत्री जिचकार के दिमाग में शायद गोवा और केरल के समुद्र तटों पर अमीर पर्यटकों के लिए बनीं मछुआरों की नकली लेकिन सुसज्जित झोपड़ियाँ बैठी हुई हैं। उन्हीं महंगी झोपड़ियों की तरज़ पर शायद मंत्री जिचकार बापू कुटियों का व्यापार चलाना चाहते हैं। आजकल हम धर्म निरपेक्ष हैं। अच्छे बुरे, पवित्र अपवित्र में भेदभाव करने की अब हमें जरूरत नहीं रही। इन सब बातों को भूल कर हम सिर्फ पैसा कमाने के तरीकों पर विचार करने के लिए मुक्त हैं। इसीलिए शायद युवा मंत्री जिचकार सेवाग्राम आश्रम की जयन्ती पर बापू के पवित्र नाम का व्यापार करने की सोचने लगे हैं। हमारे युवकों के दिमागों पर धर्मनिरपेक्षता का यह असर होता है तो शायद हमें इस नीति के बारे में ही एक बार फिर सोच लेना चाहिये।

सेवाग्राम में ग्रामीण भारत के ठीक बीच में रहने में गांधीजी का मुख्य उद्देश्य यह था कि वे आम देहातों की जीवन पद्धति और उसमें आने वाली मुश्किलों को ठीक से समझ सकें। दो साल पहले गांधीजी की सलाह पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अखिल

भारतीय ग्रामोद्योग संघ की स्थापना की थी। ग्रामोद्योग संघ और अखिल भारतीय चरखा संघ दोनों का उद्देश्य ग्रामीण जीवन की तकनीकी और आर्थिक व्यवस्थाओं को समृद्ध करना था। आशा थी कि यह दोनों संघ ग्रामीण जीवन को मजबूत करने के लिए आवश्यक शोध कार्य करेंगे और इस काम के लिए जरूरी संस्थाओं का विकास करेंगे। संघों के काम में सहायता करने के लिए गांधीजी ने बहुत सारे बड़े वैज्ञानिकों और तकनीकी विशेषज्ञों को न्योता था। उनमें से बहुत सारे खूब जोश से इस काम में जुड़े भी थे। दो साल बाद गांधीजी ने ग्रामीण भारत में सार्वजनिक शिक्षा सुलभ बनाने के लिए 'नई तालीम' आन्दोलन शुरू किया था। सेवाग्राम इस आन्दोलन का भी मुख्यालय बना। उस समय खेती से सम्बन्धित मसलों पर कोई काम शुरू नहीं किया जा सका था। समझा जाता था कि जब तक आझादी नहीं मिलती तब तक खेती के बारे में कुछ विशेष नहीं किया जा सकता।

कताई-बुनाई, ग्रामोद्योग और नई तालीम के आन्दोलनों ने ग्रामीण जीवन की कुछ खास जरूरतों को पूरा करना था। १९३६ के बाद सेवाग्राम में ही गांधी सेवा संघ की स्थापना हुई। इस संघ का उद्देश्य किन्हीं खास जरूरतों को पूरा करना नहीं बल्कि गांधीजी के सपनों के समाज के रूप और दिशा पर विचार करने के लिये व्यापक मंच उपलब्ध करवाना था। गांधीजी जैसे समाज की कल्पना करते थे, वैसा समाज तो शायद तुरन्त नहीं बन सकता था। लेकिन संघ इस समाज के रूप को स्पष्ट कर, देश के लिए लक्ष्य उपस्थित कर सकता था। १९४० में गांधीजी ने इच्छा जाहिर की थी कि गांधी सेवा संघ को इस लक्ष्य को स्पष्ट करने के लिए और इसकी ओर देश को बढ़ाने में मदद करने के लिए एक स्नातकोत्तर शोध संस्थान के रूप में काम करना चाहिए।

गांधीजी द्वारा चलाए इन सब कामों की स्वर्ण जयंती पर उचित शायद यही हो कि सेवाग्राम एक बार फिर अपनी पुरानी भूमिका निभाने की कोशिश करे। अब सेवाग्राम से उतना व्यापक काम तो शुरू नहीं किया जा सकता। सेवाग्राम से होने वाले कामों को अब काफी सीमित और कुछ खास दिशाओं में परिभाषित करना होगा। शुरुआत सेवाग्राम में एक शोध केन्द्र बनाने से की जा सकती है। इस केन्द्र में सभी सुविधाएँ उपलब्ध हों। इसका मुख्य उद्देश्य देश की पारम्परिक जानकारी और आधुनिक विज्ञान की व्यवस्थाओं को बरत कर महात्मा गांधी के मूल विचारों के अनुसार ग्रामीण भारत की समृद्धि के लिए प्रयास करना होगा। केन्द्र को सामाजिक विज्ञान में भी ऐसे ही शोध कार्य करने होंगे। अपने शोध के आधार पर केन्द्र शायद ऐसी नई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएँ सुझा पाएगा जो भारतीय मानस और गांधीजी के प्रिय आध्यात्मिक मूल्यों के

अनुरूप समाज बनाने में सहायक हों। केन्द्र को शुरू से ही या कुछ सालों बाद से स्नातकोत्तर पढ़ाई का काम भी शुरू करना होगा। इस पढ़ाई के दौरान केन्द्र अपने विद्यार्थियों को केन्द्र में हो रहे शोध कार्यों से अवगत कराएगा और उस शोध की दिशा में विद्यार्थियों को प्रेरित करेगा। इस तरह का काम करना यदि ठीक लगता हो, तो इसका सबसे अच्छा तरीका यही होगा कि सेवाग्राम में एक विशेष शोध संस्थान स्थापित किया जाए जिसे विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त हो। इस तरह का संस्थान बना कर शायद सोवग्राम की प्रतिष्ठा की रक्षा की जा सके। सेवाग्राम को पर्यटन केन्द्र बना कर हम अपनी गरिमा भी खोएंगे, महात्मा गांधी की स्मृति की भी अवमानना करेंगे।

१०. भारतीय स्वतन्त्रता :
स्वतन्त्रता संग्राम की विजय या अंग्रेजों की देन ?

(भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली की २७ वर्ष पुरानी परियोजना 'टूवर्ड्स फ्रीडम : १९३७-४७' को लेकर उठे विवाद पर समाचार पत्रों में जब सन् २००० में बहुत चर्चा हो रही थी, तब इस लेख में धर्मपाल जी ने इस विवाद को एक नई दृष्टि से देखा।)

पिछले डेढ़ दो वर्षों के दौरान भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के समाचार पत्रों में, विशेषकर अंग्रेजी के समाचार पत्रों में, अत्यधिक चर्चा रही। यह चर्चा कुछ तो अधिकारों के मुद्दों व कुछ धन के गलत इस्तेमाल की बातों को लेकर हुई। लेकिन वर्तमान विवाद, परिषद की २७ वर्ष पुरानी 'स्वतंत्रता की ओर (१९३७-१९४७)' नामक परियोजना को लेकर है।

परिषद को इस २७ वर्ष पुरानी परियोजना के अन्तर्गत, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम से सम्बन्धित सन १९३६ से १९४७ के ऐतिहासिक दस्तावेजों को संकलित कर १२-१४ खण्डों में प्रकाशित करना था। ऐसा कहा जाता है कि इस परियोजना में अब तक ४-६ करोड़ रूपये खर्च हो चुके हैं। परन्तु इन २७ वर्षो में अभी तक मात्र दो ही खण्ड प्रकाशित हुए हैं। यह परियोजना यदि सन १९८० तक भी पूरी हो जाती, तब भी इसका कोई महत्त्व रहता। अब तो यह सिर्फ कागज काले करने जैसा काम ही रह गया प्रतीत होता है।

एक भारतीय की हैसियत से और परिषद का सदस्य होने के नाते भी (पिछले १५ सालों में परिषद का सदस्य होने का यह मेरा दूसरा मौका है) मेरा उन घटनाओं से वास्ता रहा है जिनका कि १९४७ में मिली हमारी स्वतंत्रता से सम्बन्ध रहा। जहाँ हममें से अधिकांश लोगों ने भारत की स्वतन्त्रता को भारतीय विजय के रूप में देखा, वहीं अंग्रेजों ने इसे ब्रिटेन से भारत को सत्ता हस्तान्तरण मात्र होना ही माना। बाद में, १९६० से १९८० के समय में अंग्रेजों ने अपने दृष्टिकोण को प्रमाणित करने के उद्देश्य

से, १९४२ से लेकर अगस्त १९४७ तक के ऐतिहासिक दस्तावेजों को, १२ बड़े बड़े खण्डों में 'भारत : सत्ता का हस्तान्तरण १९४२-१९४७' नामक ग्रंथमाला में प्रकाशित किया। जैसे ही इस ग्रन्थ के तीन चार खण्ड सामने आये, तो उस समय नव गठित 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद'ने अंग्रेजों के इस प्रस्तुतीकरण पर आपत्ति उठायी और १९७३-७४ में यह निर्णय लिया कि वह इसके प्रत्युत्तर में दस्तावेजी प्रमाणों के साथ स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ी घटनाओं का अलग ढंग से प्रस्तुतीकरण करेगी। जैसा कि स्पष्ट है कि इस निर्णय को लिये २७ वर्ष हो चुके हैं लेकिन अभी तक मात्र दो ही खण्ड प्रकाशित हुए हैं। जैसा कि अक्सर हमारे देश में होता है कि हम बेमतलब के ऊल-जलूल वादविवाद में पड़ जाते हैं और समयबद्धता एवं समय की प्रासंगिकता का ख्याल नहीं रखते, वही इस काम के साथ भी हुआ। यदि यह सारा कार्य १९८० के दशक के प्रारम्भिक वर्षों तक भी पूरा हो जाता, तो भी इसका कोई महत्त्व था। अब तो इतना समय बीतने के बाद इसका वह महत्त्व नहीं रहा है।

भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद का गठन सन १९७२ में किया गया था। उस समय के वातावरण के अनुसार इस परिषद के अध्यक्ष व अधिकांश सदस्य प्रगतिशील, मार्क्सवादी व कम्युनिस्ट मान्यताओं के थे। ये सभी विभिन्न विश्वविद्यालयों के विद्वान थे और १९७२ से १९९८ तक भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद में अधिकांशत, इन्हीं लोगों का बोलबाला रहा। वर्ष १९९८ के दौरान जब केन्द्र में भारतीय जनता पार्टी और अन्य दलों की मिलीजुली सरकार बनी, तब नयी परिषद बनाते वक्त इसमें व्यापक फेरबदल किया गया। इसमें नये सदस्य शामिल किये गये और आज से कुछ महीने पहले अध्यक्ष पद पर भी नई नियुक्ति हुई। यह तो माना ही जा सकता है कि इन नये सदस्यों में से अधिकांश तो परिषद के पूर्व कार्य से असन्तुष्ट हैं और उनमें से कुछ सदस्य भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में भारतीय जनता पार्टी के विचारों के अधिक करीब हैं।

अंग्रजों द्वारा प्रकाशित प्रथम तीन खण्डों को मैंने १९७२ में देखा था। उनमें जिस बात ने मेरा अत्यधिक ध्यान आकृष्ट किया, वह थी संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूझवेल्ट की अगस्त १९४२ के दौरान ब्रिटिश राजदूत को दी गई सलाह। राष्ट्रपति रूझवेल्ट ने ब्रिटिश राजदूत को कहा कि वह भारत के बारे में अधिक नहीं कहना चाहते क्योंकि इससे ब्रिटिश सरकार नाराज होती है। लेकिन फिर भी वह यह सलाह अवश्य देंगे कि ब्रिटेन भारत के साथ कुछ इस तरह का व्यवहार करे जिससे कि भारत भविष्य में 'पश्चिम की छत्रछाया' में बना रहे। ब्रिटिश लोग भले ही भारत एवं ब्रिटेन

के मामलों में संयुक्त राज्य अमेरिका की सलाह व हस्तक्षेप को अस्वीकार करते रहे हों, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राष्ट्रपति फ्रैंक्लिन रूझवेल्ट की इस सलाह को उन्होंने पूर्णरूपेण स्वीकार किया। इससे पहले जनवरी १९४२ में उस समय ब्रिटन के उपप्रधानमंत्री क्लेमेंट ऐटली ने मंत्रिमंडल की एक बैठक में इस बात पर गर्व जताया था कि ब्रिटेन ने भारत पर अपने दो सौ वर्षों के शासन के दौरान उसको तमाम तरह की ढांचागत व्यवस्थाओं का उपहार दिया और सभ्य बनाया है। वे इस बात के लिये आशान्वित थे कि भविष्य के भारत में भी ये सारी व्यवस्थायें उसी रूप में चलती रहेंगी।

लेकिन यह केवल राष्ट्रपति रूझवेल्ट या उपप्रधानमंत्री ऐटली ही नहीं थे जो इस विशिष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने की इच्छा रखते थे। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भी जनवरी १९२८ में गांधीजी के समक्ष घोषणा की थी कि 'मुझे लगता है कि पश्चिमी औद्योगिक सभ्यता को तो भारत को जीतना ही है, भले ही इसमें कुछ परिवर्तन और अनुकूलन करने पड़ें लेकिन कुछ भी हो, मुख्य रूप से औद्योगिक सभ्यता ही भारत का आधार होगी।' निश्चित ही उस समय, १९४६-४७ में एवं उसके बाद, सत्ता व शक्ति प्रतिष्ठानों में हजारों ऐसे भारतीय रहे होंगे जो पंडित नहेरू की इस मान्यता से सहमत रहे होंगे।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि हमारे देश के अधिकांश लोग अलग अलग रूप में महात्मा गांधी के नेतृत्व में चल रहे स्वतंत्रता के संघर्ष से जुड़े हुये थे। कुछ लोग स्वतंत्रता की लड़ाई अन्य तरीकों से लड़ रहे थे। इनके कारण, विशेषकर १९४५ के बाद, अंग्रेजों ने भी यह स्वीकार किया था कि यूरोपियन लोगों की बहुत बड़ी सेना के बिना भारत पर अब शासन करना असम्भव है। कुछ अन्य कारक भी थे, जिन्होंने ब्रिटन को भारत के साथ शान्ति स्थापित करने के लिए बाध्य किया। परन्तु जब १९४५ के बाद भारत की स्वतंत्रता को लेकर वास्तविक बातचीत शुरु हुई, तो भारत के पश्चिमी मानसिकता से प्रभावित उच्च वर्ग ने, पश्चिमी सहयोग तथा समर्थन से, भारत को 'पश्चिम की छत्रछाया' में बनाये रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस सब का अन्तिम परिणाम वही हुआ जिसकी अंग्रेज इच्छा रखते थे एवं दावा करते थे - जिसका अहसास हमें पिछले दशकों में हो रहा है - कि भारत में मात्र 'सत्ता का हस्तान्तरण' हुआ है, न कि भारत ने लड़ कर स्वतंत्रता प्राप्त की है। किस तरह हम धीरे धीरे अपने प्रारम्भिक उद्देश्य से ठीक विपरीत बात पर सहमत होते गये, इसकी गहराई से जाँच पड़ताल एवं खोज करने की आवश्यकता है। भारत के भविष्य को लेकर हमारी कल्पना तथा

आत्मविश्वास के विखण्डित होने के सन्दर्भ में इस तरह की खोज के परिणाम अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होंगे।

गत आधी शताब्दी से हमारे राजनीतिज्ञ, प्रशासक और बुद्धिजीवी, सभी इस विरासत में मिली 'सत्ता हस्तान्तरण' की व्यवस्थाओं के पाये बन गये हैं। इसके चलते वास्तव में आज हमारी यह दशा हो गयी है कि हम इसी इंतजार में रहते हैं कि कोई शक्तिशाली पश्चिमी दुनिया से आये और हमारे प्रति सहानुभूति व्यक्त करे, हमारी पीठ थपथपाये और हमारे लगातार बढ़ते जा रहे भीख के कटोरों को भरता रहे। भारत के सामान्य लोग जो स्वतंत्रता संग्राम की रीढ़ थे, उन्हें हमने १९४७ के बाद से, उनके खेतों खलियानों में, कलकारखानों में वापस धकेल दिया और उन्हें कठिन परिश्रम करने का आहवान करके यह आश्वासन दिया कि भारत की सारसंभाल की जिम्मेदारी हमारी है, उनकी नहीं।

अपने आप को इस देशका मालिक बना लेने के बाद हम पश्चिम के शक्तिशाली लोगों के इंतजार में पलक पांवड़े बिछाये खड़े रहते हैं - जैसे आज हम दुनिया के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति का स्वागत करने के लिये खड़े हैं। हम इस इंतजार में हैं कि कब हमें उसकी सहानुभूति मिलेगी, उससे ज्ञान प्राप्त होगा तथा वह दया दिखा कर हमें कुछ दे जायेगा और उसके बलबूते पर हम अपनी समस्याओं का हल ढूँढ लेंगे, इत्यादि। या तो यह स्थिति रुकनी चाहिये या फिर हम सबको चुल्लूभर पानी में डूब मरना चाहिये। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि भारत की (कम-से-कम) ७५ प्रतिशत जनता को इन सरीखे लोगों के आनेजाने तथा इस तरह के आडम्बरपूर्ण तमाशों में जरा भी रुचि नहीं है। न ही उन्हें उन लोगों को मिली इस तरह की भीख से कोई मतलब है जो भारतीय समस्याओं का हल पश्चिम के रास्ते चलकर प्राप्त करने का दिवास्वप्न देखते हैं और वास्तव में राष्ट्रपति रूझवेल्ट द्वारा घोषित पश्चिम की 'छत्रछाया' में रह रहे हैं।

यह स्पष्ट है कि जिस उद्देश्य से 'स्वतंत्रता की ओर' परियोजना का आरम्भ १९७३-७४ में किया गया था, वह उद्देश्य तो वर्षों पहले ही समाप्त हो गया है। भारतीय स्वतंत्रता-संघर्ष में ब्रिटिश दृष्टिकोण पर आपत्ति उठाना अब कोई मायने नहीं रखता। वर्तमान में हमारे सामने अन्य विविध गम्भीर प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं, जिन पर तत्काल अध्ययन और विश्लेषण की आवश्यकता है। लगभग एक वर्ष पूर्व, भारतीय अनुसंधान परिषद की एक बैठक के समय मैंने कुछ सदस्यों के साथ, बैठक के बाहर अनौपचारिक बातचीत में, यह सुझाव दिया था कि इस परियोजना को शीघ्र ही समाप्त कर देना चाहिये

क्योंकि अब यह किसी भी उद्देश्य को पूरा नहीं करती है। इस परियोजना से जुड़े विभिन्न विद्वानों के कार्यों को - उनके दृष्टिकोण के अनुसार - अच्छा ही माना जाना चाहिये, लेकिन चूंकि जिस उद्देश्य को लेकर यह परियोजना शुरू हुई थी, वह उद्देश्य ही अब शेष नहीं रहा है, इसलिये अब यह अच्छा ही होगा कि इन ३०,०००-४०,००० पृष्ठों के दस्तावेजों को १०-१२ बृहद् खण्डों में प्रकाशित करने के बजाय, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के अभिलेखागार में रख दिया जाये। किसी के पास न तो इतना समय ही होगा और न इतनी शक्ति ही कि वह इनको पढ़ सके; यहाँ तक कि इनकी समीक्षा करना भी सम्भव नहीं होगा। लेकिन उस समय मैंने जो कुछ कहा था, उस पर ध्यान नहीं दिया गया। आज स्थितियों में बदलाव को देखते हुए मेरा यह सुझाव है कि इस परियोजना को निश्चित रूप से अब बन्द कर देना चाहिये।

११. सूखा भगाने कि लिये क्या करना होगा ?

अभी देशव्यापी सूखे की जो बात भारत में चली है वह एकदम नई नहीं है। पिछले १५०-२०० बरसों से अंग्रेजी राजतंत्र की स्थापना से हमारे देश की सब तरह की व्यवस्थायें टूटी हैं व कहीं कहीं कठिनाई से अपने को बचाने में लगी हैं। हर दो चार बरस में ऐसे बड़े सूखे आते रहते हैं। इनमें अंसख्य बच्चे, स्त्री, पुरुष तो तरह तरह से समाप्त होते ही हैं, जो बचते हैं उनकी दुर्बलता पीढ़ी-दर-पीढ़ी बढ़ती जाती है। और ऐसे ही हमारे गाय, बैल, व दूसरे जीव, वन इत्यादि पिछले १५०-२०० बरसों से गहरी गिरावट में ही जा रहे हैं।

लेकिन सूखे और बारह वर्ष के दुर्भिक्षों का महाभारत काल में भी वर्णन है। हो सकता है यह महाभारत काल का वर्णन किसी एक ही १२ वर्ष के दुर्भिक्ष का वर्णन हो। इसमें विश्वामित्र जैसे ऋषि को भी भूख प्यास से पीड़ित होकर एक कुत्ते की हड्डी की चोरी करनी पड़ती है। सम्भव है ऐसा कई बार हुआ हो। विस्तृत भारतीय सभ्यता में ऐसा कभी कभी हो जाना आश्चर्य की बात नहीं है।

लेकिन आज का सूखा और इसके पहले डेढ़ दो सौ बरस पूर्व होने वाले सूखे कुछ अलग अलग तरह के हैं। पहले सूखों में हमारे स्थानीय साधन व व्यवस्थायें इन कभी कभी होने वाली विपत्तियों में से हमें पार करा देती थी। और एक अच्छी बरसात बीतते ही पहले वाली खुशहाली, उपज, एवं हँसी खुशी वापस आ जाती थी। इसका एक बड़ा कारण यह भी रहा कि भारत अलग अलग सांस्कृतिक व प्राकृतिक क्षेत्रों में व्यवस्थित था और इन क्षेत्रों की व्यवस्थायें कुएँ, तालाब, वन, दक्षिण के प्रदेशों की ऐरी; उत्तर के जोहड़, रजवाहे और हिमालय से निकली नदियां व महानदियां जैसे गंगा, यमुना, पंजाब-हरियाणा की नदियां, ब्रह्मपुत्र, इरावती, सरयू, शारदा, गंडक इत्यादि नदियां हमेशा ही पानी से परिपूर्ण होती थीं । यह सब भी पिछले ५०-१०० बरसों में काफी हद तक अस्तव्यस्त हो गया है।

हमारे यहां के कुएं पिछले १००-१५० बरसों में सूखने शुरू हुए। मुख्यत: इनका सूखना व काम का न रहना पिछले ४० बरस का है। उनके पानी के स्रोत कम होते गये,

बहा हुआ जो वर्षा का पानी आता था वह सडकों, रेल, बांधों इत्यादि ने रोक दिया। तालाब, झीलें व जोहड़ भी इसी तरह सूखते चले गये। इनका पानी खराब होता है, यह कहकर सरकारी स्तर पर इन्हें बन्द करवा दिया गया और इनके स्थान पर जहाँ तहाँ नलकूपों का आमतौर पर गंदा पानी दिया जाने लगा। दिल्ली में तो नलकूपों का पानी अक्सर गंदा है इसकी पूरी सार्वजनिक मान्यता है।

पानी के साधन व उनके उपयोग पर भी पश्चिमी आधुनिकताओं व हमारी व्यवस्थाओं की टक्कर में हम हारे। विक्षिप्त हुए। हमारे साधन छीनकर आधुनिकता को दिये गये। आधुनिकता का काम शहरों को चलाना (जैसे तैसे भी), कारखानों को चलाना व बड़ी बड़ी सिंचाई व्यवस्थाओं की देखभाल करना रहा है। बाकी देश पर, लोगों पर, ग्रामों पर और वहाँ की व्यवस्थाओं पर क्या बीतता है, इसको देश के राजतन्त्र ने अपनी जिम्मेदारी नहीं माना। पानी, उपजाऊ जमीन, व वनों को लेकर एक बड़ा युद्ध पश्चिमी आधुनिकता व भारतीयता में छिड़ा है। अभी तक तो भारतीयता ही त्रस्त हो रही है।

लेकिन यह कब तक चलेगा ? पिछले ५०-६० बरस में हमारे राजतंत्र ने देश को पुनः पश्चिम के विद्वानों एवं अर्थशास्त्रियों के जिम्मे छोड़ दिया है। इनमें पंडित जवाहरलाल नेहरू और आज के प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी भी विदेशियों से ही जुड़े रहे। इन दोनों में किसी तरह का देशप्रेम होते हुए भी, उनके मन में देश के लोगों के प्रति एक तरह का अलगाव व उपेक्षा का भाव ही रहा दीखता है।

लेकिन ये अकेले ही नहीं थे। समय बीतते बीतते इनके जैसे विचारों व दृष्टिकोण से प्रभावित आज ५-१० लाख लोग तो भारत में ऐसे हैं ही। संयुक्त राज्य अमरीका व युरोप में बसे, आधुनिकता को मानने वाले भारतीय अलग से हैं। लेकिन न तो भारत में पंडित जवाहरलाल नेहरू व अटल बिहारी वाजपेयी और उनको मानने वालों को यह आता है कि भारत के समाज व लोगों का शीघ्र ही पश्चिमीकरण हो जाये, जिससे वे बराबर नहीं तो व्यवस्था व तकनीकी के क्षेत्रों में पश्चिम के लोगों के कहीं तीन चौथाई करीब तो पहुँचे, और न ही यह काम भारत से बाहर बसे आधुनिक भारतीयों की आज की समझ में बैठा है। वैसे आज से १००-१५० बरस पहले जापान, चीन व कोरिया से पश्चिम गये युवाओं में यह समझ, शायद सन १८६५ के बाद से, आने लगी थी और उनमें से काफी ने पश्चिम का जो कुछ वे अपनी व्यवस्थाओं में खपा सकते थे, उसको खपा लिया।

हमारे समक्ष तो आज एक नया देवासुर संग्राम है। हो सकता है इसमें पश्चिम के

लोगों को आज 'देव' कहा जाये और भारतीयों को 'असुर'। लेकिन युद्ध तो है ही। और युद्ध के लिये जो करना पड़ता है, वह सब हमें करना पड़ेगा।

आरम्भ में तो हमें अपनी पुरानी व्यवस्थाओं, तकनीकों, साधनों और उनके उपयुक्त इस्तेमाल पर जाना ही पड़ेगा। चल पड़ने पर वे चाहे कितनी भी बदली जायें। हम अगर इन जाने हुए तरीकों को उपयोग में नहीं लेंगे तो आज जो यह विश्व बैंक, डब्ल्यू टी ओ (विश्व व्यापार संगठन), कम्प्यूटर लॉबी इत्यादि के गिरोह बने हैं, वे संसार में अपने से कमजोरों को रौंद देंगे और जैसे ब्रिटेन में लड़ाई के दिनों में (१९४०-१९४५) वहाँ के प्रधानमंत्री श्री विनस्टन चर्चिल चाहते थे कि पूरा जर्मनी एक चरागाह जैसा बन जाए वैसे ही यूरोप वालों को चाहे वे संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति क्लिंटन हों, या ब्रिटेन के प्रधानमंत्री हों, या यूरोप के अन्य कुछ देशों के राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री हों, यह ठीक ही लगेगा कि अगर एशिया व अफ्रीका के देश व लोग आसानी से बचाये नहीं जा सकते तो उन्हें सब सम्भव तरीकों से पृथ्वी पर से हटा दिया जाए। ये सब उनके कब्जे में आयी पृथ्वी पर बोझ हैं और उनको पूरा हटाना ही यूरोपीय दर्शन के अनुसार आवश्यक कदम है। पिछले ५०० बरसों में आस्ट्रेलिया, अमरीका इत्यादि में यूरोप ने ऐसा ही किया है।

हमें इस युद्ध को लड़ना है। लड़ना है तो इसकी तैयारी करनी पड़ेगी। अपनी आज से पाँच छह सौ बरसों पहले तक स्थापित विश्व सभ्यता का चित्र सामने रखना होगा, यह सभ्यता ४००-६०० बरस पहले तक कैसे समृद्धि से रहती थी, इस पर सोचना होगा। तब हमारी सभ्यता का विस्तृत क्षेत्र पश्चिमी सभ्यता के संसार से व दूसरी अन्य सभ्यताओं से कैसा सम्बन्ध रखता था, क्या बौद्धमत की व्यवस्थाओं व सीखों ने इन बड़ी सभ्यताओं को अपने अपने तरीके से अलग अलग जीवित रहने की सीख दी थी, यह समझना होगा। हमारा पड़ोस ५०० बरस पहले और अभी भी यूरोप व अमरीका नहीं है। सन् १५०० तक इस पृथ्वी पर बसा संसार कुल मिलाकर ठीक ही चलता था, ऐसा दीखता है।

हमारे स्वतन्त्रता सेनानियों और उनकी सन्तानों ने पश्चिम के सामने घुटने ट्रेक दिये हैं। यह उतना ही बड़ा पाप है जितना कि महात्मा गांधी बिहार में हुए १९३४ के भूकम्प के कारणों को कहते थे। एक तरह से हमारा पाप तो अधिक भयंकर है कि हमने अपनी ऐतिहासिक व पौराणिक धरोहर को भुला दिया और हमारे पड़ोसी व सम्बन्धी कौन हैं, इसको भी भूल बैठे। हमने खुली आंखों, एक तरह के आज के राक्षसों - पश्चिमी सभ्यता राक्षसी के अलावा और क्या कही जा सकती है - के साथ बेमेल

गठबन्धन - सा कर लिया है। उनके जादू को हमने अपने ऊपर छा जाने दिया है और बेहोशी जैसी हालत में उनके पीछे पीछे चल रहे हैं। ये स्वतन्त्र लोगों के रास्ते नहीं हैं।

अगर हमें यूरोप व संयुक्त राज्य अमरीका की तरह बड़ा राक्षस ही बनना हो, तो उनसे कहीं आगे बढ़कर कुछ ऐसा काम करें जिससे वे हमारा लोहा मान जायें। ५-१० क्षेत्रों में तो वे जापान, चीन इत्यादि को अपने बराबर का आज मानते ही हैं।

हमारे सामने दो बड़े प्रश्न हैं। मुख्य प्रश्न तो यह है कि हमारे साधारण जन (८० करोड़, ९० करोड़, ९५ करोड़) कैसे अपनी शक्ति, साधनों और बुद्धि के बल पर आज सुखी जीवन जी सकते हैं। भारत व भारत के उत्तर और पूर्व व दक्षिण के वासी बुद्धि, कौशल व दक्षता में संसार की दूसरी सभ्यताओं के लोगों से कुछ आगे ही रहे हैं, यह तो अब तक का ऐतिहासिक सत्य है। इसमें प्रकृति उनकी सहायक रही। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि सन् १७५० तक चीन व भारतीय क्षेत्र पृथ्वी पर होने वाले औद्योगिक उत्पादन का ७३ प्रतिशत उत्पन्न करते थे, यह आज के विद्वानों की खोज व मान्यता है। वे साधारणतः हमेशा ही ऐसा जीवन जीते थे, सब तरह की ये कलाएँ वे जानते हैं (आज चाहे वे धूमिल हुई हों) इसमें कोई शक नहीं है।

इस डेढ़ सौ दौ सौ बरस के भंयकर बदलाव ने (जब उनमें से आधे भूख, प्यास और तरह तरह की बीमारियों से मारे गये) उन्हें शारीरिक व बौद्धिक दृष्टि से कमजोर कर दिया है। और उनकी भूमि, वन, पानी, मिट्टी इत्यादि साधन या तो उनसे छीन लिये गये हैं या उन पर रुकावटें खड़ी कर दी गयी हैं।

आज से १००-१४० बरस पहले तक हर परिवार का अपनी स्थानीय बस्ती, गाँव कस्बे इत्यादि पर अलग अलग तरह का अधिकार और उस के सापेक्ष कर्तव्य थे। हर एक का वहां का निवासी होने के नाते वहां की बस्ती की जमीन पर घर, आँगन, पिछवाड़ा इत्यादि बना लेने का अधिकार था। वह वहाँ निवासी व नागरिक था, कोई दास व किरायेदार नहीं (जैसा कि यूरोपीय सभ्यता के अधिकांश लोग थे)। यह मान्यता और इसके अनुसार व्यवस्था सारे देश के जन को जन्मसिद्ध अधिकारों के नाते फौरन ही वापिस मिलनी चाहिये। इसी तरह से जहाँ जो रहता है, वहाँ के पानी, मिट्टी, जमीन, वन और प्राकृतिक सम्पदा पर उसका सब के बराबर अधिकार रहा है और यह दोबारा स्थापित होना चाहिये। ऐसे अधिकारों के स्थापित होने पर ८०-९० प्रतिशत भारतीय जन की दैनिक समस्याओं का हल निकल आयेगा और उनका समाज तब ऐसी व्यवस्था करने लगेगा कि सब के जीवन यापन के लिये वहाँ के साधनों की उपलब्धता के अनुसार उपयोग होगा। तभी हर स्थान के लोग अपनी मिट्टी, पानी, वन, सम्पदा इत्यादि की रक्षा

करने लगेंगे, उसका आज का विनाश रोकेंगे, वह घटे नहीं, इसका इंतजाम करेंगे और मुसीबत के समय सब का काम चल जाये, इसका ध्यान रखेंगे। यही भारतीय तरीका था और यही महात्मा गांधी के ग्राम स्वराज का असली आधार और चित्र है। महात्मा गांधी की व्याख्या में स्थानीयता और पड़ोसी पर ही स्वदेशी टिका है। गांधीजी के अनुसार हमने पिछले १००-२०० बरसों में जो पश्चिम से लिया है, वह सब एक बार तो पूरा त्याग देना चाहिये। बाद में इसमें से किसी की आवश्यक़ता होगी, तो अपने हिसाब से उसे समझ लेंगे।

भारत के ग्रामों, कस्बों व दूसरी छोटी बस्तियों को अंग्रेजों द्वारा स्थापित राजतंत्र के दासत्व से मुक्त होने पर ही देश का साधारण जीवन यापन चल सकेगा। आज के राजतंत्र की रचना ही इस दृष्टि से की गयी थी कि भारत में कहीं भी भारतीय अपने बल व बुद्धि से कुछ भी न चला सकें। सन् १८०० में ही लन्दन ने अपने अंग्रेज नौकरों को बतलाया था कि वे भारतीयों को समझा दें कि जो कुछ उन्हें मिला है, वह अब अंग्रेजों की देन है। भारतीयों का अपना कुछ भी नहीं है।

इस आदेश को और इसमें से जो निकला है, उस सब को पूर्ण रूप से बदले बिना, भारत में किसी तरह का भी जीवनयापन साधारण जन के लिये सम्भव नहीं है। इसलिये राजतंत्र का जाल ग्रामों इत्यादि से जितना शीघ्र हटे, उतना ही श्रेयस्कर है।

स्वतन्त्र समूहों, ग्रामों, कस्बों, बस्तियों, छोटे पुराने नगरों को दोबारा से पहले अपने क्षेत्र के, फिर प्रदेश के और फिर देश के राजतंत्र व उसकी व्यवस्थाओं की रचना करनी होगी। वह रचना क्षेत्रों, प्रदेशों इत्यादि में आज एक दूसरे से कुछ भिन्न रहे, यह सम्भव है। किन्तु क्षेत्रों, प्रदेशों इत्यादि की दृष्टि से उनके काम की भी होगी। ऐसी पुनर्रचना देश का भावी प्रतीक होगी, जो देश के स्वभाव, प्रकृति और सम्भावनाओं के अनुरूप होगी।

आज जो बच्चों को उनके घरों व समाज से अलग करके, यूरोप व अमरीका की बनायी मान्यतायें प्रतिष्ठित की जा रही हैं, हमारा उनसे किसी तरह का सम्बन्ध नहीं बैठता। यूरोप में २०० बरस पहले वहाँ के बच्चों के साथ ४-६ बरस की उम्र से जो अत्याचार होता रहा, यह मान्यता उसी का एक तरह का पश्चाताप है। यूरोप के लिये ऐसा पश्चाताप आवश्यक ही था। लेकिन हमारे ग्राम, समाज, कामकाज, और जीवनयापन के तरीके तो भिन्न हैं, उनमें बच्चे भी उतने ही भागीदार हैं जितने बड़े। क्यों कि उन्हें साधारणत: जिस समाज व स्थान पर वह पले और बड़े हुए, उसे चलाना है इसलिये बचपन से ही उन्हें उसे समझते रहना है, उसमें अपनी समझ व बुद्धि से

आवश्यक बदलाव सोचने हैं इसलिये उन्हें समाज की दिनचर्या से दूर रखना एक बड़ी मूर्खता होगी।

ऐसा ही सम्बन्ध हमेशा से हमारे पड़ोसियों के साथ रहा है चाहे वे बराबर के ग्राम के हों, व बराबर के देश के जैसे कि दक्षिण पूर्व एशिया, पूर्व और मध्य एशिया व पूर्वी व दक्षिण अफ्रीका के देश हों। उनके साथ हमारी हमेशा से सहकार व भागीदारी चलती रही है जो यूरोप के बढ़ते आधिपत्य के कारण टूटती गई। यह सम्बन्ध जितने शीघ्र पुनः स्थापित हो, उतना अच्छा है।

समूहों और क्षेत्रों के सब तरह के फैसले अन्त में मिलकर के ही पक्के और प्रभावशाली बनते हैं, यह हमें दोबारा से समझना पड़ेगा। भारत व प्रदेशों की राजधानी व वहाँ स्थापित अलग-अलग संसद, विधान सभाएँ इत्यादि इस तरह के फैसले करने के योग्य नहीं है। लेकिन देश ने चूंकि उन्हें वहां स्थापित किया है, इसलिये ग्रामों, क्षेत्रों, व प्रदेशों में किये गये निश्चयों को समझना, जरूरी होने पर सुझाव देना और प्रतिष्ठा दिलाना, उसका काम है। इसी तरह से इन संसदों इत्यादि को फौरन ही उस काम में लगाना होगा जो सन् १९४७ में छूट गया। जो राजतंत्र सन् १९४७ में पूरी तरह से बदला जाना चाहिये था, वह अब तो एक दो बरस के अन्दर नये आधारों और मान्यताओं पर बना लिया जाये।

इसी तरह के कदम हमें विदेशों से रिश्ते और रक्षा और तकनीकी नीतियों के सम्बन्ध में उठाने होंगे। पिछले २०० बरसों में बने सम्बन्धों, तरीकों इत्यादि को आवश्यकता के अनुसार बदलना होगा और उनकी जगह जो बनेगा उसे प्रतिष्ठित करना होगा। यह काम केवल राजतंत्र व व्यवस्था में लगे लोगों का नहीं है। इसमें तो जनसाधारण को आगे आना पड़ेगा। अलग क्षेत्रों, प्रदेशों, दूसरे देशों इत्यादि से नये सम्बन्ध कायम करने पड़ेंगे, और ऐसा करने में देशके सन्तों, संन्यासियों, विद्वानों और आचार्यों से कहना पड़ेगा कि वे इसी नयी स्थापना में रास्ता दिखलायें और उनमें से जो स्वयं घूम घूम कर, देशदेशांतर के लोगों से वार्तालाप कर सकते हैं, वे उसमें लगें, इसी तरह भारतीय युवा वैज्ञानिकों का जो पश्चिम को कुछ समझने लगे हैं और व्यापारियों इत्यादि का जिनका इन देशों से परिचय है और वहां की भाषा समझते हैं, इस आपस के सम्बन्ध बनाने में बड़ा योगदान होगा।

ऐसा नहीं कि ऐसी सोच पिछले ७०-८० बरस में नहीं हुई। सन् १९४५ तक तो देश ऐसे ही सोचता था। उसके बाद भी बहुत से लोग, समूह इत्यादि समय समय पर ऐसा सोचते रहे। सन् १९७७ में ही ऐसी बात उठी कि देश के आचार्य, सन्त इत्यादि

देश के प्रश्नों पर मिलकर विचार करें और जहां जहां आवश्यक हो वहां वहां नयी दिशा सुझाएँ। लेकिन कई कारणों से उस समय ऐसा नहीं हो पाया। इस सभा में श्री जयप्रकाश नारायण के रहने की भी बात थी।

अगर समूह व ग्राम से लेकर देश तक और देश से भी अधिक भारतीय सभ्यता के इस विशाल क्षेत्र में हम दोबारा से नया समाज व सभ्यता बनानी शुरू करेंगे तो हमारे रास्तों में जो अड़चने हैं, वे हटती चलीं जायेंगी और न केवल सूखा ही जायेगा बल्कि इन दो सौ चार सौ बरसों में जो कूड़ा करकट व सड़न देश में जमा हो गयी है, वह भी शीघ्र ही दूर होती चली जायेगी। ऐसा होने पर पड़ोस के देश भी हम पर हँसना बन्द करके हमारा सम्मान करने लगेंगे और तब हमारे व उनके बीच करीब के सम्बन्ध बनने लगेंगे। तभी पश्चिमी सभ्यता भी हम से नये सम्बन्ध कायम करने के सन्दर्भ में सोचेगी। तब हम उनकी जूठन के पात्र नहीं रहेंगे, बल्कि उनके बराबर माने जाने लगेंगे। यह बदलाव ही हमारे पुनरुत्थान का प्रमाण होगा।

१२. पर्यावरण के नाम पर उपनिवेशवाद

अमेरिका की 'खोज' के बाद तीन शताब्दियाँ इसी यूरोपीय खोज के विस्तार के रूप में थीं, जिनमें विजित जातियों पर नियंत्रण करने का विश्वव्यापी अभियान चला। उन्नीसवीं शताब्दी में विजेता यूरोप को महसूस हुआ कि जिन लोगों की उन्होंने 'खोज' की, उनकी आत्मा को मुक्त करने और उन्हें ईसाइकरण के माध्यम से प्रकाश की ओर ले जाने की आवश्यकता है। दुनिया के ईसाइकरण के इस अभियान के तुरन्त बाद कार्ल मार्क्स ने १८४८ में कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो पेश किया और दुनिया को मार्क्सवादी-लेनिनवादी दृष्टि दी।

आज अब ईसाई मिशनरियों का अभियान कुछ फीका पड़ गया है और मार्क्सवादी लेनिनवादी दृष्टि एकदम अमान्य हो गई है, तो पश्चिम या पश्चिमवादी लोगों को अब एक नए भावनात्मक मुहावरे की जरूरत महसूस हो रही है। पश्चिमी मनुष्य का आक्रामक स्वभाव, समस्याओं का हल निकालने की खुद की क्षमता के बारे में उसकी भ्रान्ति और अपने कार्यों के बारे में प्रभावशाली तस्वीरें गढ़ने में उसकी कुशलता से ही आगे चल कर इस तरह का भावनात्मक नारा उसे मिल सकता था। देवता भी पश्चिम का साथ देते नजर आ रहे हैं, इसलिए पश्चिम को कोई ज्यादा इंतजार नहीं करना पड़ा। यह नया मुहावरा या शब्द 'पर्यावरण' है। और कुछ ही महिनों के भीतर ब्राझिल के रियो डि जानेरो नगर में इसकी ताजपोशी होने वाली है। उसके बाद यह दुनिया में सर्वमान्य बादशाह घोषित कर दिया जाएगा।

पर्यावरण, पारिस्थितिकी, बायोस्फेयर जैसे शब्दों की गूँज १९७० के बाद से ज्यादा तेज होती रही है। लेकिन बायोस्फेयर को होने वाली हानि, पर्यावरण के प्रदूषण और कृषि, पशुपालन एवं वनों के दोहन के आधुनिक तरीकों से होने वाले नुकसान के बारे में कुछ कल्पनाशील व्यक्ति इस सदी के चौथे दशक से ही चिन्ता व्यक्त करते रहे हैं। महात्मा गांधी ने इन प्रतिक्रियाओं के बुरे परिणामों की कल्पना शायद १९०९ में ही कर ली थी। यूरोप में भी बहुत से लोग १९ वीं शताब्दी के शुरू से ही, बिजली से चलने वाली मशीनों द्वारा औद्योगिक उत्पादन का विरोध करने लगे थे।

हालांकि अभी पर्यावरण की ताजपोशी होना बाकी है, फिर भी बहुत से देश अपने नेताओं, सरकारी और गैरसरकारी संगठनों के माध्यम से सामूहिक रूप से या राष्ट्रीय स्तर पर इस महान ताजपोशी के लिये तैयारियाँ कर रहे हैं। इस तरह से एक कोशिश १६ से २० दिसम्बर, १९९१ के बीच फ्रांस के राष्ट्रपति की व्यक्तिगत पहल से पेरिस में हुई। इसमें भारत समेत दुनिया से साठ देशों से छह सौ से आठ सौ लोग इकट्ठे हुए। इस सम्मेलन में क्योंकि गैरपश्चिमी सदस्य पहले से तैयार प्रस्ताव के प्रारूप से सहमत नहीं थे, इसलिए उन्होंने इस विषय पर अलग से अपना एक व्यक्तव्य भी जारी किया। इस पेरिस सम्मेलन के सिलसिले में यह भी कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र के एक प्रतिनिधि ने एक प्रतिष्ठित भारतीय पर्यावरणविद को सार्वजनिक रूप से डांट लगाई और कहा कि जो आंतरराष्ट्रीय व्यवस्था सदस्यों को लगातार (दुनियाभर की यात्राओं के लिए) पैसा देती है, उसी व्यवस्था के खिलाफ बोलने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। झिड़की इतनी तीखी थी कि भारतीय प्रतिनिधि को लगा जैसे उसे निकृष्ट मानवों के वर्ग में डाल दिया गया है और इसलिए उन्होंने अगले दिन औपचारिक सम्मेलन में ही अपनी भावनाएँ व्यक्त कर दीं।

विश्व पर्यावरण का जादू इतना ताकतवर है कि आठ महीने तक चलने वाले भारत-जर्मन मेले में भी पर्यावरण पर विशेष ध्यान दिया गया है। लेकिन नीधरलैण्ड के उत्साही लोगों ने पर्यावरण के बारे में एक अतिरिक्त दृष्टि अपना ली है। उन्होंने भी फ्रांसीसियों की तरह राष्ट्रीय और आंतरराष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किए लेकिन उन्होंने गैरपश्चिमी देशों के विद्वानों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी न्योता दिया ताकि वे इस विषय के बारे में उनके नज़रिए को भी जान सकें। इसी के नतीजे के रूप में १२८ पन्नों की वह पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम 'दक्षिण का एक दृष्टिकोण-पूँजी से पर्यावरण का पतन कैसे होता है : नीदरलैण्ड में पर्यावरण सम्बन्धी सन्तुलन' रखा गया है। पुस्तक के लेखक रियो डि जैनेरो नगर के सरकारी प्रशासक और सांस्कृतिक नृ-शास्त्री मर्शियोगोमेज़, इंडोनेशिया में पर्यावरण सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करने वाले चंद्र किराना, तंजानिया के सामी सोंगनबेले और भारतीय समाजशास्त्री और गांधीवादी राजीव वोरा हैं।

'दक्षिण की दृष्टि' की अपनी खूबियाँ है, मगर हॉलैण्ड के बारे में जो तथ्य इसमें दिये गये हैं, वे सचमुच डरावने हैं। पुस्तक के अनुसार नीदरलैण्ड में शहरों के गंदे नालों से साफ किया हुआ पानी तो पीने के लिए सुरक्षित है लेकिन बादलों से गिरने वाली बूंदें सुरक्षित नहीं हैं। अगर हम भारतीय इस डच अनुभव के एक दो दशक ही पीछे हैं तो हमें

अपनी प्राचीन बावड़ियों को भूल जाना होगा, जहां सदियों से बारिश का पानी इकट्ठा करके सालों साल तक इस्तेमाल होता है। पुस्तक के अनुसार वायुमंडल में एसिड की मात्रा बहुत ज्यादा है इसलिए 'इससे कोई फायदा नहीं कि आप अपने बालों को एसिड सें बचाने के लिए परेशान हों, एसिड तो आपके बालों में आएगा ही। मगर आप हर वक्त नल से आने वाले पानी से नहा कर जैविक रूप से घुलनशील शैंपू से तो बाल साफ कर ही सकते हैं।' इसके अलावा एसिड युक्त पानी, जो पेड़ों पर गिरता है और जल्दी से रिस कर नीचे नहीं जाता बल्कि धीरे धीरे पेड़ों के अन्दर चला जाता है, जिससे पेड़ या तो मर जाते हैं या मर्माहत होते हैं। यहां यह बात याद रखने की है कि आठवें दशक में यूरोपीय और जर्मन रुचि पर्यावरण में तब जगी जब उन्होंने पाया कि एसिड वर्षा से कुछ पेड़ ही नहीं, पूरे जंगलों को नुकसान हो गया है।

पश्चिम की चिन्ता का एक और मुद्दा है - भारी मात्रा में घरों में पैदा होने वाला कचरा। हॉलैण्ड में ही हर साल एक परिवार में औसतन तीन हजार किलोग्राम कचरा बनता है। क्योंकि हॉलैण्ड में माँस और दूध का सबसे ज्यादा काम होता है, इसलिए वहाँ बड़ी मात्रा में पशु होने की वजह से काफी ज्यादा गोबर भी पैदा होता है। हॉलैण्ड की आबादी डेढ़ करोड है, जबकि वहाँ पशुओं की संख्या बारह करोड़ है। यानी एक मनुष्य पर आठ जानवर है। और हर आठ पशुओं पर सामान्यत: साठ हजार क़िलोग्राम गोबर सालाना पैदा होता है। इन जानवरों को जितने पशुआहार की जरूरत होती है, उसका दो तिहाई हिस्सा ब्राजील और थाइलैण्ड जैसे देशों से आयात किया जाता है। इन देशों को अपनी आर्थिक तंगी के कारण चारा निर्यात करना पड़ता है। इसका परिणाम होता है कि एक ओर तो हॉलैण्ड में गोबर के अंबार लग जाते हैं और दूसरी ओर ब्राजील और थाइलैण्ड जैसे देशों में चारा लगाने के बाद इतनी जमीन ही नहीं बचती कि उस पर पर्याप्त अनाज उगाया जा सके और उनकी जमीन जैविक खाद से भी वंचित रह जाती है। खुद हॉलैण्ड में मात्र चौबीस लाख हेक्टेयर जमीन जोती जाती है जब कि इस देश का कृषि उद्योग दूसरे देशों से चारा हासिल करने के लिए उनकी डेढ़ करोड़ हेक्टेयर जमीन की उपज पर कब्जा किए हुए है।

यूरोपीय विश्व में आशा की एक किरण दिखाई देने लगी है। इस तरह का एक संकेत है कि यूरोप अब जैविक खाद इस्तेमाल करने लगा है। लेकिन हॉलैण्ड में १९८६ में एक लाख आठ हजार किसान थे पर उनमें पारम्परिक खाद सिर्फ पाँच सौ किसान ही इस्तेमाल करते थे। बताया जाता है कि इस तरह की खाद की उत्पादकता केवल साठ फीसदी है। इसके अलावा ऐसे किसानों को सरकार वित्तीय सहायता नहीं देती; सामान्य

दरों पर कर्जे भी नहीं दिये जाते। इसलिए इस जैविक प्रणाली से उत्पादन की कीमत दो से तीन गुना ज्यादा हो जाती है।

इस पुस्तक का महत्त्व इस बात में है कि यह गैरयूरोपीय विश्व की निर्भरता और दयनीय स्थिति का परोक्ष रूप से एक चित्र खींचती है। मान भी लिया जाए कि अगले पचास सालों में यूरोप अपने औद्योगिक ढाँचे में परिवर्तन करेगा और पारम्परिक कृषि प्रणालियाँ अपनायेगा, तो भी गैरयूरोपीय विश्व की समस्याओं का इससे कोई हल नहीं होने वाला। उम्मीद करना तो ठीक है, लेकिन असल में आग्रह और कर्म ही निर्णायक होते हैं। गैरयूरोपीय तरीके से आग्रहपूर्वक उदाहरण पेश करना ही ऐसा रास्ता है जिससे यूरोपीय विश्व और गैरयूरोपीय विश्व के बीच एक किस्म का तालमेल या समता पैदा हो सकती है।

फिर भी, इस तरह के निश्चय और आग्रह के लक्षणों का ही पूरी तरह अभाव नहीं है। दिसम्बर में आयोजित पेरिस सम्मेलन में शामिल कुछ सदस्यों ने '१९९० के दशक के लिए नागरिकों की कार्य योजना' का प्रारूप दस्तावेज की प्रतिक्रिया में 'एजेंडा साउथ' पेश किया जिसकी भूमिका में कहा गया है :

'हमारे भविष्य की जड़ें पिछली पाँच शताब्दियों में तैयार की गई ज़मीन पर नहीं उगाई जानी चाहिए। इस दौरान उत्तर के शक्तिशाली राजनैतिक और आर्थिक अभिनेताओं ने, जिनमें आज जापान भी शामिल है, प्रकृति पर राक्षसी आक्रमण किए और यह सब प्रगति और विकास के नाम पर हुआ, जिससे करोड़ों सामान्य लोग अपने परिवेश से उखाड़ दिए गए। यह हमला आज भी जारी है और इसके कम होने के संकेत नहीं दिखते, बल्कि इसके विपरीत उत्तर के वही आर्थिक और राजनैतिक अभिनेता और अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली हो रहे हैं। अब वे अपना प्रभाव, तथाकथित, विश्व प्रणाली के बहाने, दुनिया के उन लोगों और क्षेत्रों तक फैला रहे हैं जो अब तक उनकी पहुँच से बाहर थे। पिछले पाँच सौ सालों में ये शक्तियाँ प्रकृति के प्रति उस दृष्टिकोण की ही उपज है जो पश्चिमी संस्कृति का अनिवार्य अंग है और जिससे पश्चिमी मनुष्य की पहचान बनती है। यह दृष्टि सभी महत्त्वपूर्ण गैरपश्चिमी संस्कृतियों के लिए एकदम पराई और अमान्य है।'

ये शक्तिशाली शक्तियाँ अब पश्चिमी सरकारों और वित्तीय संस्थाओं के मार्फत, अपनी गतिविधियों को जारी रखते हुए भी, पर्यावरण सम्बन्धी उपनिवेशवाद को जन्म दे रही हैं। हम इस नए उपनिवेशवाद का हिस्सा नहीं बनना चाहते। इन परिस्थितियों में बेहतर यही होगा कि दक्षिणी क्षेत्रों के पर्यावरण को उत्तर के नियंत्रण से मुक्त कर दिया

जाए ताकि पश्चिमी तरीकों और जीवनपद्धति से जो हानि होती है, उससे बचा जाए। पश्चिम को भी नई संवेदनशीलता का आदर करते हुए अपनी जीवन पद्धति में इस तरह के परिवर्तन करने होंगे कि पृथ्वी के पर्यावरण को कम नुकसान हो। दक्षिण के लोगों की अपनी समझ और जानकारी ने उन्हें सदियों तक पर्यावरण को स्वस्थ बनाए रखने में मदद की है। इन्हीं स्रोतों से आज की समस्या का हल ढूँढ़ा ज़ा सकता है, जिसमें पश्चिम शायद ही कुछ दे सकता है।

'एजेंडा साउथ' पर हस्ताक्षर करने वालों से कहा गया है कि वे सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र के विचार को रद्द कर दें, क्योंकि इस तरह का तंत्र उन्हीं पश्चिमी देशों के नियंत्रण में होगा जिनकी वजह से पर्यावरण को हानि हो रही है। विश्व बैंक जैसे आंतरराष्ट्रीय वित्तीय संगठनों को पर्यावरण के सिलसिलें में कोई भूमिका नहीं मिलनी चाहिए। सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र के बदले भौगोलिक और सांस्कृतिक आधार पर विभिन्न देशों के बीच क्षेत्रीय या द्विपक्षीय पर्यावरण संहिताएँ बनाई जानी चाहिए। दक्षिण के लोग ऐसे किसी भी सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र या संहिता को नामंजूर करते हैं जो उन पर थोपा जाए और जिससे उनका अपनी जीवनशैली के अनुरूप जीना और प्रकृति से रिश्ता जोड़ना सम्भव न हो। दक्षिण के सांगठनिक सिद्धांत दरअसल स्थानीय समाजों की आपसी हिस्सेदारी पर आधारित हैं। क्षेत्रीय या अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था इन इकाइयों के बीच तालमेल और सहमति के आधार पर ही बनाई जा सकती है। पर्यावरण के संरक्षण के लिए बनाए जाने वाले किसी भी कोष में, पश्चिम की हिस्सेदारी उस मुआवजे के रूप में होनी चाहिए जो पश्चिम की कार्यवाहियों की वजह से पर्यावरण को हुए नुकसान के बदले में दी जाएगी उस पर पश्चिम का कोई नियंत्रण नहीं होना चाहिए। इस एजेंडे पर गैरयूरोपीय सदस्यों के साथसाथ कई यूरोपीय सदस्यों ने भी हस्ताक्षर किए।

१३. अंग्रेज दासता : वरदान थी अथवा अभिशाप ?

बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मामलों में स्वदेश से बाहर की दुनिया पर निर्भर रहना अब हमारे दृष्टिकोण का अंग बनता जा रहा है। इसमें भी हम पश्चिम की पूंजीवादी, प्रजातांत्रिक, समाजवादी तथा मार्क्सवादी दुनिया का अधिक विश्वास करने लगे हैं। यह निर्भरता केवल नई तकनीक, कुशल व्यक्तियों तथा वित्त संसाधनों तक ही सीमित नहीं है परन्तु हमारे राज्य, समाज एवं व्यक्तिगत गतिविधियों से सम्बन्धित बाह्य सिद्धांतों तथा बौद्धिक निरूपण तक भी विस्तृत हो चुकी है और अगर मैं यह कहूं कि हमने स्वेच्छा और उत्साह से पश्चिम के आकर्षक शब्दों व मुहावरों के साथ अपने आपको बांध लिया है तो निश्चित् ही हमारी सभ्यता पर यह एक खेदपूर्ण आक्षेप होगा। यद्यपि मैं इतिहास का विद्यार्थी हूं परन्तु अपने देश के दीर्घकालिक इतिहास में मैं यह नहीं खोज पाया कि हमने अपने आपको कभी वेदों अथवा भगवद्गीता अथवा उपनिषदों अथवा मनुस्मृति अथवा गौतम बुद्ध अथवा आदि शंकर अथवा बसवेश्वर से इस प्रकार बांधा हो।

हमारे राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, दार्शनिकों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, सामाजिक तथा प्रतिपक्षी आन्दोलनों के नेताओं के लिये पश्चिम की शब्दावली शास्त्रीय बन गयी है। महात्मा गांधी के अनुयायी भी अब पूंजीवादी अथवा प्रजातांत्रिक समाजवादी अथवा मार्क्सवादी मुहावरों को अपना प्रकाशदीप समझते हैं। अब हम गांधी का मूल्यांकन करने के लिये न केवल रिचर्ड अटेनबरो की फिल्म 'गांधी' को प्रमाण मानते हैं बल्कि उपयुक्त टेक्नोलोजी की प्रशंसा के लिये एरिक शूमर तथा कृषि के विकास में रासायनिक उर्वरकों का विरोध करने के लिये मसानोबू फुकूओका द्वारा प्रयुक्त शब्दावली की खोज करते हैं। इसका एक परिणाम यह है कि खादी एवं ग्रामोद्योग का नेटवर्क बाजार की खोजों में, पश्चिम की गलियों में धक्के खा रहा है, पामवृक्ष से चीनी का उत्पादन बढाया जा रहा है ताकि यूरोप तथा अमरीका में इसकी पसंद को बढाया जा सके जबकि मिलों में तैयार किये गये चीनी, आटा, कृत्रिम रेशे के कपड़े व खेतो में रासायनिक उर्वरक का प्रयोग गांधी आश्रमों में भी एक आम बात हो

जाए ताकि पश्चिमी तरीकों और जीवनपद्धति से जो हानि होती है, उससे बचा जाए। पश्चिम को भी नई संवेदनशीलता का आदर करते हुए अपनी जीवन पद्धति में इस तरह के परिवर्तन करने होंगे कि पृथ्वी के पर्यावरण को कम नुकसान हो। दक्षिण के लोगों की अपनी समझ और जानकारी ने उन्हें सदियों तक पर्यावरण को स्वस्थ बनाए रखने में मदद की है। इन्हीं स्रोतों से आज की समस्या का हल ढूँढ़ा ज़ा सकता है, जिसमें पश्चिम शायद ही कुछ दे सकता है।

'एजेंडा साउथ' पर हस्ताक्षर करने वालों से कहा गया है कि वे सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र के विचार को रद्द कर दें, क्योंकि इस तरह का तंत्र उन्हीं पश्चिमी देशों के नियंत्रण में होगा जिनकी वजह से पर्यावरण को हानि हो रही है। विश्व बैंक जैसे आंतरराष्ट्रीय वित्तीय संगठनों को पर्यावरण के सिलसिलें में कोई भूमिका नहीं मिलनी चाहिए। सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र के बदले भौगोलिक और सांस्कृतिक आधार पर विभिन्न देशों के बीच क्षेत्रीय या द्विपक्षीय पर्यावरण संहिताएँ बनाई जानी चाहिए। दक्षिण के लोग ऐसे किसी भी सार्वभौमिक पर्यावरण तंत्र या संहिता को नामंजूर करते हैं जो उन पर थोपा जाए और जिससे उनका अपनी जीवनशैली के अनुरूप जीना और प्रकृति से रिश्ता जोड़ना सम्भव न हो। दक्षिण के सांगठनिक सिद्धांत दरअसल स्थानीय समाजों की आपसी हिस्सेदारी पर आधारित हैं। क्षेत्रीय या अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था इन इकाइयों के बीच तालमेल और सहमति के आधार पर ही बनाई जा सकती है। पर्यावरण के संरक्षण के लिए बनाए जाने वाले किसी भी कोष में, पश्चिम की हिस्सेदारी उस मुआवजे के रूप में होनी चाहिए जो पश्चिम की कार्यवाहियों की वजह से पर्यावरण को हुए नुकसान के बदले में दी जाएगी उस पर पश्चिम का कोई नियंत्रण नहीं होना चाहिए। इस एजेंडे पर गैरयूरोपीय सदस्यों के साथसाथ कई यूरोपीय सदस्यों ने भी हस्ताक्षर किए।

१३. अंग्रेज दासता : वरदान थी अथवा अभिशाप ?

बौद्धिक एवं आध्यात्मिक मामलों में स्वदेश से बाहर की दुनिया पर निर्भर रहना अब हमारे दृष्टिकोण का अंग बनता जा रहा है। इसमें भी हम पश्चिम की पूंजीवादी, प्रजातांत्रिक, समाजवादी तथा मार्क्सवादी दुनिया का अधिक विश्वास करने लगे हैं। यह निर्भरता केवल नई तकनीक, कुशल व्यक्तियों तथा वित्त संसाधनों तक ही सीमित नहीं है परन्तु हमारे राज्य, समाज एवं व्यक्तिगत गतिविधियों से सम्बन्धित बाह्य सिद्धांतों तथा बौद्धिक निरूपण तक भी विस्तृत हो चुकी है और अगर मैं यह कहूं कि हमने स्वेच्छा और उत्साह से पश्चिम के आकर्षक शब्दों व मुहावरों के साथ अपने आपको बांध लिया है तो निश्चित् ही हमारी सभ्यता पर यह एक खेदपूर्ण आक्षेप होगा। यद्यपि मैं इतिहास का विद्यार्थी हूं परन्तु अपने देश के दीर्घकालिक इतिहास में मैं यह नहीं खोज पाया कि हमने अपने आपको कभी वेदों अथवा भगवद्‌गीता अथवा उपनिषदों अथवा मनुस्मृति अथवा गौतम बुद्ध अथवा आदि शंकर अथवा बसवेश्वर से इस प्रकार बांधा हो।

हमारे राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, दार्शनिकों, राजनीतिशास्त्रियों, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, सामाजिक तथा प्रतिपक्षी आन्दोलनों के नेताओं के लिये पश्चिम की शब्दावली शास्त्रीय बन गयी है। महात्मा गांधी के अनुयायी भी अब पूंजीवादी अथवा प्रजातांत्रिक समाजवादी अथवा मार्क्सवादी मुहावरों को अपना प्रकाशदीप समझते हैं। अब हम गांधी का मूल्यांकन करने के लिये न केवल रिचर्ड अटेनबरो की फिल्म 'गांधी' को प्रमाण मानते हैं बल्कि उपयुक्त टेक्नोलोजी की प्रशंसा के लिये एरिक शूमर तथा कृषि के विकास में रासायनिक उर्वरकों का विरोध करने के लिये मसानोबू फुकूऔका द्वारा प्रयुक्त शब्दावली की खोज करते हैं। इसका एक परिणाम यह है कि खादी एवं ग्रामोद्योग का नेटवर्क बाजार की खोजों में, पश्चिम की गलियों में धक्के खा रहा है, पामवृक्ष से चीनी का उत्पादन बढाया जा रहा है ताकि यूरोप तथा अमरीका में इसकी पसंद को बढाया जा सके जबकि मिलों में तैयार किये गये चीनी, आटा, कृत्रिम रेशे के कपड़े व खेतो में रासायनिक उर्वरक का प्रयोग गांधी आश्रमों में भी एक आम बात हो

गयी है। यही हालत अन्य भारतीय संस्थानों तथा घरों की है। अभिजात वर्ग भी अपनी घरेलू आवश्यकताओं को इसी प्रकार पूरा कर रहा है। अन्य की तो बात ही क्या है।

सिंहावलोकन करने से ज्ञात होता है कि आधुनिक भारत में १९१९ से (अथवा १९१६ से) लगभग १९४५ या १९४७ तक का वातावरण ऐसा था जिसमें अधिकांश जनता यह सोचने लग गयी थी कि हम विश्व की रचना अपने आदर्शों के अनुकूल कर सकते हैं। १९१६ में गांधीजी ने बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय में उद्घाटन भाषण किया था जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप सत्तारूढ़ वर्ग के कई महाराजा व श्रीमती एनी बेसेन्ट सम्मेलन से बाहर निकल आये थे। इस अवधि को एक भ्रम की अवधि कहा जा सकता है। भारत की जनता यह सोचने में कितनी नादान थी की वह विश्व को समझदारी के मार्ग पर ला सकती है। यहां तक कि कई बार जवाहरलाल नेहरू जैसे संशयवादी भी इस भ्रान्ति के शिकार हो जाते थे। सम्भव है पश्चिम में भी ऐसे कल्पनाशील व्यक्ति रहे होंगे जो यह समझते थे कि विश्व के लिये भारत एक मॉडल बन सकता है और विश्व को सन्देश दे सकता है।

लगता है कि १९१९-१९४५ वाली अवधि कुछ समय के लिये १९७७ में भी आयी। इस दौरान श्री जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में जनता सरकार सत्ता में आयी थी। श्रीमती इंदिरा गांधी चुनाव हार गयीं थी। परन्तु अनेक शताब्दियों से मजबूत हुई आदतों ने पीछा नहीं छोडा, १८००-१९१९ तथा १९४७ से १९७७ के बीच निर्मित हुई भावना लोप हो गई और भारत फिर उसी स्थिति में लौट आया जिसमें कुछ गिने चुने व्यक्तियों को ही लाभ होता था। अगर यूरोपियन मुहावरे का प्रयोग करते हुए निष्कर्ष निकालें तो कह सकते हैं कि अभिजात वर्ग ने अपने अधिकारों को लुप्त होने से बचा लिया। भारत की ८० प्रतिशत जनता के लिये यह स्थिति खतरनाक थी। भारत की अधिसंख्य जनता को १९१९-१९४५ की अवधि में १९२८, १९२९, १९३० के वर्षों में स्वतंत्र होने के अवसर मिले थे परन्तु यह आजादी १९४७ के बाद छीन ली गयी थी। रही सही कसर समय बीतने के साथ पूरी हुई।

यह सम्भव है कि विदेशों से लेने, उसका औचित्य ठहरानेवाले प्रयोग करने तथा भारतीय सांचे के अनुकूल परिवर्तित करने में स्वदेशी प्रयास हुए हों परन्तु हाल ही के इतिहास ने उसे ग्रहण नहीं किया। यह सच है कि ११०० से १७०० तक जिस आक्रामक ढंग से इस्लाम का प्रचार हुआ इससे भारी क्षति हुई थी। विशेषकर उत्तर भारत के राज्य छोटे छोटे टुकड़ों में बंट गये। इसका असर देश के अन्य भागों पर भी पड़ा। इतने पर भी १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में देश के अधिकांश भागों पर इस्लाम के

आक्रमणशील प्रचारकों के हाथ में राजनीतिक सत्ता नहीं थी। कर्नाटक, तमिल, मलयालम क्षेत्रों, तटीय आंध्र, उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा बंगाल के अधिकांश भागों तथा अन्य क्षेत्रों में हिन्दू अथवा मराठा शासकों का प्रभुत्व था। परन्तु मराठे व अन्य हिन्दू राजा राज्य तथा समाज को एक साथ लेकर चल नहीं पाये जिसके परिणामस्वरूप उन्हें जल्दी ही पश्चिमी आक्रमण के सामने घुटने टेकने पडे। परन्तु ऐसी असफलता १८ वीं शताब्दी में ही देखने को नहीं मिलती। आचार्य विद्यारण्य से प्रेरित विजय नगर तथा समर्थ रामदास से प्रेरित शिवाजी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सके। अगर इससे और पीछे चलकर कौरव पांडवों का काल देखें तो पता लगता है कि श्री कृष्ण के नेतृत्व में पूरी भारतीय सभ्यता का विनाश हुआ। १४ वीं शताब्दी के तमिल लेखक पिल्लई लोकाचार्य के अनुसार द्रौपदी के सार्वजनिक अपमान के बाद श्रीकृष्ण ने विचार किया था कि वे पांडवों को नष्ट कर देंगे परन्तु द्रौपदी के मंगलसूत्र की रक्षा हेतु ऐसा नहीं किया गया। अत: जिस प्रकार घटनाचक्र चला उसमें न केवल कौरवों का विनाश हुआ बल्कि पांडवों का भी हुआ।

यद्यपि १८ वीं शताब्दी तक कई ऐसे क्षेत्र थे जहां अंग्रेज नहीं पहुंचे थे परन्तु सामान्यतया उनकी श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गयी थी। इससे भी बहुत पहले यह स्वीकार कर लिया गया था कि अंग्रेज बड़े मायावी व चालाक होते हैं। बंगाल के अलीवर्दी खां ने १७५० में ही यह विचार व्यक्त कर दिया था। रणजीत सिंह को एक बार भारत का नक्शा दिखाया गया था। कहा जाता है कि उन्होंने नक्शा देखकर टिप्पणी की थी कि यह पूरा नक्शा ही लाल हो जायेगा। अंग्रेजों के अधीन क्षेत्र लाल रंग में दिखाये गये थे। वारेन हेस्टिंग्ज ने १७८० तक यह अनुमान लगा लिया था कि भारत का विश्वास हिल चुका है। कलकत्ता के ब्रिटिश न्यायाधीश विलियम जोन्स ने १७९० तक यह दावा कर दिया था कि उसे, काशी के पंडितो से भी अधिक, शास्त्रों का ज्ञान है। आप इन्डोलोजी के संस्थापक कहे जाते हैं। वाराणसी के पंडितों का कहना था कि ब्राह्मण के लिये सबसे बडी सजा यह है कि उसके सिर पर काला तिलक लगाकर निष्कासित कर दिया जाए। इसके उत्तर में विलियम जोन्स ने बताया कि यह काला तिलक गर्म लोहे द्वारा दागा जाना चाहिये। प्रसंगवश, ब्रिटिश न्यायव्यवहार में १८ वीं शताब्दी के मध्य तक गर्म लोहा दागने का दंड प्रयुक्त किया जाता था और अगर गर्म लोहे से दागना ब्रिटेन में वैध था तो इसे भारत में तो वैध रखा ही जा सकता था। इसी प्रकार का तर्क जमींदारी प्रथा पर लागू किया गया। एक अंग्रेज काश्तकार का उस जमीन पर कोई हक नहीं होता था जिसे वह जमींदार से लेकर काश्त करता था परन्तु भारत में काश्तकार पुश्त दर पुश्त उस

जमीन को जोतते थे। अत: अंग्रजों के आने के बाद भूमि के पूरे अधिकार उस जमींदार के हक में चले गये जिसे वे स्वयं नियुक्त करते थे। अंग्रेज द्वारा नियुक्त जमींदार के चाहने पर काश्तकार को भूमि का अधिकार छोड़ना पड़ता था। ब्रिटिश तर्क के अनुसार भारतीय काश्तकार के उतने ही अधिकार होने चाहिये जितने कि ब्रिटेन में एक काश्तकार के होते हैं।

आत्मविश्वास हिलने, बुद्धिवादियों द्वारा पराजय स्वीकार करने और अभिजात वर्ग व सामान्य जनता के बीच भेदभाव की दीवार खिंच जाने के कारण ब्रिटिश विचारों को अपनाया जाने लगा व उन्हें प्राथमिकता दी जाने लगी। १८ वीं शताब्दी के महान् अंग्रेज व 'फादर आफ विकटोरियन्स' विलियम विल्बर फोर्स ने कहा कि अगर ईसाइयत का प्रकाश न पड़ता तो भारतीय एक अंधकारमय व दीनहीन जीवन व्यतीत करते होते। विल्बर फोर्स की इस उक्ति में बहुत सचाई है। अत: भारत के लिये नयी संकलपनाओं व सशक्त, साहित्य का विकास होना आरम्भ हो गया। इन संकल्पनाओं को जेम्स मिल ने शब्दों में घडा। वे भारत में ब्रिटिश सरकार के एक कार्यकारी अधिकारी थे। आपने 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया' के नाम से एक महान् ग्रंथ की रचना भी की। मैकाले का काला अंग्रेज मैकाले के उदय होने से पूर्व ही तेजी से तैयार किया जाने लगा था। मैकाले के आने से कुछ वर्ष पहले ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेन्टिंक ने संतोष व्यक्त करते हुए कहा था कि समृद्धिशाली व प्रमुख भारतीयों ने ब्राह्मणों व भिखारियों को भोजन कराना बन्द कर दिया है और उसके स्थान पर वे यूरोपियनों का मनोरंजन करना ज्यादा प्रशंसनीय समझने लगे हैं। ऐसा नहीं है कि ब्रिटिश के विरुद्ध अपवाद बिलकुल ही बन्द हो गया है इसके विपरीत भारतीय अभिजात वर्ग ने ब्रिटिश तौरतरीकों को अपनाना शुरू कर दिया है। उन्हें केवल यही शिकायत है कि उन्हें सत्ता में भागीदार नहीं बनाया जाता। १९ वीं व २० वीं शताब्दी का भारतीय अभिजात वर्ग केवल यह चाहता था कि जैसे मुगलों ने राजा मानसिंह अथवा राजा टोडरमल को उत्तर और पश्चिम भारत के लिये प्रभावशाली पद प्रदान किये थे इसी तरह अंग्रेज भी करें। अभिजात वर्ग का यह विचार कई ऐसे भारतीयों में भी प्रचिलत था जो अपने आपको महात्मा गांधी का 'सिपाही' कहते थे। यह विचार तब तक बना रहा जब तक ब्रिटिश ने सत्ता हस्तान्तरण का निर्णय नहीं ले लिया।

जैसे जैसे समय बिता भारतीय अभिजात वर्ग ने भारत को अंग्रेजी आंखों से देखना शुरू कर दिया। जिस तरह विलियम विल्बर फोर्स अथवा जेम्स मिल अथवा मैकाले अथवा कार्ल मार्क्स भारतीयों को दीन हीन समझते थे उसी तरह से अभिजात

वर्ग की विचारधारा बन गयी। काल मार्क्स के अनुसार भारत के दुःखों का आरम्भ 'ईसाइयों की सृष्टि का आरम्भ होने से भी पूर्व का है' और उसने कहा कि भारत में इंग्लैंड के जो भी अत्याचार रहे हों परन्तु वह भारत के पश्चिमीकरण का एक ऐसा अनचाहा ऐतिहासिक साधन बन गया जिसकी मार्क्स को बहुत आकांक्षा थी। यहां तक कि भारतीय स्मृतियों तथा अन्य वैदिक ग्रंथो को यूरोप की बौद्धिक व आध्यात्मिक छलनी में से गुजरना पड़ा तथा जो कुछ भी वापिस मिला उसके साथ टिप्पणियां तथा नयी व्याख्याएं जुड़ी हुई थीं। यूरोपियनों का नुमाइशी मनोरंजन करना ही अब भारतीय अभिजात वर्ग की प्रेरणा का स्रोत नहीं था अपितु वे अब उसी भारतीय साहित्यको पढ़ते जो अंग्रेजों द्वारा अनुमोदित एवं अभिनन्दित होता था। अंग्रेजों के साहित्य, सिद्धांत व दर्शन से अगाध मोह रखना अभिजात वर्ग के लिये अफीम की घुट्टी बन गया। यह जो कुछ कहा जा रहा है अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। प्लेटो, अरस्तू, अथवा रोमन इतिहासकारों के प्रति भारतीयों का मुग्ध होना, और यही नहीं बेकन, थोमस हॉब्स, विशप बर्कले, जोहन स्टुअर्ट मिल तथा बर्ट्रेंड़ रसेल जैसे व्यक्तियों के प्रति अभिभूत होना इस निष्कर्ष पर पहुचंने का एक सामान्य सा कारण है।

इस सबकी स्वाभाविक प्रतिक्रियास्वरूप देश के भिन्न भागों में ब्रह्म समाज जैसे आन्दोलनों का जन्म हुआ। भारतीय अभिजात वर्ग का मोह थियोसोफी की और बढ़ रहा था जो कि पश्चिमी यूरोप के पुरातन मूसा व अन्य विभिन्न पश्चिमी दर्शनों का ही एक सम्मिश्रण थी और अगर हमने देशभक्त होने अथवा पीछे देखने की कोशिश की तो उसका माध्यम भारतीय विज्ञान, पूर्ववाद अथवा कोई पूर्व अथवा पश्चिम का विदेशी यात्री होता था जो कि भारत के बीच से गुजरा होता था और उसने अपने संस्मरण लिखे होते थे। इस प्रकार के इतिहास का आरम्भ भारत पर यूनानवासी सिकंदर के आक्रमण की तिथि से ही हो सकता था।

इस हालत में स्वतंत्रता की हानि, भारतीय अभिजात वर्ग के लिये पश्चिमी मुहावरों के गद्दों का विषय विलास बन गयी। अत: राजा राम मोहनराय, अथवा केशवचंद्र सेन अथवा बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय अथवा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अथवा राजेन्द्रलाल मित्र जैसे भारतविद्, साहित्यकारों व धर्मचार्यो ने अपने घोषणापत्रों में पश्चिमीकरण को स्थान दिया। (मोन्स्टुअर्ट एलिफन्स्टोन ने दुःख प्रकट करते हुए कहा कि राममोहन राय अपने आपको फिरंगियों की तरह प्रस्तुत करते थे।) इनमें से प्रत्येक का यह विचार था कि भारत में यूरोपियन अथवा अंग्रेजी हस्तक्षेप परमात्मा का वरदान है। ऐसा हो सकता है कि मुसलमान बादशाहों द्वारा किये गये अत्याचारों को या तो इन्होंने अफवाहों के

माध्यम से सुना होगा अथवा यूरोपियनों द्वारा तैयार किये गये विवरणों से। अत: जब दोनों शासकों की तुलना की गयी तो इन्होंने अंग्रेजी हकूमत को देवताओं द्वारा किये जाने वाला शासन समझा। इस शासन में शान्ति और व्यवस्था अधिक थी तथा अचल सम्पत्ति का अधिकार भी एक से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित हो सकता था। इस प्रकार के लोग सम्भवत: यह भी सोचने लगे थे कि भारतीय व यूरोपियनों का उद्‌भव एक ही स्रोत से है। इनसे भी पूर्व फ्रेडरिक विलियम मैक्समूलर को तो उस दिन का इंतजार था जब ये दोनों बिछड़े हुए भाई किसी समान उद्यम के लिये एक दूसरे की बांह में बांह डालकर एक हो जायेंगे। ग्रेट ब्रिटेन के कई बार निर्वाचित प्रधानमंत्री ग्लेडस्टोन को अपने कार्यों का विवरण देते हुए मैक्समूलर ने बताया कि वह जारेथ के ईसा से १८०० वर्ष बाद इन लोगों को मिलाने का प्रयास कर रहे हैं जो ईसा से लगभग १८०० वर्ष पूर्व एक दूसरे से अलग हुए थे।

दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य से अब भारत में सामाजिक सुधार अथवा शिक्षा का विस्तार अथवा संस्कृतिक चेतना पश्चिमी तथा अंग्रेजी दिशानिर्देशों पर आरम्भ हो गयी। यूरोप का ज्ञान (पवित्र अथवा दूषित) पश्चिम की विश्वसनीयता पर आधारित हो गया। पश्चिमी विज्ञान एवं टेक्नोलोजी से प्रभावित लोग अब इसे भारत में लागू करने के इच्छुक हो गये। यह इस समय की बात नहीं है जब वैज्ञानिक प्रगति परमाणु शक्ति अथवा चंद्रमा पर पहुंचने के स्तर तक पहुंच चुकी थी बल्कि उस समय की बात है कि जब ब्रिटिश उद्योग में वाष्प शक्ति तथा छोटे आयु के बच्चों से १० घंटे से अधिक काम लिया जाता था। इस समय बिजली तथा इन्टरनल कम्बूशन इंजिन का आविष्कार भी नहीं हुआ था। लेकिन अंग्रेजों ने इस विज्ञान एवं टेक्नोलोजी के यहां लाने के बारे में दूसरे ढंग से सोचा था। बंगाल के गवर्नर रिचर्ड टेम्पल ने अनुभव किया कि विधि, सार्वजनिक प्रशासन, गद्य एवं साहित्य के स्थान पर विज्ञान को लाये जाने का स्वागत करना चाहिए, क्योंकि व्यावहारिक विज्ञान के मामले में यह 'आवश्यक है कि भारतीय हमारे मुकाबले अपने को हीन अनुभव करें।'

विभाग ३

व्यवस्था का स्वरूप

१४. भारत की स्वदेशी औद्योगिक प्रतिभा तथा
उसकी गतिशीलता की आवश्यकता

१५. भारत का राज्यतन्त्र, उसके लक्षण एवं वर्तमान समस्याए

१४. भारत की स्वदेशी औद्योगिक प्रतिभा तथा उसकी गतिशीलता की आवश्यकता

१.

१९४७ में विदेशी राजकीय आधिपत्य से छुटकारा पाने के पश्चात् भारत ने अर्थतन्त्र तथा अन्य अनेक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। इस बीच हमारी कृषि का उत्पादन दुगुने से भी अधिक हुआ है। औद्योगिक क्षेत्रों में तो सम्भवत: इससे भी अधिक प्रगति हुई है। आज यह स्वीकार किया जाता है कि हमारे पास विश्व के विज्ञान तथा तकनीकी की मानवशक्ति का तीसरा सबसे बड़ा हिस्सा है। हम यह दावा भी बड़ी शीद्दत के साथ कर सकते हैं कि अब हमारे पास विश्व के विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी शिक्षण के आयोजन हैं। हमने औद्योगिकी अनुसन्धान कार्य तथा कृषि और उससे सम्बन्धित अन्य क्षेत्रों में अनुसन्धान कार्य करने वाली विज्ञान तथा तकनीकी की प्रयोगशालाओं का एक विशाल आयोजन भी बना लिया है। परन्तु, साथ ही हमें यह वास्तविकता भी स्वीकार करनी होगी कि हम समस्त मानव जाति के पांचवे या छठे भाग हैं तथा भौगोलिक रूप से हमारा विस्तार समस्त यूरोप के बराबर है।

अर्थतन्त्र तथा तकनीकी क्षेत्रों में इतना विकास कर लेने के बावजूद भी एक प्रजा के रूप में हमारी स्थिति बड़ी अवसाद पूर्ण है। यह सत्य है कि कभी कभी हमें क्षणिक सुखाभास होता है और हम यह अनुभव करते हैं कि हम अपनी समस्याओं से ऊपर उठ चुके हैं और इस शक्तिशाली विश्व से कदम मिलाकर चल रहे हैं। यदि मैं ठीक से याद कर पा रहा हूँ तो सन् १९४७ के आसपास हमारे कुछ उद्योगपतियों ने यह दावा भी किया था कि हम एक महान औद्योगिक राष्ट्र के रूप में जपान का स्थान ग्रहण करेंगे तथा उनके बाज़ारों पर कब्ज़ा कर लेंगे। परन्तु लगभग १९६० से हम यह अनुभव करने लगे हैं कि हम खो गये हैं। हम अपने भौगोलिक एवं ऐतिहासिक रूप से समीपवर्ती लोगों एवं राष्ट्रों जैसे चीन, कोरिया - यहां तक कि मलेशिया एवं इंडोनेशिया - आदि की तुलना में भी आर्थिक एवं तकनीकी रूप से बहुत पिछड़े हुए हैं। यदि हम अपने अन्य प्रयासों की ओर भी ध्यान दें तो देखेंगे कि सन् १९८२ में दिल्ली में हुए एशियाड हों या फिर ओलिम्पिक

खेल, इन क्षेत्रों में भी हमारी स्थिति उद्योग एवं अर्थतन्त्र की स्थिति से भिन्न नहीं है।

यह सर्वविदित है, और वास्तव में यह अत्यन्त दुःख की स्थिति है कि वे युवा वैज्ञानिक तथा तकनीकी विशेषज्ञ जिन्हें हम यहां पाँच आई. आई. टी. जैसी संस्थाओं में प्रशिक्षित करते हैं, एक बड़ीं संख्या में अमेरिका या पश्चिम के अन्य औद्योगिक रूप से विकसित देशों में प्रस्थान कर जाते हैं। प्रारम्भ में अधिकांश छात्र इन देशों में आधुनिक शोध के लिए जाते हैं पर उनमें से केवल कुछ लोग ही भारत में काम करने के लिए वापस आते हैं। कहा यह जाता है कि अपने देश की तुलना में अन्य देशों में प्रश्रय लेने वाले अधिकांश वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में सफ़ल युवा आर्थिक रूप से अपना कैरियर बना लेते हैं। अधिकांशत: ये लोग वहां पर जो काम करते हैं वह ऊंचे स्तर का ही होता है तब भी जानकारों के मतानुसार उनमें से कोई विरला ही वहां पर वैज्ञानिक एवं तकनीकी निष्णात के रूप में सृजनात्मक बनकर अपनी पहचान बना पाता है। न ही वह अपना स्वयं का कोई नवीन[१] सृजन करने में सफ़ल हो पाता है।

२.

लगभग एक शताब्दी पूर्व भारत में विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में आन्दोलन के रूप में प्रगति की एक ज़बरदस्त लहर उठी थी। इस आन्दोलन का मुख्य केन्द्र कोलकाता था। मेरी सामान्य जानकारी के अनुसार प्रारम्भ में जो लोग बहुत करीब से इस आन्दोलन में जुड़े थे वे थे महेन्द्र लाल सरकार, जगदीश चन्द्र बसु, प्रफुल्लचंद्र रे, गुरुदास बेनर्जी, आशुतोष मुखर्जी, तारकनाथ पालित, सी. वी. रामन, जे. सी. घोष, मेघनाद साहा, जे. एन. मुखर्जी, एस. एन. बसु। अन्य बहुत से[२] नामों का समावेश इस क्रान्ति के आरम्भ के समय में होता है। महेन्द्र लाल सरकार तथा अन्य कितनों को ही विज्ञान तथा तकनीकी की ओर ले जाने में देशभक्ति, स्वदेशी के लिये समर्पण आदि बातों की प्रमुख भूमिका रही। उस समय सर रिचार्ड टेम्पल, जो लगभग इस समय में बंगाल का अंग्रेज गर्वनर था, उसे यह भी प्रतीत होता था कि विज्ञान का शिक्षण भारत में प्रदान करने से शिक्षित भारतीयों की महत्त्वाकांक्षा तथा आत्मविश्वास पर अंकुश रखने में सहायता होगी। टेम्पल उस समय के वायसराय नोर्थब्रुक को जानकारी देते हैं, 'स्कूल तथा कालेज का छात्रगण एक असंतुष्ट वर्ग बनेगा, परन्तु अपने उच्च शिक्षण से यह बहुत सीमित रूप में ही संभव होता है। कानून, सार्वजनिक व्यवस्था तथा साहित्य के क्षेत्र में अधिक रुझान होने के कारण सम्भवतः ये अपने साथ स्पर्धा करने तक पहुंच सकते हैं परन्तु हमें उनके विचारों को अधिक से अधिक व्यावहारिक विज्ञान की ओर मोडना

चाहिए। क्योंकि वहां उन्हें निश्चित रूप से हमसे अधिक कनिष्ठता का अनुभव होगा।'[३] १८७५ में टेम्पल ने उपरोक्त बात लिखी थी। १८७६ में महेन्द्रलाल सरकार तथा उनके मित्रों ने कोलकाता में 'इण्डियन एसोसियेशन फोर द कल्टीवेशन ऑव सायन्स' की स्थापना की।[४] १८८५ में जे.सी.बोस की कोलकता के प्रेसिडेंसी कोलेज में एक जूनियर प्रोफ़ेसर के रूप में नियुक्ति हुई।[५] १८८९ में प्रफुलचंद्र रे की नियुक्ति रसायणशास्त्र के असिस्टेंट प्रोफेसर के रूप में हुई।[६]

भारत में आधुनिक विज्ञान तथा तकनीकी के मूल्य के विषय में सहमत होने के बावजूद भी प्रारम्भ में गवर्नर टेम्पल को छोड़ उसके सभी प्रारम्भिक पुरस्कर्ता विकास की पद्धति के विषय में भिन्न मत रखते थे। महेन्द्रलाल सरकार तकनीकी की तुलना में विज्ञान को प्राथमिकता देते थे[७] तथा वास्तव में चाहते थे कि व्यावहारिक विज्ञान 'Applied science' जैसे शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं थी।[८] प्रफुल्लचंद्र रे मानते थे कि पाश्चात्य समाज के विकास में उद्योग विज्ञान से आगे था।[९] यद्यपि जगदीशचंद्र बसु के साथ ही वे सांस्कृतिक एवं आर्थिक राष्ट्रवाद की एकात्मता का स्वीकार करते थे। तो भी उनके प्रारम्भिक प्रयास औद्योगिक साहसिकता को बढ़ाने के लिए ही समर्पित थे। इसी ध्येय को लक्ष्य बनाकर उन्होंने रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र तथा भूगर्भ शास्त्र की प्रारम्भिक पुस्तकें लिखने की शुरुआत की।[१०] गुरुदास बैनर्जी ने विज्ञान तथा तकनीकी के अध्यापन में मातृभाषा की उपयोगिता[११] का परामर्श दिया। यह बात बहुत विस्मयकारक लगती है पर सच है कि काकीनाड़ा में दिसम्बर १९२३ के खादी प्रदर्शन में दिये गये भाषण में प्रफुल्लचंद्र रे ने लीबिग के सिद्धान्त में विश्वास प्रदर्शित किया कि किसी भी देश की संस्कृति का स्तर वहाँ पर प्रयोग किये जानेवाले साबुन की मात्रा के अनुसार होता है और देश का विकास सल्फरिक एसिड के उत्पादन से तोला जा सकता है।[१२] यह बात कितनी मनोरंजक है कि १७०० के आसपास दक्षिण भारत को जानने वाले यूरोपीय वहाँ के धोबियों के कपड़े धोने की कला की बहुत प्रंशसा करते थे। वे मानते थे कि इस विषय में यूरोप उनसे बुहत कुछ सीख सकता है। हो सकता है दक्षिण भारत की कपड़े धोने की पद्धति और लीबिग के साबुन के प्रति आकर्षण के बीच किसी प्रकार का संबंध हो।

इसके बाद के समय के अन्तराल में आचार्य प्रफुल्लचंद्र रे को प्रतीत हुआ कि चरखा ही देश की समृद्धि के लिए सरल, स्वस्थ तथा स्वाभाविक प्रक्रिया एवं सम्पत्ति के साधनों को सर्वत्र फैलाने का सरल उपाय था।[१३] उनके अधिकांश विद्यार्थी तथा मेघनाद साहा जैसे अनुग साथी आचार्य रे की चरखा विषयक मान्यता की तुलना में किसी न

किसी प्रकार उनके पूर्व के मन्तव्यों से अधिक सहमत थे। उन्हें लगता था कि भारत को राजकीय योजना के साथ साथ अधिक औद्योगिकरण तथा व्यापक विज्ञान की आवश्यकता है।[१४]

१९१६-१८ में भारतीय औद्योगिक कमिशन के द्वारा भी पाश्चात्य विज्ञान तथा तकनीकी के विकास के लिए बड़े पैमाने पर विचार किया गया था। मदनमोहन मालवीय, दोराबजी टाटा तथा फझलभोय करीमभोय इब्राहीम[१५] आदि उसके भारतीय सदस्य थे। कमिशन ने बहुत विस्तृत पूछताछ की जिसके वृत्तान्त से कमिशन के सात में से पाँच ग्रन्थ भरे हुए हैं। उस वृत्तान्त का सूक्ष्म अध्ययन करने एवं परीक्षा करने के पश्चात् पंडित मदनमोहन मालवीय ने इस मत के समक्ष प्रश्नचिह्न रखा[१६] तथा कहा कि पश्चिमने तकनीकी की भव्य परम्परा दी है ऐसा कहना धातु गलानेवालों तथा बुनकरों की सिद्धियों के भारत के लम्बे इतिहास को नकारना है।[१७] उनके मतानुसार भारत के निरौद्योगिकरण तथा पश्चिम की औद्योगिक क्रान्ति का इतिहास दोनों एक ही प्रक्रिया के दो अभिन्न अंश हैं। उनका मत था कि साम्राज्यवाद ने ब्रिटेन में औद्योगिकरण की सहायता की।[१८] पण्डित मालवीय ने यह भी कहा कि शिक्षा ने ही बुद्धि तथा उसके बाद तकनीकी का विकास किया। उस समय प्रचलित ब्रिटिश मत कि बुद्धिमत्ता जाति अथवा वंशानुगत होती है, का उन्होंने खण्ड़न किया।[१९] कमिशन के समक्ष साक्षी देनेवाले अन्य कई लोगों की भांति पण्डित मालवीय जी भी मानते थे कि भारत की वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति के विकास का सुन्दर दृष्टान्त ब्रिटेन से अधिक जर्मनी तथा जापान ने प्रस्तुत किया है।[२०] बी. एन. बसु भी एक साक्षी थे। उनका मानना था कि भारत का विज्ञान तथा तकनीकी में जो पिछड़ापन है वह अंग्रेजों का तर्कछल है जो अंग्रेजों द्वारा निर्देशित भारतीय शिक्षा में व्यापक है। उनके मत के प्रमाणानुसार जहां हमें व्यवहार कुशल लोगों की आवश्यकता थी वहां हमें पण्डितों की एक ऐसी जमात सौंप दी गयी जो कि अपने पुरातन भारतीय साहित्य का अध्ययन करने के स्थान पर बहुत परिश्रम के साथ अंग्रेजों की लोकभाषा के क्रियापद के रूपाख्यानों को सीखने लगी।[२१]

विश्वकर्मा महाजन कॉफ्रेंस की समिति के मन्त्री, जो सम्भवत: आन्ध्र के थे, कमिशन के समक्ष उपस्थित रहने वाले एकमात्र कारीगर थे। उन्होंने कहा कि, 'भारत के उद्योगों की रीढ़ की हड्डी के समान कारीगर टेकनिकल शाखाओं की नयी नीति से लाभान्वित नहीं हो सकेंगे। उन्होंने देश के बुद्धिजीवी वर्ग तथा उद्योगों के बीच निरन्तर रहने वाली विमुखता की ओर ध्यान दिलाया। उनके मत के प्रमाणानुसार शारीरिक श्रम की ओर झुकाव रखने वाले औद्योगिक तथा कारीगरों के वर्ग को छोडकर दूसरे वर्गों में से

विश्वविद्यालय की स्नातक की शिक्षा के लिए विदेश जाना जाति की प्रतिष्ठा तथा शैक्षणिक प्रतिभा की मानहानि थी।[२२] इसने कभी न भरपाई होने वाली हानि की है।

एक अंग्रेज साक्षी ने इस बात का भी सन्दर्भ दिया है कि तकनीकी विकास तथा औद्योगिकरण में जाति कितनी लाभदायक भूमिका निभा सकती थी। उन्होंने आश्चर्य व्यक्त किया कि जाति के समूह ट्रेड यूनियन के समकक्ष हो सकते थे। परन्तु उन्होंने यह भी अनुभव किया कि अब वह अवसर खो गया था। उनके अनुसार यदि जाति को शैक्षिक इकाई के रूप में अपनाया जाता तो पहली बार में ही कुछ भी परिणाम निकल सकते थे। यह एक मूल्यवान सामाजिक संगठन बन सकता था तथा उसका उपयोग भी सही प्रकार से हो सकता था। परन्तु वे स्वभाव से अंग्रेज होने के कारण उन्होंने अन्तमें कहा कि जाति गैर अंग्रेज है, और इसलिये अस्वाभाविक है। उन्होंने यह भी कहा कि, 'उसके प्रति विधायक अभिगम की कोई सम्भावना नहीं है।'[२३]

३.

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक सम्पूर्ण रूप से व्यवहार में रही भारतीय बौद्धिक तथा विद्वत्तापूर्ण विज्ञान तथा तकनीकी की चेतना का १९ वीं शताब्दी में शायद ही कोई अंश बचा, चाहे वह देशभक्ति का गौरव हो, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन की एकात्मता हो या फिर प्राचीन भव्यता की स्मृतियां। यह सम्भव है कि इस अवधि के अन्त तक अर्थात् १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक उस समय के भारतीय विद्वान भारत के उत्पादन, ज्ञान तथा जानकारी से लाभान्वित होने के बावजूद भी उनके अस्तित्व के विषय में सही रूप से जागृत नहीं थे। उन्होंने अपनी जीवन शैली के स्तर को सहस्रावधि लोगों से बने हुए समाज के अंश के रूप में देखा, जो उनकी अनुपस्थिति से ही समझ में आता है।

इसकी कोई जानकारी नहीं है कि १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय अभिजात वर्ग को उस समय के भारत के विज्ञान तथा तकनीकी अवगत थे अथवा नहीं पर यूरोप के विशेषज्ञों ने १६, १७, तथा १८ वीं शताब्दी में सूचना, ज्ञान तथा तकनीक आदि के विशेष क्षेत्रों को गम्भीरता पूर्वक ध्यान से देखा है। इस प्रकार की ब्रिटिश शोध, अवधान, अध्ययन तथा स्वीकार के असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं। १६ वीं शताब्दी के शुरुआत में पुर्तगाली तथा डच लोगों के द्वारा भारत के वनस्पति शास्त्र की १६ वीं सदी के शुरुआत में बनाई गयी सूची के संग्रह दिखाई देते हैं। भारतीय वनस्पति के ७५० विभिन्न प्रकार के सचित्र बडे ग्रंथ 'Hotus Malabarias' को नाम से यूरोप में १६७८-

९३ के बीच प्रकाशित हुए थे। कहा जाता है कि इन १२ ग्रंथों में चार केरल तथा कोंकण के पण्डितों के प्रमाणपत्र भी इनकी प्रामणिकता के लिए सम्मिलित किये गये हैं।[२४] भारतीय कृषक उपकरणों के आलेख तथा उसका कार्य, विशेष रूप से जुताई का हल (drill plough) १८ वीं शताब्दी की ब्रिटिश कृषि के लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना चेचक के टीके का प्रचलन तथा कुछेक दशक पूर्व इलाहाबाद-वाराणसी में बर्फ के उत्पादन का काम।[२५] इसी प्रकार का, सम्भवत: इससे भी अधिक ध्यान भारतीय भवनों निर्माण में प्रयुक्त साधनसामग्री तथा उसकी तकनीक पर, भारतीय उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न रसायन, भारत के लोहे के उद्योग तथा उनमें प्रयुक्त होने वाली प्रक्रियाओं एवं उनके स्रोत व प्रवर्तमान शस्त्रक्रियाओं एवं भारत (विशेषकर दक्षिण भारत)[२६] की पाठशालाओं में अध्ययन की पद्धतियों को समझने के लिए दिया जाता था। १७९७ के आसपास बर्मा में तेल के कुओं तथा उनके उपयोग के विषय में पता चला। निरीक्षण करने पर पता चला कि उस क्षेत्र में ५२० कुएं थे तथा उनका वार्षिक उत्पादन एक लाख टन था, जिसका मूल्य दस लाख भारतीय रूपयों से भी अधिक था। तेल का उपयोग बत्तियां जलाने, लकड़ी पर रंग लगाने, नौका तथा जहाज़ों के तलों को रंग लगाने तथा जलन, घाव तथा जोड़ों के दर्द पर लगाने का मलहम बनाने के लिए किया जाता था।[२७]

भारत में प्लास्टिक सर्जरी में प्रयुक्त होने वाली तकनीकी का १७९० के समय में पूना से लन्दन में स्थानांतरण का रोचक उदाहरण है। अर्वाचीन ब्रिटिश प्लास्टिक सर्जरी के संस्थापक जे. सी. कार्प के शब्दों में ही उसका वर्णन करना उचित रहेगा। FRS कार्प ने १८१६ में लिखा है,

'एक ऐसे कोने से विज्ञान, शिक्षा तथा कलाओं के क्षेत्र में मानवता को प्रकाश प्राप्त होता रहेगा जहां से गत शताब्दी के अन्त में पश्चिम यूरोप में विस्मृत हुई तथा तिरस्कृत नाक की शस्त्रक्रिया के विषय में फिर से जानकारी प्राप्त होने लगी है।' जिसका ऑपरेशन किया गया था उसके छायाचित्र के साथ १७९४ की भारत की एक पत्रिका में यह वर्णन दिया गया है, '१९७२ के युद्ध में अंग्रेज सेना का मराठी किसान था जिसका नाम कावसजी था तथा जो बैलगाड़ी हाँकने वाला था। उसे टीपू ने कैदी बनाया था। उसके हाथ तथा नाक काट दिये गये थे। ऐसी स्थिति में वह सेरींगपट्टनम् के पास बॉम्बे सेना में जुड़ गया तथा बाद में ईस्ट इंडिया कंपनी का पेंशनर बन गया था। लगभग बारह महिने तक वह बिलकुल नाक विहीन रहा। बाद में पूना के पास स्थित एक मराठी सर्जन कुमार ने उसकी नाक लगा दी। इस प्रकार का ऑपरेशन भारत में असाधारण नहीं है।

भारत में यह परापूर्व से हो रहा है। मुम्बई के दो डॉकटरों मि. थॉमस क्रूस तथा मि. जेम्स फिनले ने इस ऑपरेशन को निम्न प्रकार से देखा है। इसमें नाक के नीचे कटे हुए भाग के आगे मोम की झीनी परत लगाई जाती है जिससे नाक को आकार मिलता है और देखने में वह नाक जैसी लगने लगती है। इसके बाद उसे खोखला करके माथे पर लगाया जाता है। मोम के आसपास रेखा खींची जाती है। अब मोम की कोई उपयोगिता नहीं रहती। बाद में ऑपरेशन करने वाला अब ढकी हुई चमड़ी को काटता है। वह आँखों के बीच थोडा अविभाजित स्थान रखता है। जब तक नया तथा पुराना भाग जुड़ नहीं जाता तब तक यह स्थान खून का बहाव बनाये रखता है। इस कच्चे भाग के पीछे तुरन्त ही नाक की डंडी के सीसाट्रीक्स को काट दिया जाता है तथा त्वचा के बीच में चीरा लगाया जाता है। अब माथे पर से त्वचा को नीचे लाया जाता है जिससे जल्दी से नाक बनाई जा सके तथा उसे चीरे में जमा दिया जाय। टेरा जपोनिका में पानी मिलाकर मुलायम बनाया जाता है फिर कपडे की पट्टियों पर उसका लेप किया जाता है तथा जोड़ को सुरक्षित बनाने के लिए एक दूसरे पर चिपका दिया जाता है। इसके पश्चात् अगले चार दिनों तक कोई मरहम पट्टी नहीं की जाती। फिर उसे उस पट्टी से उतारकर उस पर घी या मक्खन लगाया जाता है। लगभग पचीस दिन में जोड़ने वाली पट्टी को विभाजित किया जाता है। इसके पश्चात् नयी नाक को सुन्दर बनाने के लिए आवश्यक काट छाँट की जाती है। ऑपरेशन के बाद पाँच छह दिन तक रोगी को पीठ के बल सुलाया जाता है और उसके बाद दसवें दिन उसकी नाक में मुलायम कपड़ा रखा जाता है जिससे वह आवश्यकतानुसार खुला रह सके। यह ऑपरेशन हमेशा यशस्वी होता है तथा यह कृत्रिम नाक भी हमेशा सुरक्षित रहती है एवं पूर्णरूप से प्राकृतिक लगती है और कुछ समय पश्चात् तो माथे का घाव भी दिखाई नहीं देता।'[२८]

उपरोक्त तथा अन्य जानकारियों के आधार पर जे. सी. कार्प ने अपना प्रयोग प्रारम्भ किया परन्तु प्रारम्भ करने से पूर्व उन्होंने बहुत सारी अन्य जनाकारियां प्राप्त कीं। इस विषय में उन्होंने लिखा है,

'प्रथम दो घटनाओं को समझने के पश्चात् अपनी क्षमता के अनुसार मैं स्वयं भारत की सर्जरी की पद्धति की जानकारी प्राप्त करने के प्रयास में संलग्न हो गया। मैं ने सर चार्ल्स मैलेट को पत्र लिखा जो दीर्घअवधि तक भारत में रह चुके थे। उन्होंने मुझे इस बात की साक्षी देकर अनुग्रहित किया कि बहुत पुराने समय से ही भारत में यह आपरेशन एक सामान्य आपरेशन माना जाता था तथा अधिकांशत: यशस्वी ही होता था। उन्होंने यह भी बताया कि यह ऑपरेशन ईट बनाने वालों के द्वारा किया जाता था।

भारत में दीर्घ अवधि रह चुके जेम्स स्टुअर्ड हॉल ने भी मुझे इस बात की साक्षी दी कि उन्होंने स्वयं इस ऑपरेशन को देखा था तथा इसमें बहुत समय लगता था। इंडिया सर्विस के डॉ. बेरी से मुझे पता चला कि उन्होंने भी ऐसे डेढ़ घण्टे तक चलने वाले ऑपरेशन को देखा था। यह ऑपरेशन पुराने रेझर से किया गया था तथा रेझर की धार बार बार खुण्डी हो जाने पर उसे दुबारा तेज़ करना पड़ता था।

इंडिया सर्विस के मेजर हेटलैंड से यह जानकारी प्राप्त करके मैं कृतार्थ हुआ कि भारत में अनेक वर्ष पूर्व हैदरअली के समय में मि. लुकास नामक एक अंग्रेज सर्जन भी इस प्रकारका ऑपरेशन करने में कई बार यशस्वी हुए थे तथा वह ऑपरेशन उन्होंने हिन्दू वैद्यों से ही सीखा था।'[२९]

उपरोक्त जानकारी को समाप्त करते हुए जे. सी. कार्पने लिखा,

'सभी वृत्तान्त एक ही प्रकार की बातें बताते हैं कि यह ऑपरेशन हिन्दुओं की एक विशेष जाति करती थी जिसे कुमा, कुम्हार अथा ईंट बनाने वाला कहा जाता था। हिन्दु जाति अपने व्यवसाय, धन्धों तथा अन्य कार्यो में मर्यादा में स्थिर तो थी परन्तु उसके बावजूद भी उनकी व्यक्तिगत रूचि के अनुसार उन्हें कुछ नई तथा वैविध्यपूर्ण खोज करने की भी थोड़ीबहुत छूट मिलती है। जातियों को उपजातियों में विभिक्त किया गया है। शुद्ध जातियों को शाखाओं में विभक्त करने से कुछ नीची जातियां भी बनती हैं जिन्हें कुछ अधिक छूट प्राप्त होती है। भारत के एक लेखक के कथनानुसार ज्योतिष शास्त्र का व्यवसाय तथा पंचांग बनाने का काम नीचले ब्राह्मण करते थे तथा सेना की कसरतों व कवायतों की शिक्षा, मटके बनाने का काम, बुनकर, मांस पकाने वाले लोग, मछुआरे आदि को निचली जाति का ब्राह्मण माना जाता था। वैसे ज्योतिष शास्त्र, वैद्यक शास्त्र तथा कुम्हार काम एक ही जाति के काम माने जाते थे।

यदि ज्योतिषशास्त्र तथा वैद्यक शास्त्र को एक ही विभाग में माना गया है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। पंचांग में शरीर के स्वास्थ्य के विषय में सूचनाएँ रहती थीं, तथा आज 'फ्रांसीस मूर' यद्यपि अपने आपको 'फ़िजीशयन' मानता है तो भी वह ज्योतिषी ही है। कुम्हारकाम, बुनाईकाम आदि को एक जातिमें समाविष्ट करना इस बात का संकेत है कि भारतीय संस्थाएं व्यक्तिगत प्रतिभा तथा मनोदशा पर कम से कम नियन्त्रण रखती थीं। उनके विषय में प्रचलित मान्यता से यह विपरीत है।'[३०]

इसके पश्चात् जे. सी. कार्प प्लास्टिक सर्जरी के मूल की चर्चा करते हैं। वह पुरातन एशिया तथा पुरातन ग्रीस में इसकी जानकारी की चर्चा करते हैं। परवर्ती काल में भारत और इटली की पद्धतियों की भिन्नता की चर्चा करते हैं। वे आगे

लिखते हैं,

'हमने देखा कि नाक के ऑपरेशन तथा जिन वास्तविकताओं पर यह आधारित है इस शस्त्रक्रिया कि जानकारी यूरोप को ईसा पूर्व से ही थी। हिपोक्रेटस नाक जोडना जानता था। परन्तु इस समय के पूर्व की जानकारी हमारे पास नहीं हैं। अब हमारे पास पूर्ण जानकारी तो नहीं है परन्तु हां, तालियाकोटिअस की जानकारी का कुछ भाग है। इससे भी अधिक हमें इस बात का सन्तोष है कि यह प्रसिद्ध व्यक्ति (जिसने कभी इस बात का दावा नहीं किया) इस कला को खोजने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने जितना कुछ बताया है उसके आधार पर हम उसका अर्थ लगा सकते हैं।

यह कला बहुत प्राचीन काल से भारत में तथा एशिया के अन्य दक्षिण भागों में टिकी रही तथा कभी भी यूरोप की ओर गति नहीं कर सकी। इटालियन पद्धतियों की तुलना में इसकी सरलता, उसका भारत में आश्रय तथा उसका धार्मिक जुड़ाव आदि इसके कारण हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि बार बार घटित घटनाएँ, जलवायु की अनुकूलता, लोगों का संयम तथा प्रकृति की प्रेरणा से प्राप्त मार्ग की सरलता भी इसके कारण हो सकते हैं। अभी अभी तक फ्रान्स और इटली जैसे देशों में इस विषय की जानकारी नहीं थी। प्रथम वार ही वह प्राप्त हुई। अब हम यदि पूर्व को इसकी खोज का श्रेय नहीं देते हैं तब भी उससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि उसमें वैज्ञानिक सूझबूझ की गहराई की नहीं अपितु पर्याप्त निरीक्षण करने की ही आवश्यकता है।'[३१]

अब हम भली प्रकार जानते हैं कि इस शल्यक्रिया का विस्तृत निरूपण हमें 'सुश्रुत' में मिलता है। यद्यपि यह कुछ नाट्यात्मक है तब भी भारत की टीका लगाने की पद्धति, बर्फ का उत्पादन, भारतीय कृषि के उपकरण, भारतीय रसायन तथा रंग भी इसी प्रकार से निरूपित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह निरूपण ब्रिटिश या यूरोप के तात्कालिक आवश्यकता के प्रतिभाव के रूप में होंगे। यह माना जा सकता है कि इस प्रकार की शोधों के लिए अन्य देशों की भाँति भारत भी एक देश हो सकता है। पचास वर्षो के अन्तराल में जिस प्रकार से इन निरूपणों का विश्लेषण हुआ, चर्चा हुई, विशेषज्ञों तथा विद्वानों के लिए उनका प्रकाशन हुआ उससे पता चलता है कि इस तकनीक को ग्रहण करने वालों ने ब्रिटिश तथा यूरोपीय आवश्यकता के भाग को तो आत्मसात् कर लिया पर सम्भवत: उसका मूल स्रोत सर्वथा भुला दिया।

उपरोक्त निरूपण यह नहीं सूचित करता कि सन १८०० के वाद ब्रिटिश तथा यूरोप की तकनीक निश्चित रूप से भारत से प्राप्त सूचनाओं तथा ज्ञान के कारण ही है। लगभग १३ वीं शताब्दी से ही विशेष रूप से एशिया से यूरोप की ओर विचारों, ज्ञान

तथा तकनीक की धारा प्रवाहित हो रही थी। यूरोप को उसें आत्मसात तथा अंगीभूत करने में पर्याप्त समय लगा। यूरोप ने एक के बाद एक उन सभी बातों को अपने ज्ञान के भण्डार में सम्मिलित कर लिया, जो उसे महत्त्वपूर्ण लगा। १८२० या १८३० तक यूरोप अपनी रुचि के विषयों में जिनसे उसने विज्ञान तथा तकनीक के विकास में योगदान प्राप्त किया था उन देशों से बंहुत आगे निकल गया था। अतः अब उस ज्ञान के स्रोत को याद रखने की उसे कोई आवश्यकता नहीं थी।

आज यह बात भली भाँति स्वीकार कर ली गयी है कि १८ वीं सदी के उत्तरार्ध तथा १९ वीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय उद्योगों का जो क्षरण तथा पतन हुआ उसमें भारत की तकनीकी प्रणाली अथवा आर्थिक क्षमता कारणभूत नहीं थी। इस स्थिति में अनेक प्रणालियां विदेशों की स्पर्धा में स्थापित हो सकती थीं (जैसे भारत के सूती कपड़े के उद्योग ने कई दशकों तक - लगभग १८५० तक - स्थापित करके दिखाया है)। इसका नाश तथा पतन सोच समझकर बनाई गई ब्रिटिश नीति के द्वारा राजकीय तथा राजस्व के माध्यम से किया गया। भारत के कपड़ा उद्योग के पतन का विषय डॉ. जितेन्द्र गोपाल बोरपुजारी और अन्य कई लोगों के हाल ही के अध्ययन में स्पष्ट रूप से निरूपित है।[३२]

४.

लगभग ७०-८० वर्षों से, विशेषकर १९४७ से भारत में औद्योगिकरण के प्रयत्न पश्चिम के नमूने पर किये गये हैं। इस प्रकार के औद्योगिकरण में किस प्रकार आगे बढ़ना है इस विषय पर पर्याप्त चर्चा हुई है। चर्चा का विषय यह था कि क्या स्थानीय तकनीकी का विकास होते होते वह उच्च स्तर के विज्ञान में परिणत हो जाती है या विज्ञान ही आदिम तकनीकी का परिष्कार कर उसे आधुनिक बनाता है। अनेकों प्रकार से उलझे रहें तो भी हमें आज भी तकनीकी का स्वयं निर्माण करने या सुधार करने की अपेक्षा आन्तरराष्ट्रीय बाजार से उसे खरीद करना सस्ता और सुगम लगता है। हमने गत तीन दशकों में अपनी क्षमता के अनुसार अनेक औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन किया है। परन्तु हमारे अधिकांश लोग उन वस्तुओं की अपेक्षा उन्हीं के समान स्तर की विदेशी वस्तुएँ खरीद करना पसन्द करते हैं। इसका एक खुलासा यह भी हो सकता है कि गत ३०-४० वर्षो में हमने जो उत्पादन किया है वह मूल रूप से कोई नवीन तकनीक नहीं है अपितु अन्य देशों से प्राप्त तकनीक की नकल ही है। इतना ही नहीं तो आधुनिक औद्योगिक देशों से प्राप्त तकनीक तथा यन्त्रों के भागों का विचार ही हमने ले लिया है।

इस प्रकार की सोच हमें नवीन आविष्कारों से दूर रखती है - फिर वह हमारी स्वंय की सोच ही क्यों न हो।

इस औद्योगिक विकास के साथ साथ ही हमारे देश में अधिकांश रूप में परम्परागत देशी तकनीक भी चलती रही, भले ही वह धीरे धीरे कम होती गई और उसका स्वरूप पुराना पड गया। लोहे तथा स्टील की देशी उत्पादन पद्धति तो न जाने कब की छोड़ दी गयी। उस पर दो सदियों पूर्व की इलाहाबाद में प्रयुक्त की जाने वाली बर्फ के उत्पादन की पद्धति जिसके वैज्ञानिक पक्ष को समझने का ग्रेट ब्रिटेन की रॉयल सोसायटी ने उस समय गम्भीरता से विचार किया था, वह भी निरस्त हो गई। अधिकांश कृषि साधनों का, सांचों का, चरखे का उत्पादन (जिसका उत्पादन अप्रिल-जून १९२१ के समय में महात्मा गांधी ने बीस लाख तक पहुँचाया), रसायन के रंगद्रव्य, बैलों के द्वारा चलने वाला तेल का कोल्हू, खेती के मिश्रित खाद तथा बैलों के द्वारा हल चलाना भी ग्रामीण स्तर पर कम होने लगा था। आधुनिक उद्योग शीघ्रता पूर्वक गांव तथा कस्बों के उत्पादन का स्थान ले रहे थे। गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाली भारत की जनता के ५० प्रतिशत लोग जो आधुनिक वस्तुएं नहीं खरीद सकते, वे जो उनके लिए बहुत आवश्यक समझी जाती थीं ऐसी वस्तुओं के बिना भी काम चला लेते हैं। महत्त्वपूर्ण आधुनिक महलों में भारतीयता का ठप्पा लगाने के लिए प्रयुक्त करने के उद्देश्य को छोडकर चिनाई का स्थानीय माल-सामान तेज़ी से अद्दश्य हो रहा है। विज्ञान एवं तकनीकी के भार से लदे रहने पर भी हम बिलकुल निम्नस्तर पर ही टिके हुए हैं तथा सहायता के बावजूद भी किसी निश्चित ध्येय की ओर नहीं जा पा रहे हैं। हाँ, महानगरों में अब भी कुछ चमक दिखाई देती है। समाज का उच्च वर्ग भी स्थिति से प्रसन्न नहीं है तथा उसका एक बड़ा हिस्सा औद्योगिक रूप से सम्पन्न कार्यरत विस्तारों में स्थानान्तरित किया जा रहा है। बेशक यह गलत है परन्तु यदि कोई पहल करने के लिए तैयार ही हो तो उसे दोष नहीं दिया जाना चाहिए, कम से कम उसने कोई पहल तो की है। उसे तो इस बात की शाबाशी देनी चाहिये कि वे हमेशा अपने लोगों की पीठ पर सवार नहीं होना चाहते हैं।

हमें नये सिरे से प्रारम्भ करना होगा। ऐसा नहीं है कि हम तकनीक तथा उद्योगों को तुरन्त ही छोड़ दें। कम से कम आने वाले एक दो दशकों के लिए वर्तमान जगत में हमें अपनी सुरक्षा एवं अस्तित्व के लिए जो मूल रूप से आवश्यक महसूस हो, उसे संभाल कर रखना होगा तथा खूब सोच विचार करने के पश्चात्, अन्त में, हम औद्योगिक

तथा तकनीक की धारा प्रवाहित हो रही थी। यूरोप को उसें आत्मसात तथा अंगीभूत करने में पर्याप्त समय लगा। यूरोप ने एक के बाद एक उन सभी बातों को अपने ज्ञान के भण्डार में सम्मिलित कर लिया, जो उसे महत्त्वपूर्ण लगा। १८२० या १८३० तक यूरोप अपनी रुचि के विषयों में जिनसे उसने विज्ञान तथा तकनीक के विकास में योगदान प्राप्त किया था उन देशों से बंहुत आगे निकल गया था। अतः अब उस ज्ञान के स्रोत को याद रखने की उसे कोई आवश्यकता नहीं थी।

आज यह बात भली भाँति स्वीकार कर ली गयी है कि १८ वीं सदी के उत्तरार्ध तथा १९ वीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय उद्योगों का जो क्षरण तथा पतन हुआ उसमें भारत की तकनीकी प्रणाली अथवा आर्थिक क्षमता कारणभूत नहीं थी। इस स्थिति में अनेक प्रणालियां विदेशों की स्पर्धा में स्थापित हो सकती थीं (जैसे भारत के सूती कपड़े के उद्योग ने कई दशकों तक - लगभग १८५० तक - स्थापित करके दिखाया है)। इसका नाश तथा पतन सोच समझकर बनाई गई ब्रिटिश नीति के द्वारा राजकीय तथा राजस्व के माध्यम से किया गया। भारत के कपड़ा उद्योग के पतन का विषय डॉ. जितेन्द्र गोपाल बोरपुजारी और अन्य कई लोगों के हाल ही के अध्ययन में स्पष्ट रूप से निरूपित है।[३२]

४.

लगभग ७०-८० वर्षों से, विशेषकर १९४७ से भारत में औद्योगिकरण के प्रयत्न पश्चिम के नमूने पर किये गये हैं। इस प्रकार के औद्योगिकरण में किस प्रकार आगे बढ़ना है इस विषय पर पर्याप्त चर्चा हुई है। चर्चा का विषय यह था कि क्या स्थानीय तकनीकी का विकास होते होते वह उच्च स्तर के विज्ञान में परिणत हो जाती है या विज्ञान ही आदिम तकनीकी का परिष्कार कर उसे आधुनिक बनाता है। अनेकों प्रकार से उलझे रहें तो भी हमें आज भी तकनीकी का स्वयं निर्माण करने या सुधार करने की अपेक्षा आन्तरराष्ट्रीय बाजार से उसे खरीद करना सस्ता और सुगम लगता है। हमने गत तीन दशकों में अपनी क्षमता के अनुसार अनेक औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन किया है। परन्तु हमारे अधिकांश लोग उन वस्तुओं की अपेक्षा उन्हीं के समान स्तर की विदेशी वस्तुएँ खरीद करना पसन्द करते हैं। इसका एक खुलासा यह भी हो सकता है कि गत ३०-४० वर्षो में हमने जो उत्पादन किया है वह मूल रूप से कोई नवीन तकनीक नहीं है अपितु अन्य देशों से प्राप्त तकनीक की नकल ही है। इतना ही नहीं तो आधुनिक औद्योगिक देशों से प्राप्त तकनीक तथा यन्त्रों के भागों का विचार ही हमने ले लिया है।

इस प्रकार की सोच हमें नवीन आविष्कारों से दूर रखती है - फिर वह हमारी स्वंय की सोच ही क्यों न हो।

इस औद्योगिक विकास के साथ साथ ही हमारे देश में अधिकांश रूप में परम्परागत देशी तकनीक भी चलती रही, भले ही वह धीरे धीरे कम होती गई और उसका स्वरूप पुराना पड गया। लोहे तथा स्टील की देशी उत्पादन पद्धति तो न जाने कब की छोड़ दी गयी। उस पर दो सदियों पूर्व की इलाहाबाद में प्रयुक्त की जाने वाली बर्फ के उत्पादन की पद्धति जिसके वैज्ञानिक पक्ष को समझने का ग्रेट ब्रिटेन की रॉयल सोसायटी ने उस समय गम्भीरता से विचार किया था, वह भी निरस्त हो गई। अधिकांश कृषि साधनों का, सांचों का, चरखे का उत्पादन (जिसका उत्पादन अप्रिल-जून १९२१ के समय में महात्मा गांधी ने बीस लाख तक पहुँचाया), रसायन के रंगद्रव्य, बैलों के द्वारा चलने वाला तेल का कोल्हू, खेती के मिश्रित खाद तथा बैलों के द्वारा हल चलाना भी ग्रामीण स्तर पर कम होने लगा था। आधुनिक उद्योग शीघ्रता पूर्वक गांव तथा कस्बों के उत्पादन का स्थान ले रहे थे। गरीबी की रेखा के नीचे जीवन यापन करने वाली भारत की जनता के ५० प्रतिशत लोग जो आधुनिक वस्तुएं नहीं खरीद सकते, वे जो उनके लिए बहुत आवश्यक समझी जाती थीं ऐसी वस्तुओं के बिना भी काम चला लेते हैं। महत्त्वपूर्ण आधुनिक महलों में भारतीयता का ठप्पा लगाने के लिए प्रयुक्त करने के उद्देश्य को छोडकर चिनाई का स्थानीय माल-सामान तेज़ी से अदृश्य हो रहा है। विज्ञान एवं तकनीकी के भार से लदे रहने पर भी हम बिलकुल निम्नस्तर पर ही टिके हुए हैं तथा सहायता के बावजूद भी किसी निश्चित ध्येय की ओर नहीं जा पा रहे हैं। हाँ, महानगरों में अब भी कुछ चमक दिखाई देती है। समाज का उच्च वर्ग भी स्थिति से प्रसन्न नहीं है तथा उसका एक बड़ा हिस्सा औद्योगिक रूप से सम्पन्न कार्यरत विस्तारों में स्थानान्तरित किया जा रहा है। बेशक यह गलत है परन्तु यदि कोई पहल करने के लिए तैयार ही हो तो उसे दोष नहीं दिया जाना चाहिए, कम से कम उसने कोई पहल तो की है। उसे तो इस बात की शाबाशी देनी चाहिये कि वे हमेशा अपने लोगों की पीठ पर सवार नहीं होना चाहते हैं।

हमें नये सिरे से प्रारम्भ करना होगा। ऐसा नहीं है कि हम तकनीक तथा उद्योगों को तुरन्त ही छोड़ दें। कम से कम आने वाले एक दो दशकों के लिए वर्तमान जगत में हमें अपनी सुरक्षा एवं अस्तित्व के लिए जो मूल रूप से आवश्यक महसूस हो, उसे संभाल कर रखना होगा तथा खूब सोच विचार करने के पश्चात्, अन्त में, हम औद्योगिक

उत्पादन के देसी आयोजन की प्रथम ईंट का सर्जन करने वाली एक दो महत्त्वपूर्ण चीज़ों को ही रखेंगे। हमें उच्च विज्ञान तथा उच्च तकनीक के द्वारा उत्पादित वस्तुएँ भी छोड़ देने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिये यदि हम सही रूप में महत्त्वाकांक्षी हैं तो हम सूर्य से ऊर्जा प्राप्त करने की योजाना बनाएँगे (न कि केवल सोलर कुकर वरन् बिजली तथा भाप आदि भी।) जो कि भारत के प्रत्येक मनुष्य को सुलभ हो सके। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए चिरपरिचित गोबर गैस प्लान्ट सहित गैस के सभी स्रोतों को वहां तक पहुँचाया जा सकता है जहां तक गैस पहुँचती है तथा ऐसे क्षेत्रों के सामान्य ग्रामीण क्षेत्र तथा नगर के परिवारों की इन्धन की दैनन्दिन आवश्यकतायें पूरी की जा सकती हैं। जिस प्रकार साइकल के विषय में हुआ उसी प्रकार आधुनिक तकनीक तथा उपकरणों का भारत के सामान्य लोगों के साथ परिचय बनाने में भी सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

जिस प्रकार ५०,००,००० हेक्टर इन्धन की लकड़ी देने वाले वृक्ष उगाने के लिए बंजर भूमि के विकास का कार्यक्रम ढिंढ़ोरा पीटकर प्रारम्भ करने के बाद असफल हो गया, और जो महकमे तथा एजेंसियां ऊर्जा के गैर पारम्परिक स्रोतों के विषय में वीर बहूटी की भांति काम कर रही हैं, उससे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारत के आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में क्या होता है उसकी चिन्ता किये बिना यदि ऊर्जा स्रोत सीधे ही उपलब्ध नहीं कराये गये तो लोग भूखों मरेंगे।

हो सकता है कि यह बात पहली बार में कुछ विचित्र सी लगे परन्तु ऐसा लगता है कि कोई गंभीर विघटन, हमारे जीवन व हमारी स्वस्थता को चूर चूर करने वाली कोई धमकी ही हमारे अंधकार रूपी आलस्य से हमें बाहर निकाल सकेगी और ऐसे कदम उठाने कि लेय बाध्य करेगी जिस के परिणामस्वरूप हमारे युवा वैज्ञानिकों को विज्ञान एवं तकनीकी के क्षेत्र में हमारे समाज के लिये उपयोगी कुछ सृजनात्मक खोज करने का अवसर प्राप्त होगा।

यद्यपि यह एक छोटी सी शुरुआत हो सकती है तथापि, प्रो. वासुदेव मूर्ति एवं बेंगलौर के अन्य वैज्ञानिकों द्वारा सौर कोष तथा विद्युत उपकरण बनाने में प्रयुक्त होने वाले अति शुद्ध सिलिकोन के स्वदेशी उत्पादन की प्रक्रिया खोजने के काम का स्वागत किया जाना चाहिए। निराशा के वातावरण तथा सबसे अनभिज्ञ रहने के बावजूद भी यह सम्भव है कि अन्य कई वैज्ञानिक तथा तकनीकी विशेषज्ञ अन्य प्रश्नों के समाधान की खोज में इसी प्रकार कार्यरत हो सकते हैं और यदि वे सफ़ल हो जाते हैं तो उनकी उपलब्धि नया रास्ता बनाने वाली हो सकती है।

५.

हज़ारों वर्षों से लेकर कम से कम सन् १८०० तक जिस नूतन तकनीक का कुशलता से प्रयोग होता रहा है उसे देश के लिए प्राथमिक अर्थतंत्र तथा उद्योगों की पुर्नरचना के लिए लोगों में प्रचलित करना ही हमारा मुख्य कार्य है। अभी हमने इसकी उपेक्षा की है। इतना ही नहीं तो हमने प्राथमिक अर्थतंत्र को गौण बनाकर नये अर्थतंत्र तथा उद्योगों को खोजने का प्रयास किया है। यदि यह प्रयास सफल होता और प्रारम्भिक स्तर पर कुछ उत्साह निर्माण होता तो कुछ समय तक तो कोई शिकायत नहीं आती। इतना ही नहीं तो वह सफल होती भी दिखती। परन्तु समस्त प्रयास बीच ही में बेकार हो गये। इतना ही नहीं तो इनको प्रारम्भ करने वालों ने भी जैसे आशा का दामन छोड़ दिया। २१ वीं शताब्दी में नयी विद्युत क्रान्ति समृद्धि लाएगी, यह बात विश्वशान्ति के भावपूर्ण तर्क, पर्यावरण, बायोक्षेत्र तथा वातावरण के स्तर की थी। हमारी असफ़लता के कारणों में एक कारण यह भी है कि हमने बिना सोचेसमझे ही नकल के आधार पर नये अर्थतंत्र तथा उद्योगों को खड़ा करने का प्रयास किया और वह भी अपने केवल दो प्रतिशत या उससे भी कम लोगों की प्रतिभा के आधार पर। बाद में विचार करने पर लगता है कि १९१६-१८ में विश्वकर्मा कम्यूनिटी के समक्ष उपस्थित प्रतिनिधि का अवलोकन ठीक ही है कि तकनीकी के ज्ञान में प्रवीण कारीगरों के वर्ग को नये विज्ञान तथा शिक्षण से दूर रखने से बहुत नुकसान हुआ है।[३३]

पिछले अनेक वर्षो में भारतीय समाज के निचले अथवा गौण अधिकारी वर्ग की भूमिका का हमारे कई इतिहासकारों ने अध्ययन किया है। अब तक के अधिकांश अध्ययन १८५० के बाद में हुए हैं। ये अध्ययन मानसिक दबाव व भविष्य की आशा को ध्यान में रखकर किये गये हैं। परन्तु हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम उन्हें किस सैद्धांतिक आधार पर देखते हैं। यदि अंग्रेजों के शासन के पूर्व अथवा प्रारम्भ में ही हमने इस निचले अधिकारी वर्ग का अध्ययन कर लिया होता तो हमें भारत की मूल्यवान समझ प्राप्त हो गयी होती। इससे इस प्रकार के अध्ययन या अधिकारियों के दैनन्दिन जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता था, तथा उनके २०० वर्ष पूर्व के उत्पादन, उनकी तकनीक की रचना में किस प्रकार वे संगठित थे, उसके विषय में हम ठीक प्रकार से ज्ञात हो पाते।

बहुचर्चित भारतीय तकनीक की सादगी ने हमें गुमराह किया है। उदाहरण के लिये जेम्स मिल द्वारा इस सादगी को कमी मान लिया गया। स्वतंत्रता की लड़ाई के समय इस सादगी को लगभग समाप्त ही कर दिया गया। जब हमारे अंग्रेज़ मालिकों को

कुरूप तथा वजनदार फर्नीचर के लिए पुरस्कार दिया गया तथा नाज़ुक लगने वाले ब्रिटिश जोर्जियन फर्नीचर को कम उपयोगी बताया गया तब १९ वीं शताब्दी में या उससे भी बाद हमने भी उस बात का स्वीकार किया। इस प्रकार के निर्णय को स्वीकार कर लेने के बाद हमें जो बताया गया था उसकी सत्यता के विषय में सोचा तक नहीं। हमने इस पर भी विचार नहीं किया कि भारतीय तकनीक की बाह्य सादगी तथा सुन्दरता कुशलता की उच्च मात्रा तथा सही नापों का परिणाम था। भारत की लोहे की भट्ठी की रचना (जो १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक बडे पैमाने में उपयोग में थी) इस (भारतीय तकनीक) की कुशलता का उत्तम प्रतिनिधित्व करती है।

६.

उदाहरण के लिये मुझे लगता है कि संसाधनों का वितरण, आयोजन तथा कानूनों एवं नियमों की सहायता, आवश्यक मुद्दों पर राहत एवं बाज़ार के स्थिरीकरण आदि में हमें यथासम्भव प्रयास करने चाहिए जिससे भारत के लोहे की कच्ची धातु को गलाने की तथा लोहे की बनावट की पद्धतियों को पुनर्जीवित किया जा सके। इस प्रकार के प्रयास बड़े स्टील प्लांट्स में दखल नहीं देंगे। सन् १८०० के आसपास की चलती-फिरती भट्ठी वर्ष में ३५-४० सप्ताह चलाने से लगभग बीस टन उच्च कोटि के लोहे का उत्पादन कर सकती थी। भिन्न भिन्न क्षेत्रों से उपलब्ध सूचना के आधार पर मैंने सामान्य अंदाज़ निकाला था कि सन् १८०० के आसपास इस प्रकार की भट्ठियों की संख्या लगभग १०,००० थी। यह भी सम्भव है कि यह आंकड़ा इससे भी अधिक हो। परन्तु उनमें से अधिकांशत: वर्ष में केवल १० से २० सप्ताह ही चलती थीं। यह भी सम्भव है कि आज की स्थिति में यही कच्ची भट्ठियां धातु तथा लोहे दोनों के लिये अधिक खर्चीली सिद्ध हों तथा उनसे उत्पादित होने वाला लोहा भी निम्न कोटि का हो। कुछ लोगों को ये प्रयास निरर्थक लग सकते हैं, परन्तु उन्हीं लोगों को अपने जल्दबाज़ी में लिये निर्णय तथा दोषपूर्ण तकनीक के कारण होनेवाला अरबों का नुकसान केवल आधुनिक अर्थतंत्र एवं उद्योगतंत्र की व्यावसायिक कठिनाई ही लगती है, जब कि चलती फिरती भट्ठी के प्रकार की योजना पर १०, २० या ५० करोड़ का नुकसान अक्षम्य महसूस होता है।

हम अपने जनसामान्य को, विशेषकर जिनको उद्योग तथा उत्पादन की प्रक्रिया की विशेष तथा स्वाभाविक समझ है उन्हें किस प्रकार क्षमता के अनुसार राष्ट्रीय कार्य में संलग्न होने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं? उन्हें मज़दूर बनाकर तथा केवल उनके स्नायविक शक्ति का योगदान लेकर तो ऐसा किया नहीं जा सकता। इनमें से कुछ लोगों

को वर्तमान आई.आई.टी. में प्रवेश देना चाहिये। उस हेतु से आई. आई. टी के पाठ्यक्रमों में भी आवश्यक बदल करने चाहिये। केवल सिद्धान्त के जानकार तथा अन्तर्निहित सूझबूझ व अनुभव से परिस्थिति को समझने वालों के बीच कुछ आदान प्रदान की सम्भावना निर्माण करनी चाहिये। उनकी प्रतिभा तथा मौलिक क्षमता का भारत की तकनीकी एवं औद्योगिक पुनरुत्थान में योगदान प्राप्त करने का यह भी एक मार्ग हो सकता है।

जहां कच्चा माल उपलब्ध है, वहां वर्षों से इस काम में लगे हुए लोग तथा जिनके मन में पुरानी स्मृतियां अब भी जीवित हैं या फिर जिन्होंने बचपन में उनको देखा है ऐसे लोग लगभग १०० स्थानों पर धातु गलाने की पुरानी भट्ठियां चालू रखकर हमारी पुरानी तकनीक जीवित रखने में सहायता कर सकते हैं। जब तक व्यक्तिगत रूप से मार्गदर्शन मांगा न जाय तब तक आधुनिक विशेषज्ञ अथवा प्रबन्ध करने वाले संस्थानों को मार्गदर्शन करने से आग्रहपूर्वक दूर रखना चाहिए। यह भी सम्भव है कि सभी प्रयासों में सफ़लता न भी प्राप्त हो। परन्तु इसमें भी कोई संशय नहीं है कि आधे या फिर चौथाई भाग के प्रयासों में तो सफ़लता अवश्य ही प्राप्त होगी। इस प्रकार की आंशिक सफ़लता भी हमें अवश्य एक प्रारम्भ बिन्दु प्रदान करती है। सफ़ल रूप से धातु गलाने वाले धातु विद्या शास्त्री को बड़ी सरलता से यह सफ़लता प्राप्त हो सकती है और हम इसकी महत्त्वपूर्ण तकनीक का आदानप्रदान कर सकते हैं। गलाने वाली पुरानी भट्ठी को बिलकुल ही छोड़ देने की आवश्यकता नहीं है। हां, वर्तमान सन्दर्भ में उसमें यदि अनेक प्रकार के परिवर्तन कर, उनका पुन: सर्जन कर, उस प्रक्रिया में से गुज़रकर न केवल अपने उच्च विज्ञान तथा उच्च तकनीक के लोग अपितु पीढ़ियों से इस विशेष तकनीक में लगे हुए लोग भी कई नई बातें सीख सकते हैं। इसके परिणाम स्वरूप धातु गलाने वालों का विश्वास तथा प्रतिष्ठा का भाव पुनर्जाग्रत होगा। इससे भी अधिक आवश्यक यह है कि वर्तमान सन्दर्भ में पूरी प्रक्रिया का नये सिरे से मूल्यांकन करने की प्रेरणा भी उन्हें मिलेगी। यह तो प्रसिद्ध है कि इस प्रकार की धातु गलाने की भट्ठी का प्रयोग चीन में १९५० के आसपास किया गया था। परन्तु, इसका प्रारम्भ क्यों हुआ था और इसके पश्चात् उसका क्या हुआ और पुनः शुरू करने के बाद उससे वे क्या सीख सके इसके विषय में कुछ पता नहीं चलता है। हमारा प्रयास यदि चीन के जैसा भी हो तो भी परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक सभ्यता को अपना अध्ययन अपनी पद्धति से ही करना पड़ता है। दूसरों के द्वारा किया गया कार्य उनके लिए विभिन्न दिशाओं में अग्रसर होने के लिए एक निर्देश भर हो सकता है।

इसी प्रकार की समझदारी लम्बे अरसे से उपेक्षित अन्य तकनीकियां एवं उद्योगों के विषय में भी दर्शाई जा सकती है। कोई आश्चर्य नहीं कि उनमें से कुछ तो अपने नवीन सामान्य सुधारों के बाद उत्पादन तथा कीमत की दृष्टि से आधुनिक विश्व उद्योगों की तुलना में समान रूप से सक्षम होंगी।

शोध तथा नवीनता की प्रक्रिया को समझने का दूसरा मार्ग पश्चिम की अतीत की विशेष प्रकार की पुरानी तकनीकी एवं उद्योगों की उत्साहपूर्ण विस्तृत खोज का है। पश्चिम तथा भारत की पुरानी तकनीकीसे परिचित उच्च, योग्य तथा शोध में रुचि रखनेवाले भारतीय वैज्ञानिक एवं तकनीकी विशेषज्ञ ही यह कार्य कर सकते हैं। वैविध्यपूर्ण सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर इतस्ततः बिखरी हुईं जानकारियां, प्रयोग और विचार किस प्रकार दीर्घ समयावधि में जुडते गये और इस योग से ही सन् १९०० के आसपास किस प्रकार एक नया महत्त्वपूर्ण मोड आया वह तभी समझा जा सकता है। नई खोजें कैसे होती हैं और किस प्रकार के मस्तिष्क और परिस्थितियां उसमें कारणीभूत होती हैं उसकी जानकारी भी उसीसे प्राप्त होती है।

७.

अन्त में नेशनल काउन्सिल ऑफ़ साइन्स म्यूजियम तथा भारत सरकार, जिसे राष्ट्रीय स्तर की योजना के अन्तिम चरण यानि धन के उत्तरदायित्व को वहन करना है, उसने यदि प्रत्येक तेहसील में नहीं तो कम से कम प्रत्येक जिले में तकनीकी के संग्रहालय की स्थापना करने के बारे में सोचना होगा। यदि इस प्रकार के संग्रहालयों में आधुनिक तथा पाश्चात्य विज्ञान तथा तकनीकी के उत्पादनों की जानकारी का स्थान होगा तब भी मुख्य रूप से वे जिस क्षेत्र में होंगे उसकी या फिर आसपास के क्षेत्रों की स्थानीय कलाकृतियां तथा तकनीकी उत्पादनों की जानकारी देनेवाले ही होंगे। यदि किसी विशेष तकनीक की कोई मूल वस्तु उपलब्ध न हो तो उसको मॉडल, चित्र, आकृतियां, नक्शे आदि के द्वारा प्रदर्शित करना चाहिये। सम्भव हो तो प्रत्येक संग्रहालय में पुस्तकालय भी होना चाहिये, जिसमें पुरानी पद्धतियां तथा उनका साहित्य एवं प्रत्यक्ष निदर्शन आदि सभी समाहित हो सकें। यदि इस प्रकार के संग्रहालय प्रत्यक्ष रूप से विज्ञान तथा तकनीकी को पुर्नजीवित करने में बहुत सहायता नहीं भी कर सकते हैं तो भी युवा मस्तिष्कों में समय के साथ खलबली पैदा करके अनेक प्रश्न उठाने में उनकी भूमिका महत्त्वपूर्ण हो सकती है। वे ऐसे स्थान होंगे जहां पारम्परिक उत्पादन पद्धति को स्थानीय लोग देख सकते हैं और उसकी कदर बूझ सकते हैं। यदि कोई और न भी आये

तब भी उस स्थान के स्कूल-कॉलेज के विद्यार्थी तो इस प्रकार के संग्रहालयों से लाभान्वित हो ही सकते हैं।

प्रारम्भ में यह आवश्यक नहीं है कि अनेक स्थानों पर इस प्रकार के संग्रहालयों के लिए भवन बनाने ही पड़ें। समग्र देश में देखा जाय तो तुरन्त उपयोग में आने वाले लगभग १०,००० भवनों के होने की सम्भावना है। इन्स्पैक्शन भवन, विश्राम गृह, सर्किट हाउस आदि... जिन में अर्धसरकारी निगम अथवा शैक्षणिक संस्थान सम्मिलित नहीं है - सब मिलाकर यह संख्या बनती है। ये भवन ऐसे हैं जो भारत में ब्रिटिश राज की 'विरासत' है। इनमें आम लोगों का प्रवेश नहीं है अत: उपयोगिता की दृष्टि से आज की ९० प्रतिशत संख्या बहुत शीघ्र ५ से १० प्रतिशत रह जायेगी ओर वे अधिक महत्त्वपूर्ण कामों के उपयोग में आयेंगे अथवा होटेल आदि बनाने के लिये बेच दिये जायेंगे। इस लिये उनमें से अच्छे भवनों का उपयोग कलाकृति के अधिक अच्छे संग्रहालय बनाने में करने की दिशामें शुरुआत हो सकती है।

संग्रहालय के कलाकेन्द्र, शोध संस्थाएँ आदि बनाने के लिए पुराने ऐतिहासिक स्मारकों को भी उपयोग में लाया जा सकता है। इनमें भव्य मन्दिर (जैसे तंजावुर जिले के मन्नारगुड़ी का वैष्णव मन्दिर) आदि का समावेश होता है जहां यात्रीगण तथा मुलाकाती अनेक कारणों से जाते ही नहीं। ये स्थान कमोबेश नये से ही हैं जो कलाकृतियों तथा अपनी परम्परा की प्रतीक ऐसी सभी वस्तुओं के योग्य संग्रहस्थान बन सकते हैं।

वे बंगले तथा प्राचीन स्मारक एवं मन्दिर, संग्रहालय अथवा अपनी कला या परम्परा के केन्द्र जिन पर राज्य का अधिकार है उनका प्रयोग करने के उपरान्त इन स्थानों की देखभाल तथा उपयोगिता का प्रश्न राष्ट्रीय तथा स्थानिक स्तर पर गंभीर तो है ही। जब तक जानसाधारण के प्रयोग के लिए उपलब्ध भवन निरन्तर स्थानिक रूप से प्रयोग में नहीं आते तब तक देश भर में भवन बनाने का कार्य पूर्ण रूप से स्थगित कर देना चाहिए।

८.

हमारी तकनीकी तथा उद्योगों को पुर्नजीवित करने में सहायक हमारे ही मूल से उत्पन्न उपरोक्त जानकारी के अतिरिक्त नवीनतापूर्ण व समाजउपयोगी अन्य भी अनेक मार्ग हो सकते हैं। वैसे तो सफलता पूर्वक कार्य करने के लिए हम किसी भी प्रकार से विश्व से अलग होकर काम नहीं करेंगे, फिर भी विश्व में पूर्ण रूप से तथा रचनात्मक पद्धति

से सहभागी होने के लिए हमें स्वयं को भी सभी प्रकार से तैयार करना होगा।

जैसा कि पहले भी कहा गया है हमारे युवा वैज्ञानिक तथा तकनीकी विशेषज्ञ जो विदेश जाते हैं 'बस सक्षम भर' हैं। इस बारे में मैं यह कहना चाहूँगा कि हमें सक्षमता को दूर करने की आवश्यकता नहीं है, न ही उसकी हंसी उड़ाने की अथवा छोड़ देने की आवश्यकता है। वास्तव में एक सही परिस्थिति में काम करने के लिए यह बहुमूल्य गुण है। हमें हरेक क्षेत्र में जो व्यावहारिक रूप से प्राप्त करना है वह हमारी संस्थाएँ, सिद्धांत, पद्धतियां तथा तकनीक प्राप्त नहीं कर पाती। बल्कि अनेक बार तो ये विघ्न ही बन जाती हैं। समग्रतया देखें तो हमारे पास सक्षम पुरुष व स्त्रियों की कमी नहीं है। हमें यह देखना चाहिए कि ध्यान योग्य पद्धतियाँ व साधन सामग्री की रचना करने की ओर देना चाहिये। यह भी सम्भव है कि लम्बे समय की गुलामी लोगों के कौशल को क्षीण कर देती है, उन्हें दिशा शून्य कर देती है। हमारे शिक्षण क्षेत्र, विज्ञान तथा मानवविज्ञानों के सक्षम नवीन खोज के कौशल तथा विवेक के प्रकाश के मार्ग ढूँढ़ना यही मुख्य कार्य है।

सन्दर्भ

१. आई.आई.टी. तथा समसमान संस्थाओं में पढाने वाले तथा शोधकार्य का मार्गदर्शन करने वाले अनेक लोगों की भी ऐसी ही धारणा है। मुझे यह भी कहा गया कि कुछ समय पूर्व भारतीय विज्ञान कॉंग्रेस में प्रा. अेम. जी. के. मेननने इसी प्रकार की धारणा प्रस्तुत की थी। परन्तु प्रा. सुदर्शन का अभिप्राय इससे विपरीत है।

२. शिव विश्वनाथन : ऑर्गनाइझिंग फॉर सायन्स : दि मेकिंग ऑव् एन इण्डस्ट्रीअल लॅबरेटरी, ओयुपी, १९८५, पृ. १६.

३. आई.ओ.एल., एम.एस.एस., इयुआर सी १४४/१७, रिचार्ड टेम्पल नोर्थब्रुक को, १८-२-१८७५.

४. ऑर्गनाइझिंग फॉर सायन्स, पृ. १९. पूर्व में २९-७-१८७६ को दि इण्डियन असोसिएशन फॉर कल्टिवेशन ऑव् सायन्स की स्थापना हुई थी।

५. वही, पृ. २८

६. वही, पृ. २९

७. वही, पृ. २५

८. वही, पृ. २६

९. वही, पृ. ३१

१०. वही, पृ. ३३

११. वही, पृ. ३३

१२. वही, पृ. ३७; २७-१२-१९२३ के 'यंग इण्डिया' में भी, 'दि कॉल ऑव् दि चरखा', आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का काकीनाडा के खादी प्रदर्शन में भाषण, २५-१२-१९२३.
१३. वही पृ. ३८
१४. वही पृ. ३६
१५. वही पृ. ४१
१६. वही पृ. ४२
१७. वही पृ. ४५
१८. वही पृ. ४५
१९. वही पृ. ३८-९
२०. वही पृ. ४६
२१. वही पृ. ४९-५०
२२. वही पृ. ५७
२३. वही पृ. ५३
२४. आधुनिक यूरोपीय वनस्पतिशास्त्र के 'पिता' लीनियस के द्वारा उल्लिखित स्रोतों में एक है 'होर्टस मालाबारिकस'।
२५. '१८वीं शताब्दी में भारत में विज्ञान एवं तन्त्रज्ञान', धर्मपाल, में इस अनुच्छेद में उल्लिखित तकनीकियों की विस्तार से चर्चा की गई है।
२६. 'रमणीय वृक्षः १८वीं शताब्दी में भारतीय शिक्षा', धर्मपाल। पीटर डेला वेली के १७वीं शताब्दी के वृत्तान्त का सन्दर्भ; साथ ही सन् १८०० से ब्रिटन में बच्चों को पढ़ाने के लिये मोनीटर पद्धति के स्वीकार का सन्दर्भ।
२७. कैप्टन हिराम कॉक्स : बर्मन एम्पायर के निवास का जर्नल; विशेष रूप से कोर्ट ऑव् अमरापुरा, लन्दन में, १८२१, पृ. ३३-४५. जर्नल की अवधि ८-१०-१७९६ से १-११-१७९७; तेल के कुओं की प्रविष्टि १-१-१७९७
२८. जे. सी. कार्प, 'माथे की त्वचा लेकर कटी हुई नाक को पुनःस्थापित करने की दो यशस्वी शल्यक्रियाओं का वृत्तान्त.... साथ ही है नाक की शल्यक्रिया विषयक ऐतिहासिक एवं शरीरवैज्ञानिक टिप्पणी.... भारतीय एवं इटलीयन पद्धति का वर्णन,' लन्दन, १८१६, पृ. ३६-३८
२९. वही, पृ. ३९-४०
३०. वही, पृ. ४२-४४
३१. वही, पृ. ४८-४९
३२. जितेन्द्र गोपाल बोरपुजारी, 'दि ब्रिटिश इम्पैक्ट ऑन द इण्डियन कॉटन टैक्स्टाईल इण्डस्ट्री १९५७-१८६५', कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी, पीएच.डी. शोधग्रन्थ (१९६९-७०)
३३. ऑर्गेनाइझिंग फॉर सायन्स, पृ. ५७.

१५. भारत का राज्यतन्त्र, उसके लक्षण एवं वर्तमान समस्याएं

१.

'महाभारत' भारतीय राज्य व्यवस्था का प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें लगभग १,००,०० श्लोक हैं। महाभारत भारत की स्मृतियों तथा आत्मचेतना की ऐतिहासिकता के साथ साथ सृष्टि के सर्जन की प्रक्रिया, युग के रूप में पहचानी गई समय की गति का विभाजन जो प्रत्येक युग के लक्षणों का विस्तृत वर्णन करता है, उसका भी निरूपण करता है। चार युगों में से तीसरे युग द्वापर का विस्तृत वर्णन करता है तथा द्वापर के अन्त में हुए महान युद्ध की विस्तृत जानकारी देता है।[1]

आज भारतीय उपखण्ड के रूप में भौगोलिक स्वरूप के जितने क्षेत्र हैं, महाभारत के समय में भी लगभग उतने ही क्षेत्र थे। वायव्य में लगभग ३८, मध्य में गंगा के क्षेत्र में २०, पूर्व में १०, दक्षिण में १० तथा मध्य पश्चिम में १० सहित मध्य के पहाड़ी क्षेत्र में १२ इस प्रकार जनपद क रूप में ज्ञात लगभग १०० प्रमुख प्रदेशों का वृत्तान्त महाभारत में प्राप्त होता है। इससे यह भी पता चलता है कि प्रत्येक प्रदेश में किसी निश्चित, अपनी पहचान रखने वाली तथा समरस जाति के लोगों का शासन था। संस्कृत के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के समूह की उनकी अपनी भी भाषा अथवा बोली होती थी। प्रतीत होता है कि समग्र भारतीय स्तर पर अथवा स्थानिक, सामाजिक स्तर पर भारत के सभी भागों में घरों में संस्कृत भाषा का प्रयोग होता था।

महाभारत तथा अन्य ग्रन्थ दर्शाते हैं कि प्रारम्भ की स्थिति में लोगों के बीच बहुत कम वार्तालाप होता था, मानव मात्र परम शान्ति की अवस्था में रहता था एवं वासना से मुक्त था। समय व्यतीत होने पर स्थिति में परिवर्तन आया, वासना जगी, इसके बाद अव्यवस्था फैली और बाद में लोगों पर शासन करने के लिए एक राजा बनाने की सलाह दी गयी।[2] लगभग इसी समय पहले वेद, फिर कृषि तथा उसके बाद कारीगरी निर्मित हुई। इस बदली हुई स्थिति में बहुत से भेद निर्माण हुए, चार वर्णो की रचना की गयी जिसके परिणाम स्वरूप आचरण, व्यवसाय एवं व्यापक आपसी सम्बन्धों के आधार

पर ही इस आन्दोलन् ने वैद्यकीय विज्ञान अर्थात् आयुर्वेद का सर्जन किया जो बाद में ज्योतिष विज्ञान, शिल्प विज्ञान तथा कला की अन्य विधाओं की ओर अग्रसर हुआ। इसके पश्चात् वेद चार भागों में विभाजित हुए और तत्पश्चात् उनका भी विभाजन असंख्य भागों में हुआ।

महाभारत लोगों को यह बताता है कि उनका एक राजा होना चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी कहता है कि राजा को न केवल धर्म, परम्परा तथा नैतिकता से बद्ध होकर अपितु मन्त्रियों की परिषद की सहायता से राज्य करना चाहिए। ३७ मन्त्रियों की परिषद होनी चाहिए जिसमें ५ ब्राह्मण, ८ क्षत्रिय, २१ वैश्य (महाभारत की रचना के समय के किसान तथा व्यापारी), ३ शूद्र (उस समय के कारीगर) तथा ज्ञान की सभी शाखाओं का ज्ञाता सूत (सारथि) जाति के व्यक्ति का समावेश होना चाहिए।[3] यह प्रतिनिधित्व उस समय के राज्य में उनके अनुपात अथवा महत्त्व अथवा दोनों को प्रदर्शित करता था।

राजा की आवश्यकता की प्रतीति से ही चक्रवर्ती की संकल्पना उत्पन्न हुई है। चक्रवर्ती एक प्रकार का सर्वोपरि राजा होता है जिसे भारत के किसी भी भाग में अथवा समग्र भारत में सभी प्रकार के सम्मान प्राप्त होते हैं तथा सभी उसे अपने से उच्च पद पर स्वीकार करते हैं। चक्रवर्ती राजा अन्य राजाओं की भांति उस प्रदेश के आन्तरिक राज्यतन्त्र में दखल नहीं देता। वह किसी भी प्रदेश का संचालन वहाँ के लोगों पर ही छोड़ता है। (चक्रवर्ती तथा उससे सम्बन्धित अन्य राजाओं का विचार कालिदास के रघुवंश सहित अन्य भारतीय साहित्य तथा सन् १८०० के बहुत से यूरोपीय लेखों में प्राप्त होता है।)

महाभारत भारतीय राज्यतन्त्र के मूल विचारों को दर्शाता है जब कि बाद के लिखे गये कितने ही लेख ऐसे हैं जो केवल राज्यतन्त्र या फिर राजकीय अर्थशास्त्र के विज्ञान की चर्चा करते हैं। इन में लगभग ई. पू. ३०० के आसपास लिखे गए कौटिल्य के अर्थशास्त्र को उत्कृष्ट माना जाता है। (भारत तथा पश्चिम के कई विद्वान भारत की घटनाओं के समय के विषय में सहमत नहीं हैं। 'धर्मशास्त्र के इतिहास' के लेखक स्व. श्री पी. वी. काणे के अनुसार पश्चिम के विद्वानों को यूरोप की घटनाओं के पूर्व का भारत का कोई भी समय मान्य नहीं है। उदाहरण के लिये भारतीय तथा चीनी लोग गौतम बुद्ध को लगभग ई. पू. १८ वीं शताब्दी में मानते हैं जब कि भारत को मान्यता देने वाले यूरोपीय विद्वान बुद्ध को ई. पू. छठी शताब्दी में रखते हैं। इस प्रकार की असहमति कौटिल्यके अर्थशास्त्र ही नहीं तो भारत की प्रत्येक घटना तथा उद्धरण के विषयमें है।) अर्थशास्त्र एक विशाल

ग्रन्थ है और उसका मुख्य विचार महाभारत के विचार से विपरीत, सभी सत्ताओं को केन्द्रित करके असंख्य गण राज्यों को एक ही सर्वोपरि राजा की छत्रछाया के नीचे लाने का है। अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र के लिए चक्रवर्तीत्व कुछ दूसरा अर्थ ही प्रदर्शित करता है। भारत में कहा जाता है तथा स्वीकार भी किया जाता है कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र केवल विपत्ति के समय के लिए है जबकि महाभारत शाश्वत काल के लिये है। अर्थशास्त्र का धार्मिक दर्जा भारत में कभी भी बहुत ऊँचा नहीं रहा है।

कहना चाहिये कि महाभारत अथवा अर्थशास्त्र दोनों में से एक भी संसार की वास्तविकताओं का वर्णन बहुत विस्तार से नहीं कर सके हैं। वास्तव के थोड़े बहुत प्रामाणिक वर्णन भारतीय अभिजात साहित्य में तथा उससे भी अधिक ई. पू. २०० के आसपास के शिलालेखों में दृष्टिगोचर होते हैं। अधिक सुप्रसिद्ध शिलालेख १० वीं शताब्दी के हैं। ये लेख दक्षिण भारत में मद्रास के पास एक समृद्ध नगर तथा विद्या का केन्द्र ऐसे उत्तरामेरु में है और आज भी उन्हें वहां देखा जा सकता है। उत्तरामेरु में एक ४२ सदस्यों की महासभा (परिषद) थी जिसमें पाँच समितियां थीं। इन पाँच समितियों के प्रत्येक सदस्य में उच्च योग्यता होना आवश्यक था। यह आवश्यक था कि उनमें कोई भी कमी न हो। इन सदस्यों की आयु लगभग ३७ से ७० के बीच होती थी तथा इनका चुनाव मतदान की विधि से किया जाता था। इस सभा के साथ साथ सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक समूह अथवा पालिकायें भी थीं जिनमें से प्रत्येक को किसी न किसी स्थानिक संस्था अथवा उसका कार्यभार सम्हालने में रुचि रहती थी।[४]

बाद में प्राप्त साहित्य से यह प्रदर्शित होता है कि व्यापक पारिवारिक सम्बन्ध अथवा बिरादरी अथवा प्रदेश आधारित जाति का मूल तो बहुत प्राचीन था। वास्तव यह है कि यह विचार आज के भारत में भी उतना ही प्रभावी है। व्यापक सम्बन्धों से बनी हुई जातियों की संख्या बडी विशाल होती थी। यहां तक कि किसी किसी क्षेत्र में तो एक क्षेत्र में लगभग १० से ५० तक जातियां रहती थीं। महाकाव्य, अन्य साहित्य तथा इतिहास इस प्रकार की प्रामाणिक जानकारियां उपलब्ध कराते हैं कि राजकीय तथा सामाजिक अर्थ में बडी संख्यामें सम्पूर्ण क्षेत्र किसी विशेष जाति के प्रभुत्व से युक्त रहते थे। (सम्भव है कि सामान्य रूप से यह जाति कृषकों एवं कारीगरों की हो।) प्राचीन भारतीय शास्त्रों के इतिहास में बताया गया है कि राजा व्यापक अर्थ में क्षत्रिय जाति से ही चुना जाता था। परन्तु जब यह प्रचलन व्यापक था तब भी राजा या राज्य प्रभुत्व रखने वाली जाति के अनुकूल या उस पर आधारित रहता था ऐसा महाभारत के सन्दर्भों से अनुमान लगाया जा सकता है।

२.

वैसे इन क्षेत्रों तथा जातियों के दृष्टिकोण से आज तक कोई बहुत विस्तृत अध्ययन नहीं किया गया है। यदि ऐसा अध्ययन होता तो वह भारत के निकायों तथा जातियों में आज तक चले आ रहे भारतीय राज्यतन्त्र का वास्तविक निरूपण उपलब्ध करवाता। भारत की वास्तविकता के, अपने मुख्य स्रोत के विषय में हमें अभी भी जानना तथा उसकी खोज करना बाकी है। हमें १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के कई क्षेत्रों में से ४०० जिलों के एक ऐसे क्षेत्र की सूचना प्राप्त होती है जिसका नाम चेंगलपट्टु है तथा जो मद्रास के पास स्थित है। अंग्रेजों ने सर्वेक्षण के बाद दो हजार अथवा उससे भी अधिक बस्तियों की भूमि, जनसंख्या, उद्योग केन्द्र व उनकी व्यवस्था, कृषि उत्पादन आदि का विस्तृत निरूपण १९६७-७४ के बीच स्थानिक वृत्तान्तों के आधार पर किया है।

१७७० के आसपास चेंगलपट्टु जिले में लगभग २२०० बस्तियां थीं।[५] अधिकांश बस्तियों में मूल निवास से ही कुछ दूरी पर उपनिवास भी थे। बस्तियां गाँव ही थीं जहाँ का प्रमुख आर्थिक स्रोत कृषि तथा पशुपालन था। परन्तु बहुत से स्थानों पर बहुत कम खेती होती थी। इनमें से अधिकांश बस्तियां नगरीय थीं जहां उच्च शिक्षा के केन्द्र थे। इनमें से कुछ तीर्थधाम भी थे जब कि दूसरे स्थान बुनाई केन्द्र, मछलियां पकड़ने का व्यवसाय, तेल उत्पादन, पत्थर काम तथा अन्य हस्तकला से जुड़े हुए थे। सातवीं शताब्दी तक दो जुड़वे गाँवों से बना विख्यात कांचीपुरम् विद्या का प्राचीन केन्द्र था तथा राजकारण, प्रशासन, उद्योग, व्यापार का दक्षिण भारत का प्रमुख केन्द्र था। आज की भांति कांचीपुरम् १७७० में भी धर्म का महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थल माना जाता था। यह स्थल अनेकों विभिन्न बुनकरों, पत्थर की खुदाई करने वालों तथा अनेक हस्तकला में रत लोगों के गाँवों तथा शहरों से घिरा हुआ था।

१७७० के सर्वेक्षण के अनुसार २,२०० बस्तियों की सूची बनी होने के बावजूद भी विशेष उपलब्ध सूचना केवल १९१० बस्तियों की है। १७७० के आसपास इनमें १,५५४ बस्तियों में लोग रहते थे जबकि ३५६ में किसी का निवास नहीं था। १५५४ बस्तियों में ६२,५२९ घर थे। इनके अतिरिक्त वहां मंदिर, तीर्थ स्थल, शिक्षा केन्द्र, यात्रियों के लिए आरामगृह आदि थे। जिले में ३,००० से ४,००० मन्दिर तथा तीर्थ थे। माना जाता है कि इनमें से कितने ही स्थान ई. पू. सातवीं सदी में बने थे।

१,९१० बस्तियों का कुल क्षेत्रफल ७,७९,१३२ 'कणी' या लगभग ४,००,००० हेक्टर थंा (१ 'कणी'०.५ हेक्टर से कुछ अधिक होती है।) इसमें में से

१,८२,१७२ 'कणी' का क्षेत्र कृषि के लिए था। इस क्षेत्र का ८८,०६९ 'कणी' हिस्सा कृषि के लिए पूर्ण रूप से वर्षा पर निर्भर था। १,३०,७९० 'कणी' भूमि (कुल मिलाकर लगभग १७%) लकड़ी के लिए तथा १४,०५५ 'कणी' फलोद्यान, बाग बगीचों आदि के लिए रक्षित थी। दूसरी १,००,८०६ 'कणी' भूमि सिंचाई के पानी को रोकने के लिए ताल, कुण्ड (जिसे तमिल में एरी मादुंधगल कहा जाता है) के लिए प्रयुक्त की जाती थी। २४,००८ 'कणी' मनुष्यों के निवास के लिए थी। एक घर के लिए पिछले बाड़े सहित उपयोग में ली जाने वाली भूमि ०.०६ 'कणी' से लेकर १.७५ 'कणी' तक होती थी। ४,१९० कणी भूमि का उपयोग समुद्र के पानी से नमक बनाने के लिए किया जाता था। १,०९,२८९ 'कणी' के बराबर भूमि कृषि के योग्य होने पर भी कृषि के लिए प्रयोग में नहीं लाई जाती थी। शेष १,२१,०७२ 'कणी' भूमि पहाड़ियों से व्याप्त थीं जिससे वर्षा का पानी नदी बनकर बह जाता था। इस जिले का कुल क्षेत्र १,९१० बस्तियां थीं वह ऊपर उल्लिखित ७,७९,१३ कणी से भी ५०% अधिक था। इसका कारण यह था कि एक बस्ती तथा दूसरी बस्तियों के बीच की सीमाओं पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया गया था।

बस्ती की कुल भूमि का क्षेत्रफल लगभग ४०५ कणी (२१० हेक्टर) होता है, परन्तु ८२ बस्तियों के पास २० कणी से भी कम, १४३ के पास २० से २५ कणी तथा २४८ के पास ५० से १०० कणी भूमि थी। कृषि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बस्तियों के पास १०० से २०० कणी (४४५ बस्तियां), २०० से ५०० कणी (६२३ बस्तियां) तथा ५०० से १,००० कणी (२६२ बस्तियां) भूमि थी। १२४ बस्तियों की भूमि १,००० से ५,००० तथा दो बस्तियों में भूमि ५०० से ऊपर थी।

१,५५४ बस्तियों में प्रत्येक के पास लगभग ४०-४१ घर होने के बावजूद एक बस्ती के घरों में पर्याप्त विविधता थी। १५३ बस्तियों में हरेक के पास ५ से अधिक घर नहीं थे, १९९ में प्रत्येक के पास ६ से १०, ३२४ में प्रत्येक के पास ११ से २० तथा २४२ में प्रत्येक के पास २१ से ३० घर थे। २९६ में ३१ से ५०, ११८ में ५१ से ७०, ९६ में ७१ से १०० तथा ८३ के पास १०१ से २०० घर थे। नगर के समान २८ बस्तियों में २०१ से ५०० घर थे तथा केवल ५ बस्तियों में ही ५०० से अधिक घर थे। यह नगर ८०१ घरों वाला चिन्नकांचीपुरम्, ५९३ घरों वाला पेरिया कांचीपुरम्, ७२६ घरों वाला पुडुपक्कम्, ६०८ घरों वाला पिल्लईपलयम् , तथा राज्यतन्त्र विषयक १० वीं शताब्दी के शिलालेख सहित ६९१ घरों वाला उत्तरामेरू नगर थे। घरों की संख्या अथवा जनसंख्या के अनुपात में बस्ती के बड़े होने का क्रम चेंगलपट्टु में दिखाई

देता है जिसमें आज २०० वर्ष के बाद भी कुछ विशेष परिवर्तन नहीं है। भारत के अधिकांश प्रदेशों में इसी प्रकार का क्रम दिखाई देता है।

५० कणी से कम भूमि वाली २२५ बस्तियों में थोड़ी सी खेती होती थी। उनका एक बड़ा हिस्सा औद्योगिक केन्द्रों के रूप में प्रयुक्त होता था। उनमें बहुत बस्तिया बैंक तथा व्यापार वाणिज्य के केन्द्रों के रूप में थी। १,५५४ में बहुत सारी बस्तियां लगभग ५० से १०० में तीर्थधाम भी थे।

उद्योग तथा उनसे सम्बन्धित कामों में अथवा बैकिंग और व्यापार वाणिज्य में लगभग १५,००० परिवार संलग्न थे। ये परिवार चेंगलपट्टु जिले के परिवारों के लगभग ३०% ही थे। इनके उपरान्त लगभग ४०,००० घरों में सूत कातने का काम होता था। यह सूत जिले के बुनकरों कों पहुँचा दिया जाता था।

२३३ बस्तियों के बुनकरों की बस्ती, औद्योगिक समूहों में सबसे बड़ी बस्ती थी जिसमें ४,०३१ घर थे। इनकी ५५ बस्तियों में कुल घरों के ३०% से अधिक घर थे तथा ३४ में तो वे बहुसंख्यक थे। कितने ही स्थानों पर, विशेषकर कांचीपुरम् के आसपास प्रमुख रूप से बुनकर ही थे। एक स्थान पर तो २९० घरों में से १९८ घर बुनकरों के ही थे। बहुसंख्यक बुनकरों की ५ बस्तियों में १२९ में १०६, १९१ में ११४, ११६ में ८७, १३३ में ६९ तथा १०८ घरों में ६२ घर थे। ऐसी भी बहुत बस्तियां थीं जहां मछुआरे, लकड़हारे, पत्थर का काम करने वाले, कुम्हार तथा तेली मिलाकर कुल घरों के ३०% या उससे भी अधिक थे जब कि ११ में वे ५०% अथवा उससे भी अधिक थे।

१७७० में कबीले अथवा व्यवसाय का ऐसा प्रभुत्व चेंगलपट्टु में खेती में कार्यरत या ब्राह्मणों के समूह में अधिक मात्रा में दिखाई दिया। १,५५४ बस्तियों में लगभग १,२२५ में एक अथवा दूसरे या फिर (दोनों ही) मिलाकर कुल घर ३०% थे। ४६० बस्तियों में एक अथवा दूसरा विशेष समूह बहुसंख्यक था। प्रत्येक वह समूह जो बस्ती में था जिन बस्तियों की संख्या ३०% से अधिक अथवा बहुसंख्यक थी, उनकी संख्या परिशिष्ट में सारिणी १ में दी गयी है। परिशिष्ट की सारिणी २ में मवेशियों की संख्या भी दी गई है।

१,४५८ बस्तियों से उपलब्ध जानकारी के आधार पर १७६२ से १७६६ तक के वर्षों की खेती की वार्षिक उपज के विषय में अनुमान से पता लगाया जा सकता है। एक कलाम लगभग १२५ कि. ग्राम की होती है। इस प्रकार की १४,७९,६४६ कलामों की कुल कृषि की उपज का अनुमान से पता चलता है। अर्थात् वहां का वार्षिक अन्न

उत्पादन १,८४,९५५ टन का था। चेंगलपट्टु की भूमि मध्यम स्तर की उपजाऊ भूमि थी। परन्तु वहां सिंचाई वाली बहुत अधिक भूमि थी। अतः वहां कृषि की उपज अच्छी थी। आज जपान में धान की खेती की जो उपज प्राप्त होती है उसकी तुलना में कई बस्तियों में प्रत्येक हेक्टर में ४ से ६ टन की धान की उपज होती थी।

इस उत्पादन की लगभग २७% चार विभिन्न तबकों में (दाना निकालने से लेकर अन्तिम तौल तक) विभाजित करके अलग रख दिया जाता था। यह बस्ती के खर्च के लिये तथा बाहर की सम्बन्धित संस्थाओं के लिए, खेती तथा बस्ती के रचनातन्त्र में कार्यरत व्यक्तियों के वेतन के लिए प्रयुक्त किया जाता था। इनमें बहुत सी संस्थाओं तथा व्यक्तियों के द्वारा दिया गया भूमि का कर भी सम्मिलित होता था। १७७० में चेंगलपट्टु में कुल ४४,०५७ कणी भूमि में सिंचाई की कुल मिलाकर २२,६८४ कणी भूमि थी। यहां पर इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि शेष अर्थव्यवस्था, उद्योग धंधों, वाणिज्य, दुकानें आदि (जो सम्भवत: प्रदेश के लगभग १/३ से १/२ तक आर्थिक कार्य कलाप थे) उन्होंने इस प्रकार के वर्गों, संस्थानों तथा गतिविधियों को इसी प्रकार का प्रदान किया है। १,४५८ बस्तियों में प्रत्येक विभाग की विभिन्न संस्थाओं को कुल कृषि उत्पादन से दिये गये अंश का विवरण सारिणी ३ में दिया गया है।

३.

१७७० के आँकड़ें उस समय के न केवल उच्च स्तरीय कृषिउत्पादन के अस्तित्व को प्रस्थापित करते हैं वरन् उस समय के चेंगलपट्टु के समाज की विविध उद्योगों तथा सेवाओं को भी प्रदर्शित करते हैं। यहाँ प्रदेश के भौतिक तथा प्राकृतिक साधनों के सावधानी पूर्वक युक्त होने के संकेत भी प्राप्त होते हैं। किसी एक क्षेत्र की भिन्न भिन्न बस्तियों तथा व्यावसायिक वर्गों में क्षेत्र की उपज को बाँटने तथा आर्थिक एवं सांस्कृतिक समूहों में भी समान रूप से बाँटने की विश्वसनीय पद्धति का उचित आयोजन किया जाता था।

यद्यपि यहां विचारणीय विषय १८वीं शताब्दी में चेंगलपट्टु में कार्यरत प्रशासनव्यवस्था तथा उसमें परिलक्षित राज्यतन्त्र है। प्रतीत होता है कि राज्यतन्त्र एक दूसरे से भिन्न तथा विशिष्ट समूहों के सुग्रथित आन्तरसम्बन्धों के आधार पर कार्य करता था। यह विशिष्टता कई बार बस्ती में उनके स्थान से प्रदर्शित होती है। कितने ही स्थानों पर समूह के किसी विशेष मूर्ति के साथ जुडे होने से (ऐसी अनेक मूर्तियां एक ही भगवान की होने पर भी), कभी पीने के पानी के अलगाव से, छोटीबड़ी टंकियों से अथवा अन्य

असंख्य आयामों के सन्दर्भ में अलगाव प्रदर्शित होता था। उदाहरण के लिये ऐसी बस्तियां भी थीं जो १०० से २०० घरों की थीं जिनमें शुभ कार्यों के प्रतीक मंगलकर्ता गणेश के १०-१२ मन्दिर होते थे।

चेंगलपट्टु के राज्यतन्त्र के संगठन पर आधारित भिन्नता के सिद्धान्त को जानने के लिए चेन्नई के पास के अनेक मन्दिरों वाले शहर तिरुप्पोरूर का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। तिरुप्पोरूर कन्दस्वामी के मन्दिर के लिए प्रसिद्ध स्थल है। यह जितना वर्तमान में यात्रा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है उतना ही अठारहवीं शताब्दी में भी था। चेंगलपट्टु की २५० बस्तियों में खेती उत्पादन, उसका खर्च तथा रखरखाव बहुत महत्त्वपूर्ण था। नगर में मन्दिर से भी अधिक मठ थे। प्रत्येक मठ किसी जाति विशेष अथवा बस्ती विशेष से सम्बन्धित था। मठ वह स्थान होता है जहां पर यात्रियों के ठहरने की तथा यात्रा से जुड़े सभी कार्यो की व्यवस्था की जाती है। आध्यात्मिक तथा उच्च अध्ययन भी मठ में ही सम्पन्न होता था। मठ में उसकी देखरेख करने के लिए सावंत अथवा एक विद्वान भी अवश्य रहता था।

किसी निश्चित बस्ती या बस्तियों के समूह के साथ जुड़े हुए मठों की एक बड़ी संख्या से पता चलता है कि चेंगलपट्टु के राज्यतन्त्र में भाग लेने वाले तिरुप्पोरूर के एक ही मन्दिर में दर्शन के लिए आने के बावजूद भी प्रत्येक समूह अलग ही रहना पसंद करता था परन्तु अलग रहने पर भी यह दूसरे मठ के साथ सांस्कृतिक रूप से जुड़े रहना भी चाहता था। ऐसा लगता है कि १७७० के चेंगलपट्टु के लोग तथा बस्तियां, समूहों के अलगाव, रहने के स्थान, मूर्तियां, पानी के स्रोतों के अतिरिक्त और भी अनेक बातों पर विचार किया जाता होगा। कहीं अलग प्रकार से आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाता था तो किसी दूसरे स्तर पर स्थानों अथवा मर्यादा में रहकर सब लोग मिल जुलकर काम करते थे। सिंचाई, प्रशासन, शिक्षा तथा विद्वत्ता, पुलिस तथा संरक्षण आदि के लिए धन सभी के लिये संयुक्त चिन्ता का विषय था। इस प्रकार के काम तथा संस्थाएं विशेष समूहों की देखरेख में रहते थे। आँकड़ों से पता चलता है कि लगभग १०० समूहों तथा संस्थाओं का एक अथवा दूसरी बस्ती की व्यवस्था में हिस्सा रहता था तथा अन्य बहुत सी संस्थाओं के साधनों के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की जाती थी। उपरि वर्णित व्यवस्थाएं, समूह तथा संस्थाओं के स्नेह सम्बन्ध तथा आपस में एक दूसरे से अलगाव केवल चेंगलपट्टु की ही विशेषता नहीं थी। सन् १८०० के आसपास भारत के अधिकांश क्षेत्रों की व्यवस्था इसी प्रकार की थी।

इस प्रकार के आँकड़ों से ध्यान में आता है कि भारत की राज्य व्यवस्था भारत

तथा उसके आसपास के क्षेत्रों की विशेषता के अनुसार बनाई गई थी। यह व्यवस्था बनाने में केवल व्यक्तियों ने ही ईंट के रूप में काम नहीं किया। उसमें विशेष समूहों का भी योगदान रहा है। भिन्नता प्रस्थापित करने के बावजूद भी ये समूह प्रत्येक क्षेत्र में साथ मिलकर स्थानिक राज्यतन्त्र की रचना भी करते थे। कह सकते हैं कि भिन्नता दिखाई देने के बावजूद भी इस समूह रचना में व्यावसायिक विशेषताओं के ऐसे लक्षण हैं कि उनमें से कोई भी अकेला हो कर राज्य व्यवस्था अथवा अर्थतन्त्र में कार्यरत नहीं हो पाता था। किसी भी क्षेत्र को सही प्रकार से चलाने के लिए कम से कम सात अथवा आठ समूहों का एकत्रित होना आवश्यक था, इसलिये राजकीय संचालन के लिए ऐसे विशेष सार्वभौम समूहों के बीच बहुत सोच विचारकर आदानप्रदान की व्यवस्था तैयार की गयी थी।

४.

चेंगलपट्टु की जानकारी का संकलन किया गया उस समय ऊपर वर्णित राज्य व्यवस्था शिथिल सी हो गई थी। सम्भवतः क्षेत्रों के आन्तरिक सम्बन्ध क्षीण हो गये थे। अभी भी उनको किसी प्रकार से जोड़कर रखने वाले तत्त्व थे - भारत की धार्मिक जीवन दृष्टि, भव्य मंदिर और समर्थ देवता, सबके प्रति आवश्यक दायित्व निभानेवाले स्थानीय एवं प्रादेशिक व्यक्ति तथा संस्थाएँ, जिनका वे बहुत सम्मान करते थे ऐसे विद्या केन्द्र, तथा दक्षिण भारत में पालयक्करण के नाम से सुप्रसिद्ध सेनानियों के संरक्षण दल। ये आन्तर सम्बन्ध इन शताब्दियों में शिथिल पड गये। सन् १२०० से इस्लाम का बहुत प्रचार करनेवाले आक्रामकों के आक्रमणों के कारण उत्तर, पश्चिम तथा पूर्व भारत के बहुत से भागों में ये अत्यधिक रूप से क्षीण हो गये थे। इन आक्रमणों के परिणाम स्वरूप सर्वत्र अराजक फैल गया। इतना ही नहीं तो बस्तियों एवं प्रदेशों के सम्बन्ध सूत्र नष्ट हो गये। परिणाम यह हुआ कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करनेवाली चक्रवर्तित्व की संकल्पना भी लुप्त हो गई।

इस का असर दक्षिण भारत पर भी पड़ा। १४वीं तथा १७ वीं शताब्दी में दक्षिण भारत को एक अथवा दूसरे प्रकार से इस्लामी आक्रमण का सामना तो करना ही पड़ा। साथ ही लोगों का मानसिक सन्तोष और सन्तुलन भी गहराई में प्रभावित हुआ और बिगड गया। वे असुरक्षितता की भावना से भर गये और भयभीत हो गये। इस प्रकार की मानसिक स्थिति में मनौवैज्ञानिक तथा राजकीय आकस्मिक संकट के विभिन्न लक्षण दिखाई देने लगे। क्षेत्रों तथा प्रदेशों की आपस में जुड़ने की ताक़त समाप्त हो गई।

१६९० तक दिल्ली की इस्लामिक सल्तनत तथा उसके विभिन्न प्रदेशों के सूबेदार, गवर्नर तथा नवाब भी टूटने लगे। विपरीत समय तथा दमन और पराजय के दीर्घकालीन बोझ के कारण से तथा अपने आप को भारतीय संस्कृति के साथ समरस नहीं कर सकने के कारण से शासन बिखर गया। इस कारण महाराष्ट्र में १६९० या सम्भवतः उससे भी पूर्व से भारत के बहुत से लोगों में 'स्वदेशी' का आग्रह निर्माण हुआ। ५०० वर्ष के इस्लामिक दमन को फेंक देने की तथा स्वदेशी के नये उत्थान की सम्भावना दिखाई देने लगी। ऐसा होते हुए भी इन ५०० वर्षों में भारत अपने ही प्रश्नों में इतना गहरा डूब गया था कि उसका विश्व की घटनाओं से सम्बन्ध ही टूट गया। उसने अपने पड़ोसियों के साथ अपना सम्पर्क खो दिया तथा उसे इसका अहसास तक नहीं हुआ कि यशस्वी होने के लिए उसे बहुत तेज़ी से आगे बढ़ना होगा तथा पुर्नरचना करनी होगी। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पुर्तगाली तथा यूरोपीयों के द्वारा भारत के बहुत बडे हिस्से में खाना ख़राबी होने के बावजूद भी देश को राजनयिकों एवं विद्वानों ने प्रदेश की बस्तियों के अनुभव से कोई पाठ नहीं सीखा। परिणाम यह हुआ कि लगभग १७५० से जब यूरोप के आक्रमण तथा विजय का प्रारम्भ हुआ तब वहां के राजनयिक तथा अन्य लोग इसके लिए सिद्ध नहीं थे।

५.

ऐसा नहीं था कि अंग्रेज तथा उससे पूर्व फ्रैंच, डच तथा पुर्तगालियों के लिए भारत में परिस्थितियां अनुकूल थीं। प्रारम्भ से ही उनके विजय अभियान, आधिपत्य एवं शासन के प्रति भारत में सशस्त्र या अशस्त्र विरोध होता रहा था। प्रारम्भ के ११० वर्ष - १७४८, जब ब्रिटिशरों ने मद्रास के आसपास के क्षेत्रमें विस्तृत विजय अभियान छेड दिया तब से १८५८ - तक भारत के लोगों और ब्रिटिशरों के बीच निरन्तर युद्ध चलता रहा। ब्रिटिशरों को इस समय कई जर्मन सैनिकोंकी सहायता प्राप्त हो रही थी। यूरोप के लोगों के लिए भारत की जलवायु अनुकूल नहीं थी। इससे निपटने के लिए अंग्रेजों ने हिमालय के तथा दूसरे पर्वतों के आसपास छावनी तथा सुरक्षाबल स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया।

न केवल भारतीय कृषक एवं कारीगर वर्ग अपितु भारत के अधिकांश भागों के नगर व कस्बों के नागरिक भी ब्रिटिशरों के साथ निःशस्त्र संग्राम करते रहे।[६] परन्तु अन्त में सन् १८४० तक उनकी शक्ति क्षीण होते होते निःशेष हो गई। १८५७-१८५८ में भारत तथा ब्रिटेन के बीच महासंग्राम शुरू हो गया जिसमें भारत निर्णायक रूप से हार गया।

परंतु अंग्रेजों को उनकी निर्णायक जीत की कीमत चुकानी पड़ी। १७८० से १८५७ तक ब्रिटिशरों को लगता था कि यदि वे एक ब्रिटिश सैनिक को ४ अथवा ६ भारतीय सैनिकों पर तैनात करेंगे तो वे सेना के रूप में भारत में सुरक्षित रहेंगे। परन्तु धीरे धीरे उन्होंने ब्रिटिश भारतीय सेना में प्रत्येक दो भारतीय सैनिकों के ऊपर १ अंग्रेज सैनिक को रखने का निश्चय किया। स्थिति ऐसी बनी कि १८५८ में सेना में भारतीय सैनिक भयंकर रूप से कम होने लगे। परिणामतः ५० अथवा उससे भी अधिक वर्षों तक लगभग १,००,००० की ब्रिटिश सेना को भारत में रखे जाने की आवश्यकता निर्माण हो गई। यहां पर इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि १९४६ में अंग्रेजों को फिर से प्रतीत होने लगा कि भारतीय नागरिकों अथवा भारतीय सेना पर आधार न रख सकने के कारण वे अपनी ही विशाल सेना के बल के प्रदर्शन से अपना नियन्त्रण तो दर्शा सकते हैं, परन्तु यह भी बात ध्यानमें आ रही थी कि १९३९-४५ के युद्ध के पश्चात् उनके पास आवश्यकतानुसार मानवशक्ति शेष नहीं रह गई थी। हां, एक भिन्न प्रकार का विकल्प उभरकर सामने आया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस का कुछ थका हुआ और वृद्ध नेतृत्व भारत को स्वतन्त्रता के प्रश्न पर तथा सत्ता के हस्तान्तरण के प्रस्ताव पर समझौता करने के लिये तैयार हो गया।[७]

१८५७-५८ के ब्रिटिश आतंक के बाद १०-१५ वर्ष तक भारतीय अपने व्यापक तथा गहरे घावों को भरने के प्रयत्न में बिलकुल शान्त हुए प्रतीत हुए। परन्तु धीरे धीरे फिर से उनमें विरोध के चिह्न उभरने लगे। उनकी उल्लेखनीय क्रान्ति १८८० तथा १८९० के दशक के प्रारम्भ में हुई थी। वह गोहत्या के विरोध में थी। इस क्रान्ति ने विशेषकर उत्तर, मध्य तथा पश्चिम भारत में तेजी से भावनात्मकता दिखाकर अमर्याद उत्तेजना पैदा कर दी। उस समय के वाइसराय ने इस बात को स्वीकार किया था कि उस क्रान्ति की तीव्रता, व्यापकता तथा स्फोटकता १८५७-५८ की घटनाओं के समान ही शक्तिशाली थी।[८] रानी विक्टोरिया ने वाइसराय को सलाह दी की उन्हें यह समझना चाहिये कि इस आंदोलन का लक्ष्य मुसलमान नहीं अपितु अंग्रेज थे।[९] मुसलमानों ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया तथा भिन्न भिन्न स्थानों के मुसलमानों ने मिलकर निर्णय किया कि यदि हिन्दुओं को गोहत्या पसन्द नहीं है तो उन्हें गाय की हत्या करना स्वयं ही बन्द कर देना चाहिए।[१०] परन्तु बाद में १८९४ से क्रान्ति मुसलमानों तथा हिन्दुओं में संघर्ष की ओर मुड गयी और अंग्रेजी सत्ता के लिये चुनौती समाप्त हो गई।

परन्तु अंग्रेजों ने कम से कम भारत में हमेशा ही कुछ विशेष पत्ते खेले हैं जो स्पष्ट रूप से किसी न किसी के विरुद्ध हों। १९४२ में जब अंग्रेज 'हिंद छोड़ो' की क्रांति को

सशक्त रूप से दबा देने में व्यस्त थे तब एक अनुसूचित जाति के नेताने अंग्रेजों को एक पत्र लिखा कि वह उन्हें सहायता करने के लिये तत्पर है। भारत में नियुक्त उस समय के ब्रिटिश सचिवने ब्रिटिश वाइसराय को लिखा कि अभी तक तो उनके पास भारतीयों के विरुद्ध मुसलमानों के रूप में केवल एक ही पत्ता था पर अब तो उनके हाथ अनुसूचित जाति के रूप में दूसरा पत्ता भी लग गया है।[११]

१८७० में पुराने खेल को फिर से नये रूप में खेलना प्रारम्भ हुआ। सत्ता की सहायता में विद्वता आई तथा भारत के मुसलमान, सिख तथा हिन्दुओं की कुछ जातियों के लिये एक नई छवि तैयार होनी शुरु हो गयी। विशेषकर तमिल क्षेत्रों के परिवारों के साथ भारत के विभिन्न क्षेत्रों क़े हिन्दु समाज के अन्य अस्पृश्य समूहों की ओर महान ईसाई करुणा बहने लगी। वास्तव में तमिल के पेरियार तथा चक्कलियार दल, जो ऐतिहासिक रूप से एक दूसरे के विरुद्ध थे वे पेरियार नामक समूह में और बाद में अधिक व्यापक रूप से अनुसूचित जाति में सम्मिलित होने लगे। (दक्षिण भारत के पेरियार वलन्गाइ - 'दाहिना हाथ' नामक समूह के थे और उनके रक्षक थे और चक्कलियार उनके विरुद्ध के समूह इदन्गाइ - 'बाँया हाथ' जाति के लोगों में थे तथा उनके रक्षक थे।) कुछ ही समय में जातियों को जोड़ने की प्रक्रिया में और भी कई जातियां 'अछूतों' की कोटि में सम्मिलित हो गयीं। कम से कम १८ वीं शताब्दी के मध्यान्तर तक तो भारतीय समाज के द्वारा न तो उनको किसी प्रकार का तमगा दिया गया था और न ही उनसे अछूतों जैसा व्यवहार किया गया था।

अंग्रेजों का दूसरा पत्ता पश्चिम के रंग में रंगे हुए भारतीयों की बढ़ती हुई संख्या को सम्हालकर रखने तथा उनके असन्तोष एवं अलगाव की भावना को सुरक्षित दिशा में मोड़ने का था। इनका उद्देश्य इस प्रकार के सभी सम्भवित समूहों को इतने विशाल देश की भारतीय राज्यव्यवस्था से अलग करके १८५७-५८ में निर्माण हुई सम्भावना को कम करना था। फिर ऐसा लगने लगा कि सबसे सुरक्षित मार्ग रूढिवादी - उदारमतवादी 'विवाद' के लिए तखता तैयार करना है जहां पश्चिम के रंग में रंगे हुए बडबोले लोगों की अपने ही लोगों के साथ जुड़ने की सम्भावनाएं कम हो सकें। इसके परिणाम स्वरूप उदारमतवादी अंग्रेजों तथा प्रतिबद्ध तथा समृद्ध भारतीय नागरिकों के आश्रय में भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस की स्थापना हुई। यह नया कार्ड प्रभावी रहा तथा इसने पश्चिम के रंग में रंगे हुए भारतीयों को अपने ही लोगों से दूर रखने में सहायता की। पश्चिम के रंग में सराबोर भारतीयों की यह इच्छा थी कि उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना चाहिये जैसा अंग्रेजों के साथ किया जाता है।

१८८० की निरुपद्रवी भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस १९२० में भारत के लोगों का स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए बहुत बड़ा आन्दोलन करनेवाली बन गई। महात्मा गांधी के द्वारा बनाई गई, लोगों के समक्ष प्रस्तुत नई धारणा ने राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक गांव, कस्बे व नगर में ऐसे प्रत्येक भारतीय को एक सदस्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का अवसर प्राप्त करवाया जो उनमें श्रद्धा रखता हो। उस क्षेत्र के सदस्य अपने गांव, कस्बे या नगर में समिति बना सकते थे।[१२] इस ऐतिहासिक परिवर्तन के दो वर्ष बाद भारतीय कोंग्रेस के ५०,००,००० सदस्य थे तथा १९२० तक का उनका ३०,००० रूपये का बजट १९२२ के बाद सौ गुना बढ़कर ३०,००,००० का हो गया था। कोंग्रेस के १९२० के संविधान में भाषा के आधार पर प्रान्तोंकी रचना करने का प्रावधान था। इस सिद्धांत के आधार पर भारत को २१ प्रदेशों में बाँटा गया था।

१९२० के संविधान ने राष्ट्रीय कोंग्रेस तथा भारत को एक नया प्रयोजन दिया। यह प्रयोजन था भारत के लोगों के द्वारा नियमों तथा शांतिपूर्ण मार्गो से स्वराज्य (पूर्ण स्वतन्त्रता) प्राप्त करना।[१३] इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में १९२० से १९४२ तक राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न असहयोग तथा कानूनभंग के आन्दोलन चलाये गये। अन्ततोगत्वा १९४६ में भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भारत एवं ब्रिटेन के बीच एक समझौता हुआ। यह प्रक्रिया सरल नहीं थी। इसका निहितार्थ था भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन ने पूर्वमें निश्चित किये हुए कितने ही उद्देश्यों को या तो छोड़ देना या फिर उन्हें शिथिल बना देना। परिणाम स्वरूप स्वतन्त्रता सही रूप में मात्र सत्ता का हस्तान्तरण भर बन कर रह गई और दो सार्वभौम देशों के रूप में भारत के टुकड़े हो गये।

भारत को नये संविधान की आवश्यकता थी इसलिए १९४६ के उत्तरार्ध में प्रदेशों तथा भारतीय राज्यों के परोक्ष चुनावों से स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने के लिए एक समिति बनाई गई। नवम्बर १९४९ में संविधान बनाने का कार्य पूर्ण हुआ तथा २६ जनवरी १९५० को उसे अमल में लाया गया।

६.

१९३० से भारत के लोग प्रत्येक २६ जनवरी के दिन स्वराज्य के लिए प्रतिज्ञा करते थे तथा अपने आपको समर्पित करते थे। महात्मा गांधीजी के द्वारा तैयार की गई प्रतिज्ञा कहती थी, 'हम विश्वास करते हैं कि दूसरे लोगों की भांति भारतीयों का भी यह अप्रतिहत अधिकार है कि वे अपने कठिन परिश्रम से प्राप्त फल का उपभोग लें तथा

अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करें जिससे उन्हें विकास के पूरे अवसर मिल सकें। हम यह भी मानते हैं कि यदि कोई भी सरकार उनका दमन करती है तो लोगों को उसे बदलने या उसे गिरा देने का अधिकार है। भारत में अंग्रेज सरकार ने भारत के लोगों को स्वतन्त्रता से वंचित रखा है। इतना ही नहीं प्रजा के शोषण का आधार लेकर भारत को आर्थिक, राजकीय, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से नष्ट भी किया है। इसलिए हम यह मानते हैं कि भारत को अंग्रेजों से सम्बन्ध तोड़ लेने चाहिए तथा पूर्ण स्वराज्य अथवा पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेनी चाहिए।'[१४]

१९४६-४७ के समय, जब संविधान बनाया जा रहा था, भारतीय जनता तथा सरकार दोनों के लिए बड़ा कठिन था। भारत के टुकडे करने की अंग्रेजों की चाल का परिणाम बड़ा रक्तरंजित था। विभाजित भागों में बडी आवजाही पैदा हो गयी। विशेष रूपसे उत्तर में, जहां लगभग १,५०,००,००० लोगों को एक हिस्से से दूसरे हिस्से में जाने के लिए हज़ारों मील रास्ता काटना था, तो स्थिति बहुत संकटपूर्ण बन गई। १९४७ में इस प्रक्रिया में सम्भवत: १० लाख लोगों ने अपने प्राण गवायें। नवनिर्मित पाकिस्तान की भांति भारत पर भी लाखों लोगों के आवागमन, आश्रय, भोजन तथा पुर्नवसन की समस्याओं का भार लद गया। ऐसी स्थिति में संविधान की रचना ने आम जनता में चर्चा तथा रुचि पैदा की। विशेषकर महात्मा गांधी की मृत्यु के पश्चात् भारत के प्रमुख नेताओं ने यह मान लिया कि वकीलों, कानून विशेषज्ञों तथा व्यवहारविद व्यक्तियों को यह कार्य सौंपा जा सकता है।

इसके उपरान्त भी बहुत सी बातों में संविधानसभा में होने वाली चर्चाओं से बहुत सी गलतफहमियां तथा गहरी चिन्ता पैदा हो जाती थीं। नई राज्यव्यवस्था में इस प्रकार की चर्चा गांव, कस्बे अथवा नगर के क्षेत्रों में होती थी।[१५] उपर्युक्त वृत्तान्त के अनुसार १९२० की भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस का संविधान इस सिद्धान्त पर आधारित थां कि एक क्षेत्र के सदस्य उस क्षेत्र की कांग्रेस समिति बनाने के लिए एकत्रित होंगे। उस प्रदेश के क्षेत्र प्रादेशिक समितियां बनाएंगे, प्रादेशिक समितियां विभागीय समितियां बनायेंगी तथा वे सब मिलकर राष्ट्रीय कांग्रेस की रचना करेंगे।

लगभग १९४७ के आसपास संविधान सभा की कार्यवाही के प्रारम्भ में ही एक सदस्य ने पच्चीस वर्ष पूर्व जिन विचारों ने जन्म लिया था उनका स्मरण करवाया (जनवरी १९३० की उस प्रतिज्ञा को, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के शपथ को मूर्त रूप देने की थी)। उन्होंने महात्मा गांधी के कथन को भी प्रस्तुत किया। 'सत्ता का केन्द्र अभी दिल्ली, कोलकता तथा मुंबई जैसे बड़े नगरों में है। इसे भारत के सात लाख गाँवों में

पहुंचाना होगा।' उनके कथनानुसार महात्मा गांधी ने यह भी कहा था, 'बाद में इन सात लाख इकाइयों में स्वैच्छिक सहायता की भावना पैदा होगी तथा इस प्रकार का सहयोग नये प्रकार की वास्तविक स्वतन्त्रता को जन्म देगा।'[१६]

अंग्रेज अधिकारी दल के एक वरिष्ठ भारतीय सदस्य को संविधान परामर्शक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। सात सदस्यों की एक समिति गठित की गयी जिसमें छह सदस्य ब्रिटिश प्रशासन के नियमों तथा व्यवहार के प्रकाण्ड विद्वान थे। समिति का गठन २९ अगस्त १९४७ को हुआ। समिति को परामर्शकों के द्वारा परिश्रम पूर्वक तैयार किये गये मसौदे को बारीकी से अवलोकन करके, उसकी जांच करने का काम सौंपा गया।[१७] इस कार्य में पूरा एक वर्ष निकल गया। जब संविधान का मसौदा संविधानसभा के समक्ष प्रस्तुत किया गया तब उसमें गाँवों, कस्बों, नगरों, यहां तक कि जिलों का भी कोई उल्लेख नहीं था। जिस कानून मंत्री ने मसौदे को प्रस्तुत किया वह गर्व का अनुभव कर रहा था कि इस प्रकार का कोई उल्लेख उसमें नहीं था। अपने व्यक्तव्य में उसने कहा, 'संविधान के मसौदे का कोई भी भाग भारतीय प्राचीन राज्यतन्त्र का प्रतिनिधित्व नहीं करता। कहा जाता है कि नया संविधान राज्य की समग्र प्राचीन हिन्दु पद्धति के आधार पर बनाया जा सकता था तथा पश्चिम के सिद्धान्तों को समाविष्ट करने के स्थान पर इसको पूर्ण रूप से हिन्दु पद्धति के आधार पर बनाया जा सकता था।'

इसके बाद उसने यह भी कहा, 'भारत के बुद्धिजीवियों के मन में अपने ग्रामीण लोगों के लिए प्रेम यदि दयनीय नहीं तो अगाध तो अवश्य ही है।' उसने १९ वीं शताब्दी के एक अंग्रेज अधिकारी के शब्दों में कहा कि ग्रामीणों के लिए कोई भी गर्व का अनुभव नहीं कर सकता। उसने अपने वक्तव्य में और कहा,

'यह वास्तविकता है कि वे लोग अनेक कठनाइयों में भी टिके हुए हैं परन्तु केवल टिके रहने भर का कोई भी मूल्य नहीं है। प्रश्न यह है कि वे किस धरातल पर टिके हुए हैं। निश्चित ही संकीर्ण व स्वार्थी धरातल पर ! मैं मानता हूं कि ग्राम पंचायतें भारत का सर्वनाश करेंगी। आख़िर गाँव हैं क्या ? केवल अज्ञान, संकुचितता तथा सांप्रदायिकता के अड्डे ? मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि संविधान के मसौदे में गाँव की ओर ध्यान न देकर व्यक्ति को एक इकाई के रूप में अपनाया गया है।'[१८]

कानून मन्त्री के वक्तव्यने अत्यन्त आक्रोश और विषाद पैदा किया। संविधान सभा में जिन ३२ सदस्यों ने अपना अभिमत दर्शाया उनमें से केवल तीन लोगों ने कानून मन्त्री का समर्थन किया। पूर्व, वर्तमान और भावि प्रधानमन्त्री सहित शेष सदस्यों को गहरा आघात पहुंचा। उन्हें लगा कि वे छले गये हैं। एक सदस्य को प्रतीत हुआ कि

संविधान समग्र रूप से हमारे अपने जीवन से सम्बन्धित होने के स्थान पर बाहर से आयात किया गया लगता है, तथा उसे नीचे से ऊपर की ओर ले जाने के स्थान पर ऊपर से नीचे की ओर ले जाया गया है।[१९] एक दूसरे सदस्य ने कहा, 'संविधान के सभी मुसद्दों में हमें कहीं भी कोंग्रेस या फिर गांधीवादी सामाजिक अभिगम का कोई भी लक्षण नहीं दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि समग्र संविधान में कोंग्रेस का आदर्श तथा उसकी विचारधारा कहीं छूट गयी है। 'गांव भारत के सर्वनाश हैं' इस तर्क का उत्तर देते हुए उसने कहा, 'हमारे गाँवों को विदेशी सरकारों ने जानबूझकर भूखा तथा गूंगा रखा है व इस अधम कृत्य में नगर के लोगों ने सहयोग करके एक गंदा खेल खेला है।'[२०] १९४७-१९४८ के अरसे के दक्षिण के एक वरिष्ठ तथा 'मद्रास प्रेसीडेन्सी' के प्रसिद्ध मुख्य मन्त्री ने बताया कि 'संविधान की प्रस्तावना देखने के बाद मैं यह आशा करता था कि सब कुछ नियमित क्रम में चलेगा तथा संविधान का गठन कुछ इस प्रकार से किया जायेगा कि हमारे करोडों लोगों को अन्न तथा वस्त्र मिलेगा व देश के सभी लगों को शिक्षा तथा संरक्षण भी प्राप्त होगा। परन्तु मेरी और मेरे जैसी ही सोच रखने वाले अन्य लोगों को निराशा का अनुभव हो रहा है। संविधान का यह मसौदा एक के बाद एक चरण में बदल रहा है, और अब यह समझमें नहीं आता कि हम कहां हैं, देश कहां है, लोग कहां हैं। यह संविधान जब स्वीकृत हो जायेगा तब लोगों के लिये इसका क्या प्रयोजन होगा यह समझना कठिन है।'[२१]

जिन सदस्यों ने उस दिन भाषण किया था उनको संविधान का यह मसौदा 'पूर्ण रूप से विदेशी' लगा।[२२] एक सदस्य ने तो यहां तक कह दिया कि जब अधिकांश भारत स्वतन्त्रता की लड़ाई लड रहा था तब कानूनमन्त्री तथा उनके साथी 'अंग्रेजों की पीठ पर तेल चुपड़ रहे थे'।[२३]

परन्तु ये चर्चाएं गलत दिशा में मुड़ गईं। सदस्यों के क्रोध तथा उद्विग्नता को शान्त करने के लिए एक सुधार किया गया तथा यह निश्चय किया गया कि संविधान में एक दूसरी धारा समाविष्ट की जाय जिसमें कहा जाय कि, 'राज्य ने ग्रामपंचायत को संगठित करना चाहिए तथा ऐसे कदम उठाने चाहिए जिससे स्वराज्य को एक इकाई के रूप में काम करने के लिये आवश्यक सत्ता तथा अधिकार प्राप्त हो सकें'।[२४] इस बात का स्वागत तो हुआ परन्तु इससे सदस्यों को कोई बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकी। अधिकांश सदस्य अन्तिम क्षण तक संविधान के प्रति असंतुष्ट ही बने रहे। परन्तु इस प्रक्रिया ने कई लोगों को यह अहसास दिलाया कि इस प्रकार की असन्तोषपूर्ण परिस्थिति उनकी अपनी ही जागृति के अभाव का परिणाम थी।[२५] संविधान की रचना

करने का काम ऐसे लोगों को सोंपा गया था जिन्हें स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति कोई सहानुभूति ही नहीं थी। स्वाभाविक ही था कि उनका अभिगम तथा ज्ञान संविधान में इस रूप में प्रतिबिम्बित हुआ। यह मनोविज्ञान या ज्ञान देश के लिए आवश्यक नहीं था। इसी सदस्य ने आगे चलकर अभिप्राय दिया कि 'हमें वीणा तथा सितार के संगीत की आवश्यकता थी परन्तु मिला अंग्रेजी बैण्ड।' इसका कारण यह था कि हमारे संविधान बनाने वालों को शिक्षा ही इस प्रकार की प्राप्त हुई थी।[२६] दूसरे एक सदस्य को इस बात का आश्चर्य था कि जो संविधान परामर्शक आयर्लैण्ड, स्विटज़रलैण्ड या अमेरिका यह देखने के लिए जा सकते हैं कि इन देशों के लोग किस प्रकार अपना राज्य चलाते हैं, उन्हें अपने देश में कोई भी विद्वान ऐसा नहीं मिल सका जो, भारतीय राजकीय तत्त्वज्ञान के विषय में कुछ बता सके तथा ऐसा कुछ सहयोग दे सके जो देश के समग्र जनसमाज के लिए हितकर हो और जो भारत का संविधान गढ़ने में उपयोगी सिद्ध हो सके।[२७] संविधान को अपनाने के पश्चात् दूसरे एक सदस्य को यह महसूस हुआ कि 'ग्रामजन की दृष्टि से संविधान का चित्र फीका तथा मृतप्राय' है। 'मेरे पास इस बात को स्वीकार करने का कोई तर्क नहीं है कि २६ जनवरी, १९५० से इन लोगों की स्थिति में सुधार होगा।'[२८] और एक सदस्य के अभिप्राय के अनुसार 'इस संविधान के अन्तर्गत दो स्तर होंगे जिनमें एक नया शासक वर्ग होगा जो ऊंचाई पर रहेगा तथा दूसरा कनिष्ठ वर्ग होगा जो प्रत्येक पाँच वर्ष में एक बार वोट दिया करेगा।'[२९] अन्ततोगत्वा बहुत से लोगों को इस तर्क से सन्तुष्ट होना पड़ा कि उन्हें 'केवल अन्तरिम व्यवस्था' ही अपनानी है।[३०] एक सदस्य ने कहा कि कुछ ही समय पश्चात् उन्हें संविधान बदलना पडेगा।[३१]

पंचायत की धारा अपनाने का परिणाम यह हुआ कि गांव, उपजिलों तथा अन्य जिलों के लिये कुछ अधिकार तथा साधनों की कानून से व्यवस्था करनी पड़ी। यद्यपि लगभग १८८४ से अंग्रेजों के द्वारा विकेन्द्रीकरण के ऐसे कुछ प्रयास किये जा रहे थे। जिला संस्था, तेहसील संस्था तथा स्थानिक संस्थाओं में सत्ता तथा संसाधनों के वितरण का ठोस प्रयोग १९२० के आसपास किया गया था। इस समय इन संस्थाओं को अपने नियम बनाने, पद्धतियों को बढ़ाने तथा अपने लिये उपयोगी व्यक्तियों की नियुक्ति करने, उनका मार्गदर्शन करने तथा उनको मुक्त करने का अधिकार दिया गया था। इस समय बडी प्रेसीडेन्सी (बंगाल, मुम्बई तथा मद्रास) के संसाधन पर्याप्त रूप से अधिक थे। मद्रास प्रेसीडेंसी को बज़ट का लगभग २५% हिस्सा दिया गया था।

परन्तु कुछेक वर्षों में ही यह प्रयोग समाप्त हो गया। कारण यह था कि भारत में अंग्रेजों के द्वारा स्थापित केन्द्रीकृत व्यवस्था को अन्यों को कुछ देना सहन नहीं हुआ।

१९३० में यह प्रयोग टूट गया।

१९३७ से १९३९ तक तथा इसके पश्चात् १९५० से ५६ और १९५७ से १९६६ के आसपास बहुत से राज्यों में विकेन्द्रीकरण के दूसरे प्रयास भी किये गये। १९२० के आसपास जो प्रयास किये गये थे उनकी तुलना में बाद में किये गये प्रयास बहुत कम महत्त्वाकांक्षी थे। विकेन्द्रित संस्थाओं को इसमें बहुत कम सत्ता तथा संसाधन दिये गये थे। यहां तक कि वे फिर से उसी समाप्ति रेखा तक पहुँच गये थे। जब भी इस प्रकार की कोई सत्ता कार्य करने लगती तब उसकी काम करने की पद्धति तथा उसका व्यापक दृष्टिकोण असहनीय बन जाता था। परिणाम यह हुआ कि विभागीय राज्य की राजधानी के प्रमुख अधिकारियों के द्वारा उनको कनिष्ठ स्तर पर काम करने वाली शाखाओं का रूप ही दे दिया गया।[३२]

७.

संविधान को अपनाने के बाद उसके प्रति बड़ी शीघ्रता से असन्तोष बढ़ने लगा था। चुनाव की सीधी प्रक्रिया के कारण भारत के अधिकांश भागों में प्रत्येक स्तर पर व्यापक रूप से दलबन्दी होने लगी। अधिकांश क्षेत्रों तथा प्रदेशों के समाज में अनवस्था व्याप्त हो गई। १९५९ में जयप्रकाश नारायण की पुस्तक 'भारतीय राज्यतन्त्रकी पुनर्रचना के लिये निवेदन - A Plea for Reconstruction of Indian Polity-' को निजी तौर पर प्रकाशित करके वितरित किया गया। उसमें इस विश्व प्रसिद्ध भारतीय नेता व युग पुरुष जयप्रकाश नारायण ने इस पद्धति के विघटन को स्पष्ट रूपसे निरूपित किया था।[३३] इस पुस्तक में उन्होंने चुनाव केवल ग्रामीणक्षेत्र के स्तर पर हों और ऐसे अनेक स्तरों की नीचे से ऊपर की ओर जाने वाली राज्य स्तर की प्रक्रिया दर्शाई थी। स्थानीय क्षेत्र तथा अन्य स्तर पर चुने गये दूसरे व्यक्तियों के द्वारा अन्य स्तरों के चुनाव कैसे हों यह समझाया गया था।

संविधान सभा में हुई इस प्रकार की चर्चा पर तीन वर्ष के पश्चात् श्री जय प्रकाश नारायणने टिप्पणी की। इस टिप्पणी से भारतीय अभिगम तथा मत दोनों प्रदर्शित होते हैं। इसके कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं।

'मेरा मत है कि समाज की एक दूसरे से सर्वथा भिन्न दो धारणाएँ यहां एक साथ प्रस्तुत हुई हैं। भले ही वह स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया तो भी इस विषय की गांधीजी की यह बात चर्चा में निरन्तर दिखाई देती है। एक तो यह है कि अम्बेडकर के द्वारा प्रस्तुत संकल्पना संविधान के आधार के रूप में ली गई है। वह है समाज को छोटी इकाई तक

विभाजित करना और उसे निर्जीव मानना। यही मत पश्चिम के राजकीय सिद्धान्त तथा व्यवहार को आज भी चलाता है । इसका सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि पश्चिमका सम्पूर्ण समाज एक विचित्र प्रकार के औद्योगिकरण एवं अर्थव्यवस्था के परिणाम स्वरूप स्वयं एक विघटित समाज बन गया है। राजकीय लोकतंत्र केवल सिर गिनने तक ही सीमित रह गया है। इस स्थिति में स्पर्धात्मक सत्तादलों के आसपास रचित राजकीय पक्षों के लिए इस प्रकार की एक व्यवस्था की ओर जाना स्वाभाविक है जहां सरकार लोगों के सहारे न चलकर पक्षों के सहारे चलती है। दूसरे शब्दों में सरकार को एक या दूसरे किसी भी शक्तिशाली दल के सहारे चलना होता है।

दूसरा जीवमानता का मत है। इस मत के अनुसार मनुष्य केवल जड, रेत के ढेर में फंसा एक कण नहीं है अपितु बृहद् जीवमान अस्तित्व का एक जीवमान अंश है। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक रूपसे ही अधिकार के स्थान पर कर्तव्य पर अधिक जोर दिया जायेगा। जब व्यक्ति समाज में अन्यों के साथ रहता है तब उसे अपने कर्तव्य से ही अधिकार प्राप्त होता है। उससे उल्टा हो ही नहीं सकता। इसी कारण से गांधीजी के सामाजिक विचारों में कर्तव्य पर ही हमेशा जोर दिया जाता है।[३४]

इस विषय पर महात्मा गांधी के विचारों को याद करना उपयोगी रहेगा जो उन्होंने १९३१ में अंग्रेजों के द्वारा निमन्त्रित होने पर लन्दन में एक अधिवेशन में दिये गये अपने भाषण में प्रस्तुत किये थे। उन्होंने कहा था, 'हमें स्मरण करना चाहिए कि हमारे देश में ७,००,००० गाँव हैं। मैं मानता हूँ कि इन ७,००,००० गाँवों में रजवाडों का समावेश भी होता है। मेरे कथन में सुधार का अवकाश है। हमारे पास भारत में ५,००,००० या इससे कुछ अधिक इकाइयां हो सकती हैं। हरेक इकाई उसके अपने प्रतिनिधिका चुनाव करे। ये प्रतिनिधि अपना एक मतदाता वर्ग चुनें और फिर दोनों केन्द्रीय अथवा फेडरल धारा सभा को चुनें। मैंने आपको योजना की केवल रूपरेखा दी है। यदि आप इस पर ध्यान दें तो उसे ठोस और विस्तृत बनाया जा सकता है। यदि आप वयस्कों के लिए मताधिकार देना चाहते हैं तो आपको मेरे सुझाव का स्वीकार करना पडेगा। मैं प्रमाण दे सकता हूं कि इस पद्धति से काम करने के बहुत अच्छे परिणाम मिले हैं। इन प्रतिनिधियों को छोटे से छोटे गाँव के लोगों से सम्पर्क करने में कभी कोई कठिनाई नहीं आई।'[३५]

जब उन्होंने कहा कि इस प्रणाली के अच्छे परिणाम मिले हैं, तब उनके मस्तिष्क में भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस का १९२० का संविधान तथा उस संविधान के अनुसार चलनेवाली कोंग्रेस की कार्यपद्धति ही रही होगी।

सन् १९१७ से भय से अभय तथा निराशा से आशा में परिवर्तन की स्थिति से

विस्मित महात्मा गांधी के निकटवर्ती लोग पूछते थे कि आख़िर वे किस प्रकार ऐसा परिवर्तन लाने में यशस्वी हुए।[३६] उन्होंने उत्तर दिया कि भारत के लोग बहुत वर्षों तक जिस भावना, विचार एवं रुचि को स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते थे उसी को उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा। इससे अधिक कुछ नहीं कहा। प्रारम्भ में सबको सम्भवतः ऐसा लगा कि वे कुछ अधिक ही विनम्र बन रहे हैं, परन्तु बाद में विचार करने पर प्रतीत हुआ कि वास्तव में बात ऐसी ही थी। अंग्रेजों के आक्रमण एवं दीर्घकाल तक फैले हुए आतंकने लोगों को भारी आघात पहुंचाया था। इस आतंक ने भारतीय समाज के आन्तर सम्बन्धों को ध्वस्त किया था। इतना ही नहीं, उससे भी शोचनीय बात यह हुई कि उन्होंने उन्हें गूंगा बना दिया था। गांधीजी का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रदान यह है कि उन्होंने समाज की आवाज़ को पुनः जीवन प्रदान किया तथा अपना उदाहरण प्रस्तुत करके समाज के विभिन्न घटकों को भयमुक्त तथा स्पष्टवक्ता बनाया। वास्तविक रूप से संविधान सभा के सदस्य जिस बात को समझाने का प्रयास करते थे और जयप्रकाश नारायण भारतीय राज्यतन्त्र के जिस आधार के विषयमें बताते थे वह गांधीजी की ही धरोहर थी। परन्तु दूसरे प्रकार से कहें तो उनका यह सरोकार प्राचीन भारतीय संस्कृति की व्यापक विश्व दृष्टि, जीवन दृष्टि तथा जीवन रचना का भी परिणाम था जो जीवन को एकात्म रूप से अवस्थित मानती थी।

समग्र रूप से उन्हें कार्यप्रवृत्त करने वाले क्षेत्रों का ढांचा तथा क्षेत्रों के आन्तरसम्बन्ध दुर्बल हो जाने के कारण विशाल क्षेत्रों तथा समूहों के आन्तरसम्बन्धों में भी तनाव बढने लगा। भारत की राजकीय तथा प्रशासनिक संस्थाओं के टूट जाने के कारण विद्वान तथा शिक्षित लोग अंग्रेजों द्वारा निर्मित व्यवस्था में ढलने लगे। यद्यपि २० वीं शताब्दीमें उनका समायोजन अधिकांशतः प्रशासन तन्त्र की निम्न श्रेणी में ही होता था तथापि बाद में वे अपने ही लोगों को भयभीत करने का साधन बन गये। कुछ ही दशकों में वे और वे जहां से आए थे वे जातियां भय ही नहीं घृणा के पात्र भी बन गये। १८६० के समय तक भारतभर में यही स्थिति बनी रही।

फिर भी १८५७-५८ की घटनाओं तथा काल के प्रवाह ने बहुत से समीकरण बदल दिये। १८७० की अवधि में अंग्रेजों ने नये सम्बन्ध बनाना प्रारम्भ किया। भारतीय समाज पर थोपा हुआ विघटन तथा अन्याय, अंग्रेजी राज्य के नियम तथा कानून किस प्रकार अधिकांश लोगों को दरिद्र तथा दुर्बल बना रहे थे वह सब धीरे धीरे सब को समझ में आने लगा।

दक्षिण भारत के मैसूर राज्य के महाराजा को भी अपने आसपास निर्मित

असमानता बहुत भयंकर प्रतीत होने लगी थी। इस असमानता की भयंकरता ने मैसूर राज्य के बहुत से वर्गों को सम्मान, प्रतिष्ठा तथा समृद्धि से लगभग १८८० तक वंचित रखा था। महाराजाने हल यह दिया कि निम्न स्तर के सरकारी कर्मचारी एक दो जातियों से नियुक्त करने के स्थान पर मैसूर की जनसंख्या के अनुपात में प्रत्येक प्रमुख जाति से कर्मचारियों को चुना जाय।[३७]

सन् १९२० के पूर्वार्ध से ही यह पद्धति दक्षिण भारत में लागू होने लगी। यद्यपि वह अंग्रेजी ढांचे में ही अवस्थित थी।

अंग्रेजी पद्धति के प्रभुत्व में रहकर २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत के अनेक भागों ने इस हल को अपनाना शुरू किया। सरकार या सरकार द्वारा नियन्त्रित संस्थाओं में गौण सेवाओं में कर्मचारियों की भर्ती उस प्रान्त या क्षेत्र में उन उन जातियों की जनसंख्या के अनुपात में होने लगी। इस पद्धति से जातियों को फिर से जोड़ने अथवा इनमें एकात्मता निर्माण का काम तो नहीं हुआ परन्तु अंग्रेज शासन की प्रथम शताब्दी में सार्वजनिक जीवन में जिनको कोई स्थान नहीं मिला था उनको व्यक्तिगत लाभ अवश्य प्राप्त हुआ।

स्वतन्त्र भारत के संविधान में भी सामाजिक असमानता के विषय पर ध्यान दिया गया तथा संविधान में दो धाराओं का समावेश करके सुधार करने का प्रावधान किया गया। धारा १६(४) तथा ४६ शिक्षा में तथा लोक सेवाओं में दलित वर्ग, पिछड़े वर्ग, अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षण की व्यवस्था करती हैं।

कुछ वर्ष पश्चात् संविधान की ये धारायें दलित वर्गों के आयोग की रचना में परिणत हुईं। इसके बाद भारत के अनेक राज्यों में इस प्रकार के आयोगों की रचना की गई तथा सन् १९८० तक जाति के आधार पर लोक सेवा के सभी क्षेत्रों में शासकीय सेवाओं में 'संख्या आधारित प्रतिनिधित्व' भारत के अनेक भागों में सम्माननीय तथा मान्य विचार बन गया।

परन्तु जिस प्रकार जिलों, उपजिलों तथा बस्तियों के स्तर पर प्रशासन का विकेन्द्रीकरण बस्तियों को प्राणवान नहीं बना सका, उसी प्रकार जाति के संख्यात्मक आधार पर लोकसेवा में भरती का विचार भी जातियों को प्राणवान नहीं बना सका। अंग्रेजी ढांचे और रचना के स्वभावगत लक्षण में ही दोनों की असफलता निहित थी।

९.

भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य अंग्रेजी कानून, संस्थाएं, विचार, सिद्धान्त आदि के माध्यम से थोपे जाने के कारण से (इसमें कोई सन्देह नहीं है कि १८ वीं शताब्दी के अन्त तथा १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इनका उद्‌गम था और सन् १९०० तक तो वे पुराने पड गये थे।) अंग्रेजों के अनुभव एवं उनके सिद्धान्त के अनुसार भारतीय समाज को २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पूर्ण रूपसे क्षतविक्षत हो जाना चाहिए था, और तब तक तो अवश्य ही जब १९४७ में उन्होंने भारत छोड़ा। परंतु लक्षणीय रूप में ऐसा नहीं हो सका, इसलिए नहीं कि उनके प्रयत्नों में कोई कमी रह गई थी। भारत को तोडने के और पूर्णरूप से दास बनाने के शारीरिक एवं बौद्धिक सभी प्रकार के प्रयास अंग्रेजों ने किये। इतना ही नहीं तो यूरोपीय विश्वदृष्टि में उसे सम्मिलित करने के विभिन्न प्रकार के प्रयास किये गये ताकि उसके ऊपर आधिपत्य जमाने में कम से कम खर्च एवं हिंसा हो। तीन प्रमुख प्रयास थे - ईसाई मत, पश्चिमीकरण तथा प्राच्यविद्या का प्रचार एवं प्रसार।

भारत में सन् १८१३ के प्रारम्भ में भारत के ईसाईकरण को 'ब्रिटिश हाउस ऑफ कोमन्स' में मान्यता प्राप्त हुई व बढ़ावा दिया गया। सन् १८३० में भारत में पश्चिमीकरण एक प्रमुख कार्यक्रम बना। लगभग सन् १७८० से अंग्रेजों ने भारतीय शिक्षाजगतमें तथा आंतरराष्ट्रीय राजकारण में प्राच्य विद्या तथा यूरोपीय एवं भारतीय भाषाओं के समान कुल का सिद्धान्त तथा भारत यूरोप सम्बन्ध पर अपनी बाजदृष्टि गडाए रखी। प्राच्यविद्या के सिद्धान्त से उद्‌भूत एक विचार तो अमेरिका के राष्ट्रप्रमुख रूझवेल्ट को भी स्वीकार था। उसीसे प्रेरित हो कर उसने अंग्रेजों को परामर्श दिया कि 'हमें कुछ ऐसी व्यवस्था के विषय में सोचना चाहिए जिससे भारत मानने लगे कि वह एशिया का हिस्सा न होकर यूरोप व अमरिका का हिस्सा है'। बाद में उसने इस बात का स्पष्टीकरण कुछ इस प्रकार करने की चेष्टा की कि, 'वैसे भी प्रजाति के तौर पर अधिकांश भारतीय एक प्रकार से पश्चिम के लोगों के चचेरे भाईबहन ही तो हैं'।[३८]

इन सभी प्रयासों से दारिद्र्य तथा अवसाद बहुत बढ़ गये। परन्तु जातियों एवं समाज का बहुत अधिक विघटन नहीं हो पाया। जिन लोगोंने १८ वीं शताब्दी में ईसाईमत में धर्म परिवर्तन कर भी लिया था वे अकेले नहीं पड गये या उनके परिवारों का भी विघटन नहीं हुआ। उनमें भी हिन्दुओं के बड़े परिवारों जैसा ही सम्बन्धभाव बना रहा।

यदि भारतीय समाज पश्चिम के यूरोपीय समाज की भाँति विभाजित हो गया होता

तो उसने पश्चिम यूरोप या फिर उत्तर अमेरिका का मार्ग अपना लिया होता। किसी अन्य कारण से न भी सही तो केवल अस्तित्व के लिए भी उपरोक्त मार्ग अपनाया जा सकता था। अमेरिका के लोग पश्चिम के आदर्श जिस प्रकार बचपन में ही प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार से भारत के, कम से कम लोगों के एक वर्ग में, तो साहसिकता तथा शोधवृत्ति जगा ही दी होती। इस प्रेरणा तथा साहस ने अनिवार्य रूप से भारत के लोगों को नयी अनिवार्यताएं तथा नयी संस्थाएं भी प्रदान की होतीं। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। यूरोप की जिन धारणाओं तथा अनुभवों के अधिष्ठान पर भारत की राजकीय तथा सार्वजनिक संस्थाओं की रचना हुई है उनको भारत में सार्वत्रिक आधार प्राप्त नहीं हुआ है। जो घटनाएं किसी विशेष स्वरूप में भारत में घटी हैं उनका अर्थ यह तो नहीं कि अन्य स्थानों पर भी उन घटनाओं का पुनरावर्तन होगा ही। यूरोप की संस्कृति ने विश्व भर में ४००-५०० वर्ष तक अपना सिक्का जमाए रखा यह अपने आप में कोई महती घटना नहीं है।

१०.

यूरोप का इतिहास बोध तथा राज्यविषयक यूरोप के विचार भारत के लिए पराए हैं। इसलिए कि विश्व में जापान जैसे और भी कई स्थान हैं जहां कहा जा सकता है कि यूरोप के समान सामन्तशही का प्रचलन था और जहाँ बिलकुल वैसा ही इतिहास बोध तथा संस्थाएँ दिखाई देती थीं। परन्तु भारत का समावेश इन में नहीं होता। यहां कौटिल्य के अर्थशास्त्र के केन्द्रीकरण के सैद्धान्तिक उद्धरण के बावजूद भी यूरोप के समान राज्यतन्त्र की रचना दिखाई नहीं देती। लगता है कि राजा समाज के एक अंश के रूप में अवस्थित है तथा संख्यात्मक रूप से सक्षम ऐसे समूह का प्रमुख इस रूपमें ही उसकी भूमिका है। इस कारण से यहां केवल हिमालय, बड़ी नदियों तथा महासागरों के द्वारा बनी हुई सीमाओं के अतिरिक्त कोई कृत्रिम सीमा नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कस्बे, क्षेत्र, जनपद क्रमशः सब एक दूसरे में मिल गये हैं। सामान्य रूप से ऐसी कोई निश्चित रेखा नहीं है जहां एक जनपद की सीमा पूर्ण होती हो और दूसरे जनपद की सीमा प्रारम्भ हो जाती हो।

यहां एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि कोलम्बस के बादं के अमेरिका की भांति भारत बाहर से आकर बसने वालों का स्थान नहीं है। यद्यपि भारत को छोटे-बड़े बहुत से विदेशी आक्रमणों का अनुभव है तथापि यह वास्तव में पराजित संस्कृति नहीं है। (जिस प्रकार सम्भवतः यूरोप है और १४९२ के बाद तथा १९ वीं शताब्दी में

अधिकांशरूप में कोलम्बस के बाद का अमेरिका बना हुआ है। भारतीय लोगोंने अपने सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक जीवन के लिए भिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ बनाई हैं। ऐसा नहीं था कि क्षेत्रोंमें, प्रदेशों में अथवा बन्धु बान्धवों में कभी लडाई झगड़े अथवा युद्ध नहीं होते थे। इतना ही नहीं तो एक स्थान से दूसरे स्थान में जाना भी होता था। दक्षिण भारत के कितने ही समूह हिमालय में जा बसे तथा ७०० वर्ष पूर्व उत्तर प्रदेश के कान्यकुब्ज जाति के अनेक ब्राह्मण बंगाल के उपसागर के किनारे स्थित पुरी के जगन्नाथ मन्दिर के प्रदेश में जा बसे। कान्यकुब्ज विद्या का प्राचीन महत्त्वपूर्ण केन्द्र था तथा ७ वीं शताब्दी में प्रसिद्ध राजा हर्ष की राजधानी का नगर था। १८ वीं शताब्दी के चेंगलपट्टु जिले से प्राप्त जानकारी से पता चलता है कि १७ वीं शताब्दी में कभी उत्तरप्रदेश के अयोध्या का एक योद्धा, नेता या शायद छोटा राजा अथवा साहुकार अपने परिवार के २०० सैनिकों के सशस्त्र दल के साथ दक्षिण भारत के किनारे स्थित रामेश्वर मन्दिर की ओर जा रहा था। जब वह एक सहस्त्र अथवा कदाचित उससे भी अधिक मील लम्बी यात्रा करके चेंगलपट्टु के प्रदेश में पहुंचा तब उसे एक हमलावर समूह मिला। यह समूह बहुत दिनों से उस स्थान के लोगों को परेशान कर रहा था। कहा जाता है कि चेंगलपट्टु के लोगों की प्रार्थना का सम्मान करके उसने उस समूह को खदेड़ दिया। इसके बाद चेंगलपट्टु के लोगोंने उसे वहां से जाने ही नहीं दिया। लोगों की इच्छा थी कि उत्तरप्रदेश का वह पुरुष तथा उसके साथी वहीं रुक जाएं तथा उनके साथ उनके ही बनकर रह जाएं। अन्त में ऐसा ही हुआ। उस पुरुष व उसके वंशजों को बाद में वहीं के लोगों में मिला लिया गया तथा उन्हें ही बाद में छोटे राजा या पलयक्करन् के नाम से पहचाना गया।

इस प्रकार की अनेक घटनाएं भारतीय साहित्य व इतिहास में प्राप्त होती हैं। ऐसे उदाहरण भारत के लगभग सभी प्रदेशों में प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार के स्थानान्तरों के बावजूद भी लगता है कि भारत के अधिकांश क्षेत्र के वर्तमान लोग तथा उनके राजकीय नेता, राजा अथवा पलयक्करन् उन्हीं के क्षेत्र में अथवा पड़ौस में ही रह रहे होंगे अर्थात् उन्हीं जनपदों में जहां उनके पूर्वज प्राचीन समय अथवा गौतम बुद्ध के समय से रहते थे। यह भी सम्भव है कि समय के बीतने के साथ उनमें से कुछ ने या अनेकों ने अपना सम्प्रदाय भी बदल लिया हो। वे बौद्ध, जैन या शैव, वैष्णव, तान्त्रिक, सर्प की पूजा करने वाले आदि बन गये हों। यह भी सम्भव है कि वे बाद में मुसलमान अथवा ईसाई भी बन गये हों। परन्तु इस प्रकार के परिवर्तन का किसी भी प्रकार से उनकी संस्थाओं पर कोई प्रभाव हुआ दिखाई नहीं देता। इससे

आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सभ्यता की निरन्तरता बनी रही। यह ऐसी निरन्तरता थी जिससे वोल्टेर जैसा व्यक्ति आश्चर्यचकित रह जाता था, तो दूसरी और इसी निरन्तरता से ऐसी धारणा बनती थी कि भारत परिवर्तन का प्रतिरोध करता है अथवा एलेक्झाण्डर के समय से या उससे भी पूर्व से पश्चिम के आक्रमणों का शिकार ही बना रहा है। यहां एक बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि एलेक्झाण्डर सिन्धु नदी के पूर्व किनारे से भारत में अधिक अन्दर नहीं आ सका था। परन्तु अर्वाचीन इतिहास की तथा प्राचीन ग्रीस की पाठ्यपुस्तकें उसे भारत का विजेता बताती हैं। इतिहास की पुस्तकें भारत पर हुए सभी आक्रमणों को एलेक्झाण्डर के आक्रमण के समान ही निरूपित करती हैं।

सामाजिक तथा सांस्कृतिक निरन्तरता के बावजूद भारत व उसके लोग तथा राज्यव्यवस्था आज गतिरोध की स्थिति में है। सम्भवतः इस गतिरोध के बीज ७ वीं शताब्दी में सिन्ध पर इस्लाम के आक्रमण के समय बोये जा चुके थे। परन्तु इस का व्याप एवं गहराई १००-१५० वर्ष से अधिक पुराने नहीं हैं। उलझा हुआ मानस इसका मूल कारण है जिससे आत्मविस्मृति, और अत्यन्त वैविध्यपूर्ण भारतीय समाज के साथ एकात्मता का अभाव निर्माण हुआ है।

भारत के समृद्ध तथा विद्वत्तापूर्ण उच्च वर्ग को आत्मविस्मृति की ओर ले जाने वाली मानसिक उलझन तथा प्रतिकूल परिस्थितियां अत्यधिक मात्रामें प्रभावित करने लगीं। जिनका यूरोप की संस्कृति से थोड़ा भी सम्बन्ध बना ऐसे लोगों का धीरे धीरे अपनी संस्कृति से नाता टूटने लगा। सन् १८३० से ऐसा होते हुए अंग्रेजोंने देखा।[३९] १८९० के दशक में यह पतन इस हद तक पहुंच गया कि स्वामी विवेकानन्द ने भी इस बात को स्वीकार किया कि, 'यदि पश्चिम हम लोगों की सहायता नहीं करेगा तो हम स्वयं खड़े भी नहीं हो पाएंगे। इस देश में अभी तक गुणों की कोई कदर नहीं दिखाई देती, कोई आर्थिक शक्ति नहीं है तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि व्यावहारिकता तो जरा भी नहीं है।'[४०]

बाद के ३० वर्षों में भारतीय उच्चभ्रू वर्ग पश्चिम के शरण में चला गया। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के एक उभरते नेता जवाहरलाल नेहरू ने १९२९ में इसी स्थिति का अनुभव किया। महात्मा गांधी को भेजे पत्र में उन्होंने लिखा, 'आपने कहीं पर कहा है कि भारत को पश्चिम से कुछ भी सीखने जैसा नहीं है तथा यह भूतकाल में विद्वत्ता के शिखर पर पहुंचा हुआ था। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हूँ। मैं स्वीकार करता हूँ कि पश्चिम या कहें कि औद्योगिक संस्कृति द्वारा भारत का जीता जाना अपरिहार्य है। हमने थोडे बहुत

परिवर्तन के साथ तथा अपनी अनुकूलता के अनुसार औद्योगिकरण को स्वीकार किया है। परन्तु प्रमुख रूप से औद्योगिकरण की बहुत सारी स्वाभाविक क्षतियों की जोरों से आलोचना भी की है। परन्तु उनके गुणों के विषय में ध्यान नहीं दिया है। हम उन क्षतियों को जानते हैं तथा आदर्श स्थिति की कल्पना एवं सामाजिक सिद्धान्त उन्हें दूर करने के लिए ही हैं। पश्चिम के अधिकांश चिन्तकों का मत है कि ये क्षतियां औद्योगिकरण के कारण न होकर दूसरों के शोषण पर आधारित मूर्खतापूर्ण पूंजीवादी व्यवस्था के कारण हैं।'[४१]

१७ वर्ष पश्चात् १९४५ में उन्होंने अपने मत की अधिक पुष्टि की। उन्होंने कहा, 'मुझे यह बात समझ में नहीं आती की गाँवों को सत्य तथा अहिंसा का साकार रूप क्यों होना चाहिए। सामान्य रूप से देखने पर गाँव बौद्धिक व सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े होते हैं और पिछड़ेपन में कोई प्रगति नहीं कर सकता। संकुचित विचार करने वाले लोगों के असत्यवादी तथा हिंसक होने की सम्भावना अधिक होती है।'[४२]

आत्मविस्मृति एवं आत्मबोध के अभाव तथा उचभ्रू वर्ग के भारत एवं भारत के लोगों से टूटे हुए सम्बन्ध के कारण भारतीय समाज का विघटन अधिक व्यापक तथा अधिक गहरा हो गया।

१९४७-४९ में भारत का संविधान बनने के समय तक अंग्रेजों तथा पश्चिमीकृत भारतीयों द्वारा रचित भारतीय राज्य के संस्थाकीय आयोजन में ऐसे ही लोग सत्ता के तथा निर्णय करने वाले पदों पर आसीन हो गये थे। परिणामतः पूर्व के भारतीय मापदण्डों के अनुसार पूर्वस्थिति में जाना बहुत कठिन हो गया। क्षेत्रों की वरीयता स्थापित करना कठिन होने के कारण भारतीय मानस जाति अथवा कुल पर जोर देने लगा। यह बात समझ में आ गई थी कि इस प्रकार के व्यापक समूह एक दूसरे के पूरक हैं, तथा वे अलग रहकर काम नहीं कर सकते। अभी हम पूर्ण रूप से समझ नहीं पाये हैं कि इस वरीयता के कारण ही व्यापक भारतीय राज्य व्यवस्था अथवा संस्कृति की रचना करने के लिए एक दूसरे से सम्बद्ध होती थीं।

१९४७ में अंग्रेजों की विदा के मुर्हूत में किसी ने महात्मा गांधी से पूछा, 'स्वतन्त्रता प्राप्त होने का क्या अर्थ है ?' उन्होंने उस समय लिखा था, 'परतन्त्रता की अवधिमें हमारी राज्य व्यवस्था के प्रत्येक कोष तथा छिद्र में जो सड़न पैदा हुई है उसे साफ़ करने में कम से कम आधा समय लगेगा।' परतन्त्रता के १५० वर्ष के बाद ९ जुलाई, १९४७ के दिन उनका गुजराती में लिखा गया पत्र निम्नानुसार था,

'आप यदि मानते हैं कि स्वराज्य आने के बाद देश में समृद्धि की बाढ़ आ जाएगी तो यह आपकी बहुत बडी गलती है। ऐसा मानने से पूर्व आप अपनी कल्पना शक्ति का

थोडा उपयोग करते तो आपको समझ में आता कि १५० वर्ष के पारतन्त्र्य के बाद अपनी राज्य व्यवस्था के प्रत्येक कोष तथा छिद्र में पैदा हुई सड़न को साफ करने में कम से कम आधा समय लगेगा तो आप मुझसे नहीं पूछते। मुझे विश्वास है कि मैं जो कहना चाहता हूँ वह आप समझते हैं। स्वराज्य प्राप्त होने के बाद अच्छी सरकार बनाने तथा 'सत्याग्रह' के माध्यम से स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये बहुत 'बलिदानों' की आवश्यकता है।'[४३]

केवल क्षेत्र और जाति ही नहीं तो व्यक्तियों को भी महात्मा गांधीने स्वराज्य के दृष्टिकोण से व्याख्यायित किया और समझा। ऐसा लगता है कि जीवन में समाज तथा मनुष्यता के श्रेष्ठ उदाहरणों में इस प्रकार की व्याख्या ही केन्द्रवर्ती होती है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय राज्यतन्त्र सही व्याख्या तथा समझ के अभाव में अनेक समस्याओं का सामना कर रहा है, नहीं कि इस्लाम तथा यूरोप के द्वारा लूट के कारण। एक विश्लेषित मूलभूत भारतीय विचार तथा कुल, जनपद, राजा तथा मन्त्रीमंडल आदि का विश्लेषण ही सम्भवतः भारत की राजनैतिक व सामाजिक समस्याओं का निराकरण खोजने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

परिशिष्ट

चेंगलपट्टु (१९६७-१९७४)

अंग्रेजी में लगभग २० पत्रकों में तथा तमिल में लगभग ५०,००० ताडपत्रों में प्राप्त १७६७-१७७४ के चेंगलपट्टु के सर्वेक्षण से प्राप्त जानकारी को वास्तविक मानना चाहिये। इस सर्वेक्षण के निश्चित व्याख्यायित उद्देश्य थे, इतना ही नहीं तो उन्हें दिशा प्रदान करने वाले दृष्टिकोण तथा समझ के अनुसार उसे किया भी गया। उदाहरण के लिये चेंगलपट्टु जिले में १०० कि.मी. से भी अधिक समुद्र का किनारा तथा २,००० हेक्टर में व्याप्त क्षेत्र में नमक बनाने के अगर होने के बावजूद भी नमक बनाने वालों का सर्वेक्षण दर्शाने वाले आँकड़ें केवल ३९ ही बताए जाते हैं।

यह हो सकता है कि वास्तव में उत्पादन में लगे हुए लोगों के स्थान पर उनका निरीक्षण करनेवालों के सर्वेक्षण पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया हो। घर, मन्दिर तथा सार्वजनिक स्थान बनानेवाले, अन्य अनेक प्रकार से कपड़े के उद्योग में सहायता करने वाले, रसायनों के उत्पादन में व्यस्त, स्कूलों में पढाने वाले अथवा औषधि के व्यवसायों में लगे हुए, औद्योगिक व्यवसाय आदि में व्यस्त लोगों की ओर ध्यान देना सम्भवतः चुक गया है। अतः जितना सम्भव था उतना सर्वेक्षण किया गया। यह सर्वेक्षण ब्रिटिश पूर्व

दक्षिण भारत के समाज की जानकारी रखने के विषय में जागृति तथा उसमें व्यस्त लोगों के परिश्रम एवं तल्लीनता को दर्शाता है।

चेंगलपट्टु के समाज की उस समय की स्थिति, पशुओं की कम हो रही संख्या, भेड़-बकरियों की व्यवस्था, विविध संस्थाओं तथा कार्यों (मन्दिर, मठ, सिंचाई, पुलिस, सेना, लेखा), कृषि की उपज का वितरण आदि के आंकडों की जानकारी सारिणी १, २ और ३ में दी गयी है। इसमें यह भी सम्मिलित किया जा सकता है कि वहां के लोगों अथवा संस्थाओं के लिए केवल यही व्यवस्थाएं नहीं थीं। इसमें जो कृषि विभागके नहीं हैं ऐसे अधिकांश लोग अपने कार्यों के लिए मन्दिर आदि स्थानों से वेतन प्राप्त करते होंगे। प्रत्येक परिवार के पास जहां वह रह रहा था वहां उसका अपना घर (ग्रामनत्तम) भी होता था।

सारिणी १

चेंगलपट्टु के विविध व्यवसाय तथा जाति के लोगों के घरों की संख्या की विस्तृत जानकारी, सन् १७७०

	घरों की संख्या	निवास युक्त घरोंकी संख्या	जहाँ लोग उपस्थित हैं	
			५०% या उससे अधिक	३०% या उसस अधिक
कुल परिवार	६२,५२९	१,५४४		
कृषि तथा पशुपालन	३३,९६३			
वेल्लाल	७४११	-	५३	१८२
पल्ली	९,६९३	१११२	१७२	४२३
परियार	११,०५२	११०८	८२	३४४
रेड्डी	१४१७	२५६	७	३०
कम्मावार	१००५	१८२	१२	३२
गोपाल	२५७३	७९६	१४	५१
शनार	८१२	२५६	१०	२५
उद्योग एवं हस्तकला	८२३४			
बुनकर	४०११	२१८	३४	५५

मछुआरे	५९०	७९	९	१५
सराफ़	४२२	३४४	-	-
धुनिया	८५	७३	-	-
बढ़ई	५३६	४१४	-	-
लोहार	३९४	३१३	-	-
कारीगर	४५	१८	-	-
लोहे के बर्तन बनाने वाले	३६	१७	-	-
सुनार	२०९	११३	९	३८
वनस्पति तेल उत्पादक	६३७	२७०	-	-
कुम्हार	३८९	३०९	-	-
लकड़हारे	५९६	१८२	-	-
नमक पकाने वाले	३९	-	-	-
मोची	७८	२७	-	-
पत्थर काटने वाले	८९	२१	-	-
अन्य औद्योगिक काम (अनुमानित)	५००	-	-	-
व्यापारी	४३१२			
चेट्टी	२०५१	७२५	११	४७
अन्य व्यापारी	१८३९	-	-	-
आवश्यक सेवाएं	१६८५	५०६	-	-
नाई	६६४	५०६	-	-
धोबी	८६२	७१९	-	-
वैद्य	१५९	१३१	-	-
विद्वान, उच्च शिक्षण, कर्मकांडी तथा संस्कृति	८०६४			
ब्राह्मण	६६४६	-	३४	३४
पंडाराम	१०५४	३७३	२	१०
देवदासी	६२२	१५२	२	२
वल्लुवन	१३७	९१	-	-

वोचुन्स	१७३			
संगीतकार	२७	२५	-	-
कुटाडी (रंगमंच कलाकार)	२५	२२	-	-
स्थान प्रशासन, लेखा आदि	१,९७४			
कनकपिल्लई (पंजीयन, अभिलेख, लेखा)	१,६६०	७१४	२	२
पेनिसेवान	३१४	२१३	१	१
तालियार (पुलिस)	७०७	२९४		
सैन्य	१,४७९	-	११	३९
मुस्लिम	७३३			
लंगरिये	६७१	१५४	७	८
फकीर	६२	३९		
अन्य शेष	७४८			

सारिणी २

पालतू मवेशियों की संख्या

गाय	९४,६८५
भैंस	५,४१७
बकरियां	१४,९३१
भेड	१४,९७०
बैल	५९,५५०

१७४८ से १७७० तक का समय दक्षिण भारत में अंग्रेजों तथा उनकी स्पर्धा करनेवालों द्वारा चेन्नई के आसपास के विशाल भागों में युद्ध, लूट तथा लोगों एवं जानवरों के नाश का समय था। अत: यह सम्भव है कि जो आंकड़ें बीस वर्ष पहले के थे वे गिनती में कम हों।

सारिणी ३

चेंगलपट्टु की कुल कृषि की उत्पाद का अनुमानित मूल्य तथा विभिन्न संस्था और उनके कार्यो को उसका वितरण

	कलाम *	टन	व्यक्तिगत रूपसे प्राप्त करनेवाले	योगदान देनेवाली बस्तियां ***
कुल कृषि उत्पादन	१४,७९,६४४	१,८४,९५५	-	(१४५८)
कुल बंटवारा	३,९४,९५०	४३,३६९	-	(१४५८)
क्षेत्र के अन्तर्गत संस्था तथा व्यवसाय	२,६४,८२४	३३,१०३	-	(१४५८)
स्थानिक कोविल (मंदिर, मूर्तियां)	१३,८८२	१,७३५	-	(१४०९)
पंडाराम/देवदासी/ज्योतिषी	१८,५०३	२,३१३	-	(१४४०)
जोतनेवाले के नौकर	८७,५०४	१०,९३८	-	(१३६३)
सिंचाई अंश	१९,८०६	२,४६७	-	(१०४७)
कारीगर (बढई, लोहार)	१९,४७०	२,४३५	९७५	(१४५३)
कुम्हार	२,७४९	३४४	३८९	(७०९)
नाई	६,१६९	७७१	६४४	(१४३९)
धोबी	६,०५८	७५७	८६२	(१४३६)
अनाज तौलने वाले	११,५६१	१,४४५	-	(१३०३)
सराफ़	९,३३२	१,१६६	४२२	(१२०१)
कनक पिल्लई	३१,६२४	३,९५३	१,६६०	(१४५६)
पेनिसवान	३,११०	३८९	३१४	७६२
वोटी	२१३७१	१७१	-	२७२
मुख्य निवासी	३१,१९७	३,८९९	-	(१३३२)
अन्य	२,४८८	३२	-	-
बाहर की संस्था तथा लोगों के लिए	१,३०,१२६	१६,२६६	-	(१४५८)
महाकोविल/मठ •	---	---	---	---
उच्च शिक्षण**/विद्वान	२५,३२१	३,१६५	-	(१२८०)

प्रशासन	५३,५७२	६,६९७	७०७	(१३४७)
सैन्य	४५,९३६	५७४२	१४७९	१४५७
फकीर/मस्जिद	२,५१८	३५१	-	५०६
विविध अन्य	२,७७९	३४५	-	-

* १ कलाम = १२५ किलोग्राम

** इनकी एक संस्था कांचीपुरम् के भव्य विष्णु मन्दिर के पास १,२६५ बस्तियों के कृषि उत्पादन की थी। अन्य नौ को २०० से ४५० बस्तियों की ओर से व दूसरी सात को ११८ से १८७ बस्तियों की ओर से उत्पन्न प्राप्त होता था। इस प्रकार अनेक विद्याकेन्द्रों और विद्वानों को तथा मन्दिरों को भारत के अन्यान्य क्षेत्रों से अंश मिलता था। यह अंशदान समीपवर्ती तथा दूरवर्ती इलाकों से भी मिलता था। पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मंदिर तथा उसके साथ संलग्न संस्थाओं को समग्र भारत से योगदान मिलता था। अब जो स्थान पाकिस्तान में गये हैं उनमें से भी कई बार योगदान प्राप्त होता था। इसी प्रकार सन् १८१० तक दूसरे राजाओं के साथ मराठों तथा नेपाल के राजा की ओर से चेंगलपट्टु के पास के सुप्रसिद्ध तिरुपति मंदिर को भी योगदान प्राप्त होता था।

*** कोष्ठक में स्थित संख्या इन विशेष प्रकारकी संस्थाओं को अंश देने वाली बस्तियों की है।

ऋण स्वीकार

यह लेख श्री एम. डी. श्रीनिवास व श्री.टी.एम. मुकुन्दन द्वारा किये गये उत्साह वर्धन, दिये गये महत्त्वपूर्ण सुझावों तथा लगातार दी गयी सहायता के बिना लिखा जाना संभव नहीं था। मुझे इस लेख के सम्बन्ध में कई बार गोपाल कृष्ण, रामेश्वर मिश्र पंकज, राधाकृष्ण, बनवारी, सुनील सहस्त्रबुद्धे तथा बरनी होरोविट्ज से साथ चर्चा करने के अवसर प्राप्त हुए हैं। मुझे अपनी बड़ी बेटी गीता तथा दामाद वर्नर फ्रिक के साथ चर्चा करने का भी मौका मिला है। इस लेख के अंतिम चरण में मुझे अशोक झुंझुनवाला, पी.एल.टी. गिरिजा, वी. बालाजी, जे. के. बजाज, क्लाड एलवारिस, सुधा सीतारमन, जे. के. सुरेश तथा जी.एस.आर कृष्णन् आदि की बहुत सहायता प्राप्त हुई है। मैं इस लेख के तथ्य एवं विचार कई स्रोतों तथा कई लोगों से काफ़ी लम्बे समय से प्राप्त करता रहा हूँ। जिन लोगों को मैं इन विचारों के लिए याद कर पा रहा हूँ उनमें मीरा बहन, राम मनोहर लोहिया, जयप्रकाश नारायण, इरावती कर्वे, अण्णासाहब सहस्त्रबुद्धे, आर.के. पाटिल, पी.के.पी. नायर तथा मेरे मित्र रामस्वरूप तथा सीताराम गोयल हैं। यदि मुझे अप्रैल १९९२ में लिस्बन के सम्मेलन में आमंत्रित न किया जाता तो यह भी संभव था कि मैं इन विचारों तथा जानकारी को इस प्रकार लेख में प्रस्तुत न कर पाता। प्रो. वौल्फगैंग तथा 'युरोपियन साईस फाउन्डेशन' ने मुझे इस लेख को प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान किया। मैं उन सभी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ। मैं 'सेन्टर फॉर पोलिसी स्टडीज' मद्रास को भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं। साथ ही श्री स्वराज पॉल के प्रति भी मैं आभारी हूं जिन्होंने सितम्बर, अक्तूबर १९९१ में ब्रिटिश लायब्रेरी से संपर्क करने तथा मेरे निवास को सुगम बनाने में मेरी मदद की।

सन्दर्भ

१. महाभारत : सभापर्व १४ : ५.६; भगवद् दत्त : भारत का इतिहास, १९४४, पृ. १४६-१४९
२. महाभारत : शान्तिपर्व : ६७ : १२, ५९ : १३-२८; इस से पूर्व एवं पश्चात् भी
३. महाभारत : शान्तिपर्व : ८५ : ७-११
४. टी.वी. महालिंगम्, साउथ इण्डियन पोलिटी, मद्रास युनिवर्सिटी, १९५५, पृ. ३४४-३५३ में उत्तरामेरू उत्कीर्ण लेखों का अनुवाद एवं वर्णन दिया गया है; साथ ही
के. ए. नीलकंठ शास्त्री, दि चोल, मद्रास युनिवर्सिटी, १९३५, (१९८४), पृ. ४८७, ४९५-४९६;
बर्टन स्टेन, पीझन्ट स्टेट एण्ड सोसाइटी, इन मिडीवल साउथ इण्डिया, आक्सफोर्ड (ओयुपी), १९८०, पृ. १४६-१४७
जयप्रकाश नारायणने अपने 'प्ली फॉर रीकन्स्ट्रक्शन ऑव् इण्डियन पोलिटी', १९५९, पृ. २५-२७ में उत्तरामेरू के समाज, उसकी संस्थाओं तथा चुनावी प्रक्रिया का उल्लेख किया है।
५. यह जानकारी १७६७-७४ की अवधि में चेंगलपट्टु जिले की २२०० बस्तियों के सर्वेक्षण की अंग्रेजी में लिखी गई सामग्री पर आधारित है। यह सामग्री चैन्नई में तमिलनाडु राज्य के अभिलेखागार में है। इस प्रकार की अनेक बस्तियों से सम्बन्धित ताडपत्रों पर लिखी गई सामग्री तमिलनाडु के तंजावुर में स्थित तमिल युनिवर्सिटी में रखी गई है। वर्तमान में पीपीएसटी फाउन्डेशन एवं सेन्टर फॉर पोलिसी स्टडीझ, मद्रास में इस सामग्री का विस्तृत विश्लेषण किया जा रहा है।
६. धर्मपाल, भारतीय परम्परा में नागरिक अवज्ञा, में १८१०-११ में घरों पर लगाये कर के विरोध में वाराणसी में हुए व्यापक अशस्त्र प्रतिरोध का निरूपण प्रस्तुत है।
७. 'भारत : सत्ता का हस्तान्तरण' खण्ड ७ एवं ८, मई और जुलाई १९६४ (एचएमएसओ, लन्दन) : अभिलेख २९७, ४०७, ४४२, ४५५, ५०९, ५१० एवं ५२७ (खण्ड ७) और अभिलेख ७ एवं ८ (खण्ड ८) की अधिकांश सामग्री इसी मुद्दे से सम्बन्धित है।
८. दि इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी एण्ड रेकोर्ड्स (आईओएलआर), लन्दन में ब्रिटिश वायसराय लॉर्ड लैन्सडाउन तथा लॉर्ड एल्जिन के एल/पी एण्ड जे श्रेणी में अनेक पत्रों में इस आन्दोलन के विषय में पर्याप्त सामग्री है।
९. आई ओ एल आर : क्वीन विक्टोरिया का वायसराय लैन्सडाउन को पत्र, १८९३
१०. आई ओ एल आर : अेल/पी एण्ड जे/जे एण्ड पी २५४/१८९४ : डी. एफ. मेक्क्रेकन, कार्यकारी महा अधीक्षक, ठगी ॲण्ड डॅकोइटी विभाग की ९-८-१८९३ की गोहत्या विरोधी आन्दोलन विषयक टिप्पणी।
११. भारत : सत्ता का हस्तान्तरण, खण्ड ३, क्र. २८० (१६-१२-१९४२) (एच एम एस ओ, लन्दन)। इस विषय की राज्य सचिव के मूल मसौदे की फाइल (आइओएलआर) में 'एक पत्ता' और 'दूसरा पत्ता' लिखा गया है। हाशिये में राज्यसचिव के सहायक और सेक्रेटरी ऑव् स्टेट

फॉर इण्डिया की भी टिप्पणी है। लिखा गया है कि यह दूसरा पत्ता अर्थात् अनुसूचित जाति एक दुर्बल पत्ता है क्यों कि गांधीने उसे काट दी है। कुछ महिनों बाद राज्य सचिव को कुछ सूझा लगता है। भारत में ब्रिटिश वायसराय को वह लिखता है, 'अनुसूचित जातियों की मूलभूत दुर्बलता यह है कि वे निश्चित रूप से एक भी नहीं है,' आगे लिखता है, 'यदि उनमें सामूहिक रूप से मुस्लिम या ईसाई बन जाने का साहस होता तो उनके पक्षमें बोलना सरल होता। परन्तु वे जब तक हिन्दू शैली के ही अंग हैं, उनका कोई अलग से सम्प्रदाय या संगठन नहीं है, और अपने आप को वे हिन्दू ही मानते हैं तब तक उनका कल्याण राजकीय ढंग से नहीं अपितु हिन्दू समाज के सामाजिक धरातल पर ही होगा।'

यह २ फरवरी १९४३ (भारत : सत्ता का हस्तान्तरण) को लिखा गया।

१२. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड १९, पृ. १६०-१९८ (अंग्रेजी), दिसम्बर १९२० में नागपुर में स्वीकृत भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के संविधान का लेख। गोपाल कृष्ण के भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस' १९२०-१९२३ विषय पर ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी में लगभग १९६० में लिखे गये शोधग्रन्थ से यह जानकारी ली गई है।

१३. वही, पृ. १९०

१४. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड १७, पृ. ३८४-३८५, १० जनवरी १९३०

१५. भारतीय संविधान सभा की कार्यवाही, दिसम्बर १९४६-जनवरी १९४७, २९ अगस्त १९४७, ४-९ नवम्बर १९४८, २२ नवम्बर १९४८, १७-२६ नवम्बर १९४९। 'अवार्ड' में तथा 'पंचायत राज्य एवं भारतीय राजनीतितंत्र,' धर्मपाल में, भी इस सामग्री का उल्लेख हुआ है।

१६. वही, पृ. २०-२१ अेम. आर. मसाणी (मुम्बई) का भाषण

१७. वही, पृ. २३ जांच समिति की नियुक्ति का प्रस्ताव

१८. वही, पृ. २-२५ कानूनमंत्री बी. आर. आम्बेडकर (मुम्बई) का भाषण

१९. वही, पृ. २५, दामोदर स्वरूप सेठ (संयुक्त प्रान्त) का भाषण

२०. वही, पृ. २९-३०, अरुण चन्द्र गुहा (पश्चिम बंगाल) का भाषण

२१. वही, पृ. ३०-३२, टी. प्रकाशम् (मद्रास) का भाषण

२२. वही, पृ. ३७, दाक्षायणी वेलायुधन (मद्रास); पृ. ७२-७४ कमलापति त्रिपाठी (संयुक्त प्रान्त) का भाषण

२३. वही, पृ. ४०, महावीर त्यागी (संयुक्त प्रान्त) का भाषण

२४. वही, पृ. ४४, धारा ३१ (ए) जोडी गई

२५. वही, पृ. ४६, टी. प्रकाशम् (मद्रास) का भाषण

२६. वही, पृ. ५५-५६, के. हनुमन्तैया (मैसूर) का भाषण

२७. वही, पृ. ६०, रघुवीर (मध्य प्रान्त और वराड) का भाषण

२८. वही, पृ. ७७, महावीर त्यागी (संयुक्त प्रान्त) का भाषण

२९. वही, पृ. ६६, लोकनाथ मिश्र (उडीसा) का भाषण

३०. वही, पृ. ६०-६१, अरुण चन्द्र गुहा (पश्चिम बंगाल) का भाषण

३१. वही, पृ. ७५, बसन्त कुमार दास (पश्चिम बंगाल) का भाषण

३२. 'मद्रास पंचायत पद्धति', धर्मपाल, में अधिक विस्तार से। यह पुस्तक अखिल भारतीय पंचायत परिषद की ओर से १९६४ और १९६५ में किये गये अध्ययन पर आधारित है।

३३. जय प्रकाश नारायण, ए प्ली फॉर रीकन्स्ट्रक्शन ऑव् इण्डियन पोलिटी (निजी वितरण के लिये मसौदा), काशी (अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ), १९५९

३४. धर्मपाल : पंचायत राज और भारतीय राजनीतितंत्र

३५. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ४८, पृ. २६-३८, फैडरल स्ट्रक्चर कमिटी में भाषण, १७ सितम्बर १९३९

३६. अमेरीकी लेखक लूई फिशर के अनुसार १९१७ के बाद के दस वर्षो में भारत का कुछ ऐसा रूपान्तरण हुआ कि १९२८, १९२९, १९३० में लोग मुक्ति का अनुभव करने लगे थे। इसी वर्ष गांधीजीने नमक पर डाले गये कर के विरोध में सत्याग्रह किया था।

३७. यह सम्भव है कि, किसी संकुल राजकीय कारणों के तहत इस प्रकार का हल मैसूर के ब्रिटिश पोलिटिकल रेसीडेन्ट द्वारा प्रस्तुत किया गया। ब्रिटिश संरक्षण (वास्तव में 'आधिपत्य')में लये गये परन्तु, भारतीय राजा, महाराजा या नवाब द्वारा शासित प्रदेशों में ब्रिटिश रेसिडेन्टों की नियुक्ति का प्रारम्भ हुआ था। इसका प्रारम्भ १७७० में अवध में हुआ था। १७९९ से १९४७ तक तथाकथित 'भारतीय राज्य' ब्रिटिशरों के पूर्ण आधिपत्य में थे। मैसूर के महाराजा द्वारा सूचित हल 'रिपोर्ट ऑव् द सेकण्ड कर्नाटक बॅकवर्ड क्लासेस कमिशन' खण्ड १, १९८६, पृ. ११-१६ में है।

३८. भारतः सत्ता का हस्तान्तरण, खण्ड २, क्र. ४२४, सर आर. कैम्पबेल, वॉशिंग्टन डी. सी. की सर ए. केडोगन को रिपोर्ट, ५ अगस्त १९४२.

३९. १८३० के आसपास ब्रिटिश गवर्नर जनरल लोर्ड विलियम बैण्टिक यह जानकर बहुत प्रसन्न हुआ था कि अधिकांश धनवान भारतीय संन्यासियों, ब्राह्मणों और निर्धनों को भोजन कराने के स्थान पर यूरोपीयों के मनोरंजन हेतु धन खर्च कर रहे हैं।

४०. स्वामी विवेकानन्द का सम्पूर्ण वाङ्मय (अंग्रेजी), कोलकाता (अद्वैत आश्रम, १९८९), खण्ड ५, पृ. १२६-१२७, स्वामी विवेकानन्द का सरलादेवी घोषाल को पत्र, ६ अप्रैल १८९७। अपने जीवन के उत्तर समय में स्वामी विवेकानन्दने ये विचार बार बार व्यक्त किये थे।

४१. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ३५, पृ. ४५७, जवाहरलाल नेहरू का महात्मा गांधी को पत्र, १२ जनवरी १९२८

४२. जवाहरलाल नेहरू, सिलेक्टेड वर्क्स, खण्ड १४, पृ. ५५४-५५७, जवाहरलाल नेहरू का महात्मा गांधी को पत्र, ४ अक्टूबर, १९४५

४३. सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ८८, पृ. ८६-७

विभाग ४

गांधीजी की अन्तर्दृष्टि

१६. गांधीजी की अन्तर्दृष्टि

१७. राष्ट्रीय आन्दोलन के वैचारिक आधार

१८. हमारे अज्ञान की जड़ें कहीं गहरी हैं

१६. गांधीजी की अन्तर्दृष्टि

(धर्मपालजी ९ जून, २००० को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के निमंत्रण पर उनके प्रमुख कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करने नागपुर गये थे। धर्मपालजी पहले कुछ पशोपेश में थे लेकिन बाद में उन्होंने नागपुर जाने का निर्णय ले लिया। वे पहले से कुछ लिख कर ले गये थे परन्तु बोलते वक्त लिखा हुआ भाषण नहीं पढ़ा और कुछ अन्य विषयों पर भी बोल गये। कोशिश की गई है कि सिर्फ बोले हुए को ही नहीं, वरन लिखे हुए भाषण में से भी सम्बन्धित अंशो को जोड कर इस लेख को प्रस्तुत किया जाय)

मैने यहां आने से पहले सोचा कि कुछ लिख लेना चाहिये। इसलिए मैं सुदर्शनजी के दो तीन महीने पहले दिये गये उद्‌बोधन को पढ़ने लगा। उसमें उन्होंने गांधीजी और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक श्री हेडगेवारजी के बीच हुई एक वार्ता का उल्लेख किया था। वह वार्ता खिलाफत आन्दोलन के संदर्भ में थी। सन् १९२० के करीब से, खिलाफत के प्रश्न को लेकर, एक मुसलमानी आन्दोलन इस देश में चला। उसमें गांधीजी ने मुसलमानों का साथ दिया और इसके चलते कुछ मुसलमान गांधीजी के साथ आये भी। लेकिन बाद में यह आन्दोलन अपने आप गिर गया क्योंकि जिस बात को लेकर यह आन्दोलन शुरू हुआ था, वह बात ही समाप्त हो गयी। क्योंकि बात तो यहां की नहीं थी, तुर्की की थी।

हेडगेवारजी जैसे बहुत से लोगों, जो उनकी तरह पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुडे हुए थे, के मन में इन बातों को लेकर प्रश्न उठे होंगे। उनको लगा होगा कि इससे देश का नुकसान होने की सम्भावना है। गांधीजी से जो वार्ता हुई, उससे हेडगेवारजी की शंका नहीं मिटी। शायद मिटनी आसान भी नहीं थी। गांधीजी के सामने तो बहुत सारे प्रश्न आते होंगे। गांधीजी के लिए खिलाफत के प्रश्न को भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में प्राथमिकता देना शायद बहुत कारणों से रहा होगा। उनमें से एक कारण भारत में मुसलमानों के माने जाने वाले नेताओं, जिनमें अधिकांश बाहर से आये हुए मुसलमानों के वंशज ही थे और खिलाफत आन्दोलन के समय जो अपने को तुर्क, ईरानी व अफगान मानते थे, को स्वतन्त्रता संग्राम से पूरी तरह जोड़ने का दिखता है। परन्तु हेडगेवार जी और उनके मित्रों का गांधीजी की बात से समाधान नहीं हुआ

और काफी विचार करने के उपरान्त उन्होंने १९२५ में 'राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ' की स्थापना की।

मेरा अपना ख्याल है कि गांधीजी ने जब यह सुना होगा तो वह कुछ झुंझलाये भी होंगे, कुछ गुस्सा भी हुए होंगे, पर ऐसा नहीं कि कुल मिलाकर उन्हें अच्छा नहीं लगा होगा। उन्हें अच्छा भी लगा होगा। क्योंकि उन्हें इसमें कुछ साहस और वीरता दिखाई दी होगी। कोई कुछ तो कर रहा है न ! कुछ भी न करना तो सबसे खराब बात है, यह उनका मानना था। वे तो अहिंसक थे, अहिंसा की बात करते थे लेकिन कुछ करो ही नहीं तो हिंसा ही कर लो। लेकिन छुट पुट हिंसा मत करो, करनी हो तो बड़ी हिंसा करो। अहिंसक ढंग से जीत सकते हो तो जीतो लेकिन यह नहीं कि अहिंसक ढंग से नहीं जीत सकते तो हाथ पर हाथ धर कर बैठ गये। यह उनका मत नहीं था। इसलिये जो लोग उनके खिलाफ या विपरीत रास्तों पर भी चलते होंगे लेकिन कुछ-न-कुछ करते होंगे, मेरा मानना है महात्मा गांधी को वे लोग अच्छे ही लगते होंगे।

गांधीजी ने जो किया, बड़ा काम किया। इस देश को समझा। मेरा तो अपना ख्याल यह है कि उनके जैसा आदमी हजार दो हजार वर्ष में, हमारे देश में, राजनीति और समाज के क्षेत्र में नहीं हुआ है। अध्यात्म के क्षेत्र की बात मैं नहीं कर रहा। अध्यात्म के क्षेत्र में तो हमारे यहां बहुत लोग हुए होंगे और उनमें से कुछ गांधीजी से ऊंचे भी रहे होंगे। और वैसे भी गांधीजी ने कभी यह दावा भी नहीं किया कि अध्यात्म के क्षेत्र में उनका कोई बड़ा अधिकार है। हालांकि वह मोक्ष आदि की बात अवश्य करते हैं; लेकिन इस देश और समाज की समझ और विदेशी लोगों की समझ, उनकी व्यवस्थाओं, उनकी कूटनीति की समझ गांधीजी से ज्यादा, मुझे नहीं लगता, किसी और में रही है। मुझे नहीं लगता जवाहरलाल नहेरू इन चीजों को ज्यादा समझते थे। नहेरू तो पश्चिम वालों की कूटनीति को भी नहीं समझते थे। वे तो अपने को पश्चिम वालों का सम्बन्धी मानते थे। उनकी पहले की और बाद की तमाम बातों से ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है। खैर, जवाहरलाल नहेरू जी जैसे दो चार लाख लोग तो हमारे यहां रहे ही होंगे। वे अकेले नहीं थे।

गांधीजी ने समाज और राजनीति के क्षेत्र में क्या क्या किया, यह तो आप लोगों के समझने की बात है। मैं तो सुदर्शन जी से दरख्वास्त करुंगा की गांधीजी को समझा जाए और उनका विश्लेषण किया जाए। इस समाज और देश को उनकी क्या देन है ? इसका समय आ गया है। उनको गए ४२-४३ वर्ष हो गए हैं। यह तो बहुत अधिक समय हो गया है। यूरोप और अमरीका में तो १० वर्ष बाद ही पोस्टमोर्टम होने लगता है। तो हमें भी कुछ करना चाहिए। उसमें से कुछ निकलेगा। और बड़ी चीज निकलेगी।

गांधीजी ने १९२० तक कोंग्रेस को, एक नया विचार व संविधान देकर, उसे

अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के ३५ वर्ष पुराने जमघट से निकाल कर, देश के साधारण लोगों के आन्दोलन का रूप दे दिया। लेकिन जैसा कि हमेशा होता है, मनुष्य जो कुछ भी बनाता है वह अधूरा ही होता है। उस बने से तत्काल कुछ काम तो हो जाते हैं, लेकिन काफी काम अधूरे रह जाते हैं। यही गांधीजी के द्वारा बनाये रास्तों, व्यवस्थाओं, संस्थाओं इत्यादि के साथ भी हुआ, ऐसा कहा जा सकता है। उनकी बनायी कोंग्रेस ने २०-२५ वर्ष देश के लिये बहुत कुछ किया। देश के जनसाधारण में उत्साह उत्पन्न हुआ, साहस जाग्रत हुआ और काफी निडरता आयी।

उनके विचारों के असर में अनगिनत नारियां, शायद कई शताब्दियों के बाद, फिर से सामाजिक जीवन में वापस आयीं। वैसे गांधीजी ने बड़ा काम तो दक्षिण अफ्रीका में ही कर दिया था। वहां पचास हजार के करीब हिन्दुस्तानी थे, उनको प्रोत्साहित किया। साथ ही उन्होंने स्त्रियों को प्रोत्साहित किया, उनके घरों में गये, दो चार स्त्रियों से बातें भी की। मजदूर स्त्रियों के घर जा कर बातें कीं। यह काम उन्होंने भारत आकर भी किया और यहां उनमें से बहुत सी स्त्रियां आगे भी निकलीं। सभी उनके बताये रास्ते पर चलीं, यह सवाल नहीं है। सवाल यह है कि वे आगे बढ़ गयीं। आगे बढ़ कर वे क्या करती हैं, ये उनके ऊपर निर्भर करता है क्योंकि किसी का काम तो तय नहीं किया जा सकता। और अगर आज आप उसको तय कर भी दें तो आने वाली पीढ़ी उसको करेगी या नहीं, यह निश्चित नहीं किया जा सकता।

अस्पृश्यों एवं अंत्यजों के लिये स्वामी दयानन्द कुछ बातें किया करते थे, दूसरे लोग भी किया करते थे लेकिन भारत में छुआछूत की जो पद्धति चल रही थी, वह मुख्यत: गांधीजी के प्रयासों से ही हल्की पडी। गांधीजी ने अस्पृश्यों के लिए जो लग कर काम किये, वे इसलिये सम्भव हुए कि वे इस स्थिति में पहुँच गए थे कि कुछ काम कर सकते थे। अस्पृश्यता हटाने में अनेकों का हाथ रहा लेकिन गांधीजी ने इसे लेकर जो काम किया, उससे अस्पृश्य समाज के रास्ते खुल गये और अपना रास्ता तय करना उनके लिये आसान हो गया। १९२५-३५ के जमाने में तो वे ही हिन्दुस्तान के राजा थे। अंग्रेज तो नाम के राजा थे, असली राजा तो महात्मा गांधी ही थे। उन्होंने अस्पृश्यों के पक्ष में अनेक फैसले करवाये, जो हो सकता है उनको अधिक पसंद न आये हों, और वे बाद में गांधीजी से नाराज भी हुए हों, लेकिन उनके लिये जो रास्ते खुलवाने थे वे महात्मा गांधी ने खुलवा ही दिये। उन रास्तों के खुलने के बाद फिर डॉ. आम्बेडकर जैसे लोग भी बड़ा काम कर सके और अन्य लोग भी कर सके। आजकल श्री कांशीराम कर रहे हैं। और भी कर रहे होंगे। मुझे नहीं मालूम। आज बहुत से अस्पृश्य कहे जाने वाले वर्ग हैं, उनके इटंलेक्चुअल सेंटर होंगे, उनका पश्चिमीकरण भी हो रहा होगा, ईसाइकरण भी हो

रहा होगा। आप लोग भी उनके साथ मिलकर कुछ काम तो करते होंगे। दलित शब्द ही हमें १९२० के करीब अंग्रेजों से मिला है। अंग्रेजों ने जिन जिन समूहों एवं जातियों को दलित कहा, उनमें से अधिक तो कभी भी भारतीय समाज के लिए अंत्यज व अस्पृश्य नहीं थी।

इस बार मैंने कुछ दस्तावेज देखे हैं, खासतौर पर दक्षिण के दस्तावेज। मेरी अपनी समझ में भारत में व्यापक अस्पृश्यता पिछले २००-३०० वर्षों से ही रही है। मनुस्मृति इत्यादि में अवश्य कहा गया है कि जो अपने वर्ण से गिर जाता है, वह अन्त में अस्पृश्य बनता है। महाभारत में अश्वत्थामा भी, पांडवों के बच्चों की हत्या के बाद, शायद ऐसे ही अस्पृश्य माना गया। वैसे पुराणों में दिये गये भृगु-भारद्वाज संवाद इत्यादि से लगता है कि वर्णों के आपसी सम्बन्धो के बारे में भारत में भिन्न भिन्न विचार हमेशा ही रहे हैं।

दक्षिण में १७०० से लेकर १९४० ई. के समय में अस्पृश्य करके कोई खास समूह नहीं है। परन्तु ये लोग अंग्रेजों द्वारा मारे जा रहे हैं, घटाये जा रहे हैं। जिन्हें आज दलित कहा जाता है वे तो उस समय के सेनानी लोग हैं। गांव की अपनी पुलिस है ओर ये लोग पुलिस का काम करते हैं। स्थानीय सेना में ये लोग हैं। पुलिस का काम पेरियार करते हैं। वे चर्मकार हैं। ये अपने को बहादुर सिपाही कहते हैं। ये ग्रामों और नगरों में लोगों की जमीन के झगड़ों को निपटाने का काम भी करते हैं, जमीन नापने, अनाज मापने इत्यादि का काम ये लोग करते हैं। १७७० ई. का एक दस्तावेज है जिसको वारेन हेस्टिंग्स ने मद्रास से कलकत्ता वापिस जाने से पहले तैयार करवाया था, उसमें ये आज दलित कहे जाने वाले लोग कह रहै हैं कि 'वी ऑर ग्रेट सोल्जर्स, वी आल्सो मेक सेडल्स'। तो उनकी तो अपनी एक आत्मछवि, एक 'सेल्फ इमेज' है। यह 'सेल्फ इमेज़' बड़ी चीज है। अब होता यह होगा कि ब्राह्मण उनके बारे में कुछ और कहता होगा, लेकिन ब्राह्मण उनके बारे में क्या कहता है उससे तो काम नहीं चलता न! महत्त्वपूर्ण यह है कि वे अपने को क्या मानते हैं। ये जो आज गिरी हुई जातियाँ कही जाती हैं, उनकी उस समय 'सेल्फ इमेज़' तो बहुत ऊंची दिखती है।

आंध्र प्रदेश में एक जिला है आदिलाबाद । वहां 'कला आश्रम' नाम का एक आश्रम है जिसे रवीन्द्र शर्मा नाम के व्यक्ति चलाते हैं। उन्होंने 'फाइन आर्ट्स' से बी.ए. वगैरह किया है। वे वहीं के रहने वाले हैं और आदिलाबाद क्षेत्र की ४०-४२ जातियों की बात करते हैं। ५-६ वर्ष पहले वे मेरे पास आए थे। बातचीत में उन्होंने बताया कि ये जो जातियां है इनकी सबकी अपनी अपनी कथायें हैं। इनका अपना संगीत है, संगीत के अपने इन्स्ट्रयूमेन्ट्स हैं । इन जातियों से सम्बन्धित हजारों हजार तस्वीरें हैं, कपड़ों पर

बनी हुईं, जिनमें इनकी पूरी कथा कही गई है। लेकिन उन्होंने कहा कि ये भिक्षावृत्ति के लोग हैं। इस पर मैंने पूछा कि भिक्षावृत्ति के किस प्रकार से हैं ? तो उन्होंने कहा कि कहीं न कहीं से तो कुछ लेंगे न ? इसलिये अपने लोगों से लेते हैं। तो जैसे अपने यहां पुराने समय में भाट वगैरह हुआ करते थे, ये कुछ उसी तरह के लोग हैं। उसके बाद रवीन्द्र शर्मा एक जाति से सम्बन्धित कुछ चित्र आदि लाए और मुझे दिखाया। इन तस्वीरों में तो मुझे ये लोग राजाओं जैसे दिखे। ऐसा नहीं था कि कोई भिखमंगा या गिरा हुआ दिखता हो। उन्होंने इस जाति की कहानी बतायी कि ये लोग यह मानते हैं कि ये महाभारत में उल्लेखित राजा नहुष की सन्तान हैं। उनसे कभी कोई गलती हो गयी तो वे थोड़ा गिर गये। फिर जब जंगल में पांडव आये तो पांडवों ने इन लोगों से कहा कि किसी को बतलाना नहीं की हम यहां आये हैं। उस समय द्रौपदी उनके साथ नहीं थी। बाद में जब द्रौपदी आयीं तो इन लोगों ने द्रौपदी को पांडवों का पता नहीं बताया। परन्तु द्रौपदी ने पांडवो को देख लिया और इन्हें श्राप दे दिया। तो ये लोग थोड़ा दु:खी हो गये। कुल मिलाकर वे सुखी और समृद्ध ही चित्रित हैं।

इस तरह अस्पृश्य कही जाने वाली जातियों की भी अपने बारे में मान्यताएं कुछ उपरोक्त प्रकार की हैं। ये मान्यताएं सही हैं या नहीं, इतिहास में बैठती हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। इन सब पर तो काम होना चाहिए। हमारे इतिहासकारों को सोचना चाहिए। अब ग्रीक मिथकों में जो कुछ मिलता है, उससे तो यह सब खराब नहीं है, सुन्दर ही है।

आज हमारे विद्यालयों में ग्रीक मिथकों को तो माना जा सकता है, उसे पढ़ाया जा सकता है, उस पर बड़ी बड़ी डिग्रियां मिलती हैं, बड़े बड़े स्कॉलर बनते हैं। तो इन पर क्यों नहीं बनते ? क्यों नहीं डिग्रियां मिलतीं? मिलनी चाहिए थीं। कुछ काम होना चाहिये। और इस तरह की बातें हिन्दुस्तान के हर जिले में मिल जायेंगी, ऐसा मुझे लगता है। इन सब पर काम होना चाहिए।

आज हिन्दुस्तान में हमारी अपने बारे में जो तस्वीर हैं, वह बहुत हद तक अंग्रेजों द्वारा बनायी गई है। ऐसा नहीं है कि यह कोई साजिश वगैरह के तहत किया गया हो। उन्हें राज करना था तो कुछ तो इस तरह करना ही पड़ा होगा, परंतु एक और भी कारण रहा है। उनका अपना संसार जिस प्रकार चलता था, उसी से उनकी दृष्टि बनी थी और वे हमको भी उसी दृष्टि से देखते थे। इसलिये हमारे लिये जरूरी है कि हम यूरोप को समझें। इससे हमें समझ में आ सकता है कि आज हमारी अपने समाज के बारे में जो तस्वीर बनी है, वह ऐसी क्यों बनी है।

अंग्रेजों ने जब भारत पर १७४० से अपना प्रभुत्व जमाना आरम्भ किया, तब से

भारत में अस्पृश्यता की भावना बढ़ी, और अधिक से अधिक लोगों को अस्पृश्य माना जाने लगा। तभी से अंग्रेजों ने भारत की स्मृतियों में से अपनी मान्यता और काम के उद्धरण लेने आरम्भ किये और हमें बतलाने लगे कि यही आपके शास्त्रों ने कहा है। शुरू के दिनों में यहां जब उनके पांव जमने लगे, उन्होंने बाकी शास्त्रों का अंग्रेजी में अनुवाद कराना बन्द करके मनुस्मृति का अनुवाद जारी रखा। हमारा उनसे २००-२५० वर्षों का सम्पर्क होते हुये भी, हमारे अधिक पश्चिमीकृत लोगों को भी, यूरोप व इंग्लैंड की पुरानी सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक व्यवस्था के बारे में अधिक जानकारी नहीं है। १९०० ई. तक तो इंग्लैंड में ऊँचनीच की धारणा व्यापक थी। इंग्लैंड के ९० प्रतिशत लोग 'लोअर ऑर्डर' (निम्न वर्ग) में माने जाते थे, जैसे कि हमारे यहां अधिकांश लोग पिछले २०० वर्षों में पिछड़ी व अस्पृश्य जातियों के माने जाने लगे।

भारतवासियों की तो यह मान्यता रही है कि हमेशा से, यानी कि बहुत प्राचीन काल से - श्री रामचंद्रजी के काल के पहले से - वे भारत के वासी रहे हैं। शताब्दियों से इंग्लैंड व यूरोप में ऐसी कोई मान्यता नहीं है। आज से एक हजार वर्ष पहले तक तो यूरोप के अधिकांश क्षेत्रों में यूरोप के बाहर से और यूरोप के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र पर आक्रमण होते रहे। वहां पहले से बसे लोगों को अधिकांशत: समाप्त कर दिया जाता था, या जो बचे रह जाते थे उनको दास बना लिया जाता था। इंग्लैंड में बाहर का अंतिम आक्रमण उत्तर यूरोप के नॉरमन लोगों का हुआ। उन्होंने १०६६ ई. के करीब इंग्लैंड पर विजय प्राप्त की और २५-३० वर्षों में ही वहां की पूरी राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था बदल डाली। इसका परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड में पहले से बसे लोग दासत्व की स्थिति में पहुंच गये। उनसे जमीन इत्यादि सभी कुछ छीन लिया गया और ४०,००० के करीब जो नॉरमन वहां आकर बसे उन्होंने वहां के ९५ प्रतिशत साधनों-जमीन, वन, खानों इत्यादि को अपना मान लिया और केवल ४ प्रतिशत साधनों को वहां के पुराने १० लाख वासियों के पास छोड़ा। इस बदलाव को ही स्थायी करने के लिये जो व्यवस्थायें बनायी गयीं, उन्हीं को अंग्रेज 'रुल ऑफ लॉ' का आरंभ कहते हैं। कमोबेश कुछ ऐसा ही कार्य अंग्रेजों ने जहां-जहां आक्रामणकारी और विजयी रहे वहां किया - चाहे वह उत्तरी अमेरीका के हो, आफ्रीका के देश हो, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंण्ड हो, या भारत और भारत के आसपास के देश हो। जो व्यवस्था, व राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक तंत्र भारत में पिछले २०० वर्षों में बना है, वह इसी अंग्रेजी 'रुल ऑफ लॉ' की देन है। जो नॉरमन लोगों ने इंग्लैंड में किया, वही अंग्रेजों ने दूसरे देशों में किया, जहां वे विजयी रहे।

दलित कहे जाने वालों की बात जब मैं सोच रहा था तो मुझे लगा कि अंग्रेज भारत में कुछ ऐसा नहीं कर रहे थे जो वे अपने देश में नहीं करते थे। १९०० तक इंग्लैंड

में यह भावना व्याप्त है कि लोअर आर्डर को तो गरीब ही रहना चाहिए। सबके पास पूरा हो जायेगा तो दान किसे देंगे और ईसाई होने का तो मतलब है कि दान दें। वहां इस तरह की मान्यतायें हैं। इंग्लैंड के आँकड़े हमें देखने चाहिए-महत्वपूर्ण हैं।

इंग्लैंड में मतदान से सम्बन्धित सन् १८३२ के आंकड़ों के अनुसार कुल एडल्ट पापुलेशन (शायद २२ वर्ष की आयु के ऊपर के) में ७ प्रतिशत पुरुषों को ही मत देने का अधिकार है। यह मानना कि पहले से ही सभी को मतदान का अधिकार चला आ रहा होगा, गलत है। अंग्रेज कभी ऐसा कहते भी नहीं हैं पर क्योंकि अंग्रेज अपने बारे में पुरानी बातें नहीं बतलाते, इसलिये हमें वहम हो जाता है। इसके अलावा इंग्लैंड में स्त्रियों को वोटिंग का अधिकार तो १९१८ में ही मिला, उससे पहले तो इंग्लैंड में स्त्रियों को वोटिंग का अधिकार है ही नहीं। सभी पुरुषों को भी वोटिंग का अधिकार नहीं है। १८८० ई. तक भी कुछ एडल्ट पापुलेशन में मात्र २०-२५ प्रतिशत पुरुषों को वोटिंग का अधिकार रहा होगा। तो इस तरह का उनका समाज रहा है।

इसलिए इंग्लैंड की आज की शासन व्यवस्थाएं, कानून, साधारण लोगों का जमीन व दूसरे साधनों पर अधिकार न होना, इत्यादि १०६६ ईस्वी के बाद से वहां नॉरमन आक्रमणकारियों के विजयी होने पर बनीं। इन ९००-१००० बरसों में कुछ-कुछ साधारण बदलाव अवश्य आए, लेकिन मुख्यत: जो १०६६ ईस्वी के बाद स्थापित हुआ, जो मान्यताएं बनीं, वे आज भी इंग्लैंड के तंत्र का व लोगों के आपसी रिश्तों का आधार है। १८०० के समय में तो इन्हीं के आधार पर इंग्लैंड व ब्रिटेन का राज्य व समाज चलता था। ४ प्रतिशत लोग नागरिक थे, ९६ प्रतिशत नहीं। अंग्रेज यहां, भारत में शुरु के दिनों में जो समाज बना रहे थे वह इंग्लैंड से नीचे का ही समाज बना रहे थे। १७८०-१७९० ई. के दौरान यह सवाल उठता है कि हिन्दुस्तान के किसानों के हक क्या हैं ? तो इसके लिये उन्होंने पुराने हिन्दुस्तान का अनुसंधान किया, तो खोज में उन्हें १४ वीं सदी से सम्बन्धित अलाउद्दीन खिलजी का कोई दस्तावेज मिला। उसमें खिलजी ने अपने सलाहकारों से पूछा कि यह जो गैरमुस्लिम प्रजा है, उनके हक क्या हैं? तो उसमें बतलाया गया कि उनका सम्पत्ति में तो कोई हक नहीं है। फिर पूछा गया कि उनका प्रोडक्शन (उत्पादन) में कितना हक है तो कहा गया है कि यदि बादशाह आधा उत्पादन ले लेता है तो कोई गलत नहीं करता।

और किस्सा यह भी है कि १७५० ई. और १८०० ई. के करीब यूरोप के अलग अलग देशों में किसानों से ४०-८० प्रतिशत तक उत्पादन ले लिया जाता था। इंग्लैंड में १७९२ ई. के आंकड़ों के अनुसार खेती में काम करने वाले को तो कुल उत्पादन का मात्र २० प्रतिशत ही मिलता था। तो उन लोगों ने मनुष्य को क्या माना है इसका अंदाजा

इससे लगता है। उसी समय अंग्रेजों द्वारा बंगाल में जमींदार बनाये गये। लोगों ने और कुछ अंग्रेज अफसरों ने कहा कि जब हम यहां आये थे उस समय तो यहां किसानों को उनकी जमीनों से निकाला नहीं जा सकता था। इस पर अंग्रेजों ने कहा कि यह सही है लेकिन फिर भी हमें तो निकालना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो जमींदारों को हमें जो कर इकट्ठा करके देना है, वह कैसे देंगे ? फिर यह भी तर्क दिया कि इंग्लैंड का जमींदार अपनी सरकार को कुल उपज के १० प्रतिशत से ज्यादा कर नहीं देता, फिर भी उसे खेतिहर को निकाल देने का अधिकार है और यहां भारत में जमींदार को कुल उपज का ५० प्रतिशत से भी ज्यादा अंग्रेजों को देना पड़ता है, तो यदि जमींदार किसानों से कर वसूली नहीं कर पायेंगे तो देंगे कहां से ? इस पर ब्रिटिश हाऊस ऑफ कॉमन्स की कमेटी ने यह फैसला किया कि भारत के किसानों का हक इंग्लैंड के किसानों के हक से बड़ा नहीं हो सकता।

इसके पहले के जमाने में जाएं तो पता चलता है कि औरंगजेब के हिसाब से जहांगीर को साम्राज्य के कुल कर का ५ प्रतिशत के करीब - ६० लाख रूपये वार्षिक - ही मिलता था। शाहजहां के समय में कुछ बरसों के लिये यह शायद ५ प्रतिशत से बढ़कर १० प्रतिशत तक पहुंच गया। औरंगजेब ने उसे और बढ़ाया लेकिन इतनी सब कशमकश के बाद-जिसके कारण उसके सूबेदार, राज्यकर्ता और प्रजा बहुत असंतुष्ट एवं उसके विरुद्ध हुये-उसको जो कर का भाग पहुंच पाया, वह कभी भी कुल कर के २० प्रतिशत से अधिक नहीं रहा। शेष हिस्से (८० से ९५ प्रतिशत) का क्या होता था, इस सन्दर्भ में हम बहुत अधिक नहीं जानते। एक आधुनिक राजनैतिक मान्यता के अनुसार यह सब सामंतो और सामंती व्यवस्था में चला जाता था। मेरी जानकारी में इतिहासकारों ने इस पर कोई विशेष काम नहीं किया है।

१७७०-१७८० के बंगाल में अंग्रेजों द्वारा कर के विषय पर किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार अधिकांश जिलों में खेती की आधे के करीब उपजाऊ जमीन से सरकार को कोई भी कर नहीं दिया जाता था, बल्कि ऐसी जमीनों का कर बहुत प्राचीन समय से ही, वहां के स्थानीय आधारभूत ढाँचे के रखरखाव पर खर्च होता था। बंगाल के एक जिले में (शायद बर्दवान में) १७८० में ऐसे व्यक्तियों व प्रतिष्ठानों की संख्या जो ऐसे कर पर अपना पुराना अधिकार मानते थे, पचास हजार से ऊपर थी। यही स्थिति दक्षिण भारत में भी पायी जाती है। ऐसा लगता है कि जहां जहां से कर प्राप्त होता था, वहां वहां कर का एक बड़ा भाग स्थानीय कार्यों के लिये रख लिया जाता था। इनमें सिंचाई, हिसाबकिताब, सुरक्षा, मंदिर, मठ, धर्मशालाएं, क्षेत्रम, शिक्षा, चिकित्सा के अतिरिक्त लोहार, बढ़ई, धोबी, नाई, ज्योतिष, पुलिस और १०-२० अन्य लोगों को मिलने वाले

खर्चे होते थे। यह कुल मिलाकर खेती की उपज का २५ से ३० प्रतिशत होता था। कर का शेष भाग ऊपर के स्तरों पर जाता था और अन्त में बचा भाग स्थानीय राजा महाराजा को व दिल्ली के बादशाह को। बंगाल के मन्दिरों,मठों,ब्राह्मणों इत्यादि जिनकी ऐसे उत्पादनों व करों में भागीदारी थी, उनकी १७७०-१७८० में संख्या बंगाल की मस्जिदों, मजारों इत्यादि से ९-१० गुना ज्यादा थी। इससे लगता है कि मन्दिर, मठ, इत्यादि ऐसे भागीदार इस्लाम के समय से पहले से ही चले आ रहे थे। इस्लामिक राज्य उसे विशेष बदल नहीं पाया, केवल उसने मजारों, मस्जिदों के लिये भी कुछ छोड़ दिया।

व्यवस्थायें राजनीति से जुड़ी होती हैं। राज्य और समाज जब मिलकर चलता है तभी चल पाता है। व्यवस्थायें यहां अंग्रेजों से पहले भी टूटी हैं। मुझे ऐसा लगता है कि १७०० ई. के करीब शिवाजी के कारण तथा अन्य तमाम कारणों से जब औरंगजेब का शासन गिर पड़ा, तो महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, बंगाल के कुछ हिस्सों में, उत्तर प्रदेश, (दक्षिण में तो सवाल पैदा नहीं होता क्योंकि दक्षिण में तो मुसलमानों का भी कुछ बड़ा प्रभाव हुआ ही नहीं) आदि स्थानों पर लोग खड़े होने लगे। नये राज्य खड़े होने लगे, कुछ नया बनने लगा, लेकिन हिन्दुस्तानी चाल से, धीमे धीमे। इसके करीब ४० वर्षों के बाद से बाहर का हमला शुरू हो गया। १७४४ के करीब अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच दक्षिण में लड़ाई शुरू हो जाती है। इस लड़ाई में अंग्रेज अर्काट के नवाब को भी उलझा लेते हैं। और फिर बूढ़ा नवाब मारा जाता है तो दो दावेदार आगे आते हैं। एक पुराने नवाब का दामाद है जबकि दूसरा उसका पोता है। पहले वाला जिसका नाम चंदा साहब है, उसकी उम्र ४२ वर्ष है और दूसरा जिसका नाम मौहम्मद अली है वह १६ वर्ष का है। अंग्रेज १६ वर्ष के मौहम्मद अली के पक्ष में आ जाते हैं, फ्रांसीसी चंदा साहब के। परंतु फ्रांसीसी हार जाते हैं। १७४८ से अंग्रेज इस नवाब को अपने साथ लेकर दक्षिण की विजय यात्रा पर निकलते हैं। नाम नवाब का है पर सेना अपनी है, काम अपना है। उसके लिये जो खर्चा चाहिये, उसको अंग्रेज जहांजहां विजय करते हैं वहां की लूट से व करों से पूरा कर लेते हैं। नवाब को भी कर्ज देते रहते हैं जो वह अंग्रेजों की सैनिकी मदद में व उनकी खातिरदारी में खर्च करता है। नॉमिनल काम काज चलता रहता है। यहि पैटर्न आखिर तक, मतलब १९वीं सदी के अन्त तक, हिन्दुस्तान में चलता है। बात यह है कि अंग्रेजों का १६ वर्ष से ऊपर के नवाबों और राजाओं से बैठता नहीं था। मुश्किल आती थी, फिर उसे हटा देते थे और किसी बच्चे को नवाब बना देते थे, उसकी माँ को उसका गार्जियन बना देते थे। अंग्रेजों का इस सम्बन्ध में एक दस्तावेज है। १७७२ में हारलैण्ड नामक ब्रिटिश सरकार का एक बड़ा अफसर आया है जिसके सामने नवाब रोना रो रहा है। हारलैण्ड लन्दन रिपोर्ट करता है। क्या क्या कहता है ? जो भी ज्यादतियां हो सकती हैं,

वे सब इसमें आ गयी हैं। जैसे फोर्स्ड लेबर (बेगार), ५० प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर कर्ज देना, मारना-पीटना, लोग खेती कर रहे हैं उनकी खेती छुड़वा कर उनके बैल ले जाना, क्योंकि उनको (अंग्रेजों का) सामान ढोना है। ये सारा कुछ बड़े पैमाने पर चल रहा है। शायद १७०० से ही यूरोप का यह प्रयास भारत में रहा कि भारत में वीरता व शौर्य न रहे। इसी को लेकर महाराष्ट्र के नौसेनापति आंगरे को १७५४ के करीब समाप्त किया गया। इसमें अंग्रेज सेना, अफसर सभी शामिल हैं। गवर्नर भी शामिल है क्योंकि वे सब यहां यही करने के लिये आये हैं।

कहने का मतलब यह है कि १८०० के करीब से बहुत सारे फैसले अलग अलग विषयों पर होते चले गये। जैसे इंग्लैंड में, कोड़े मारने का रिवाज रहा तो यहां भी कोड़े मारने का रिवाज लागू किया गया। अंग्रेज अफसर अपने नौकरों को पीटते थे। हिन्दुस्तान में, यहां तक कि मुसलमानी राज्य में भी, नौकरों आदि को इस तरह पीटने का रिवाज नहीं था। साधारणत: बहुत से भारतीय तो कोड़ा देखते ही मर गये। भारतीय विद्या के विद्वान माने जाने वाले तथा कलकत्ता स्थित सुप्रीम कोर्ट के जज रहे विलियम जोंस तो यह कहते हैं कि यदि कोई अंग्रेज किसी नौकर को कोड़े मारता है परन्तु उसकी नौकर को जान से मार डालने की कोई मंशा नहीं है, फिर भी वह इस कोड़े की मार से मर जाता है तो उसमें मारनेवालों का कोई कसूर नहीं माना जा सकता है। यह जो कोड़े मारने का कानून है, इसके अनुसार इंग्लैंड में तो १८४० तक फौज में २००० कोड़े मारने तक की सजा दी जाती रही। ये सब १८६० तक तो बराबर चलता ही रहा और ५००-७०० कोड़े की सजा ब्रिटेन की फौज में सामान्यत: दी ही जाती थी। वहां का दूसरा उदाहरण है कि १७ वीं सदी में जब यह पता चला कि एक रेजीमेंट में कुछ हुक्मउदूली हो गई, पर यह पता नहीं चल सका कि किसने हुक्मउदूली की, तो पूरी रेजीमेंट को लाइन किया गया और फिर प्रत्येक १० वें आदमी को बाहर निकाला गया और उसको गोली मार दी गई। दोबारा रेजीमेंट को लाइन किया गया, फिर प्रत्येक १० वें आदमी को बाहर निकाला गया और उसको भी गोली मार दी गई। ऐसा काफी देर तक होता रहा। यह समझने की बात है कि उनके यहां क्या किया जाता था। उनके यहां तो लोगों को तोप के मुँह पर बाँधकर पीछे से गोला चला कर उड़ा दिया जाता था। यह सब १७६० तक तो इंग्लैंड में बराबर चलता था। इंग्लैंड में, यूरोप में ये जो सब चलता था, वह इसलिये कि प्रजा को आतंकित करना है। इंग्लैंड की या यूरोप की जो प्रजा है वह अधिकांशत: आतंकित (टेरेराइज्ड) प्रजा है। इंग्लैंड की प्रजा कुछ ज्यादा ही आतंकित रही है।

१७७०-८० के दौरान एडिनबरो में एक मोडर्न फिलॉसफी के प्रोफेसर हैं, प्रो. एडम्स फर्गूसन, इन्हें ब्रिटिश सोसियोलॉजी का फाउण्डर भी कहा जाता है, उनके कई

शिष्य भारत में भी हैं। उनके सामने यह सवाल उठता है कि भारत का शासन कौन चलाये ? इस पर फर्गूसन कहते है कि भारत के शासन को चलाने व भारत के यूरोप में धन ले जाने का काम तो प्राईवेट लोग ही कर सकते हैं। सरकारी तंत्र के द्वारा तो यह मुश्किल होगा, क्योंकि यदि सरकारी अफसर अधिक ज्यादतियां करेंगे, गलत रास्तों पर चलेंगे तो सरकार को उन्हें रोकना पड़ेगा। अगर सरकारी तंत्र नहीं होगा, ईस्ट इंडिया कंपनी की तरह का तंत्र होगा, तो इन ज्यादतियों की अनदेखी की जा सकती है। फिर उन्होंने कहा कि ऐसा करो कि यह लूटकर धन लाने का काम तो कंपनी के नौकरों के द्वारा ही चले, प्राईवेट स्तर से हो, लेकिन कंपनी को हुक्म देने व सुपरविजन का काम सरकार द्वारा बनायी व्यवस्था करे। आरम्भ के दिनों में तो ब्रिटेन की सरकार कंपनी से बिना ब्याज पर कर्ज लेती थी। ये जो पुस्तकों में लिखा है कि हिन्दुस्तान का शासन कंपनी चलाती थी, यह पूरी तरह से असत्य है। कंपनी तो सरकार द्वारा बनवाई गई। उसको सरकार द्वारा प्रोटेक्शन दिया जाता था। नौ सेना या सेना द्वारा मदद दी जाती थी।

इसी आधार पर १७८४ में एक एक्ट बना जिसके तहत 'बोर्ड ऑफ कमिशनर्स फॉर अफयेर्स ऑफ इंडिया' बना। इसमें छह मिनिस्टर स्तर के व्यक्ति होते थे। आरम्भ में ब्रिटिश प्राईम मिनिस्टर भी उसका सदस्य होता था। इस बोर्ड का काम यह था कि इंग्लैंड से जो निर्देश हिन्दुस्तान जाते हैं, उसका ड्राफ्ट तो कंपनी बनाये फिर कंपनी उसे बोर्ड को भेजे। फिर बोर्ड उसका एक एक शब्द देखे। किन्तु असल में होता यह था कि बोर्ड और कंपनी प्रतिनिधि साथ बैठकर ड्राफ्ट बना लेते थे फिर उसको फार्मली बोर्ड के पास भेजा जाता था। बोर्ड ८०-९० प्रतिशत ड्राफ्टों को तो जैसे-का-तैसा ही जाने देता था, कोई कठिनाई नहीं होती थी। हां, कभी-कभी १० प्रतिशत पर कठिनाई होती थी। तब ड्राफ्ट बदल दिया जाता था। कभी-कभी कंपनी यह कहती थी कि हम इसमें राजी नहीं है तो उनके रजिस्टर में लिख दिया जाता था कि वह राजी नहीं है। हिन्दुस्तान में जो निर्देश गए उसमें तो लिखने का सवाल ही नहीं था। लेकिन जो महत्त्वपूर्ण पत्र व्यवहार है वह बोर्ड के प्रेसीडेंट और हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल के बीच होता था। उसको प्राइवेट पत्रव्यवहार कहा जाता था। वही मुख्य था। पहले गवर्नर जनरल वहां से ब्रीफ होकर आता होगा, फिर यह पत्र व्यवहार चलता होगा। हमारे यहां रखे लेखागारों में बाकी सब कागज हैं परन्तु यह पत्रव्यवहार हमारे यहां नहीं हैं। इसके अलावा ब्रिटिश कैबिनेट के पॉलिसी डिसीजन के कागजात वगैरह भी हमारे यहाँ नहीं हैं। अंग्रेजों के लिखे हुए ९५ प्रतिशत कागजात तो हमारे यहां हैं लेकिन उससे काम नहीं चलेगा। हमें तो ये सभी कागजात मंगवाने पडेंगे जो हमसे सम्बन्धित हैं, चाहे जहाँ से मंगवाने पड़ें।

१८५० के करीब, मद्रास प्रेसीडेंसी से - और उस समय प्रेसीडेंसी बहुत बड़ा इलाका है उसमें पूरा तमिलनाडु, आज का आधा आंध्रप्रदेश या पूरा कोस्टल आंध्रप्रदेश शामिल था, कर्नाटक के कुछ जिले थे, मालाबार आदि सब उसमें शामिले थे-लन्दन वह शिकायत गई कि वहां ४०-५० वर्ष में एक तिहाई सिंचाई वाली जमीन खेती से निकल गई है। क्यों निकल गई ? क्योंकि सरकार उस पर जो कर लेती है, वह कर उपज से ज्यादा होता था। इसलिये लोग पानी वाली जमीन छोड़कर ऊसर जमीन पर खेती करने लगे। इसके कारण सरकार को दिये जाने वाले कर पर भी असर पड़ा। इन बातों के कारण किसानों व खेतिहरों को भयंकर यातना दी जाने लगी। लेकिन अंग्रेज कहते हैं कि ये तो हिन्दुस्तानी नौकर करते हैं, हम नहीं करते। जितने सरकारी निर्देश हो सकते थे, उतने दे दिए। इनके सबके दस्तावेज हैं। बाद में, १८५८ में जब सब ठंडा हुआ तो उस समय लन्दन से निर्देश आया कि बहुत से लोग मर गये, बहुत लोग खत्म हो गये हैं तो अब यह बड़ा कत्लेआम बन्द होना चाहिए। फिर कहते हैं कि हिन्दुस्तानी लोग मरने से तो नहीं डरते परन्तु ये शारीरिक यातनाओं से घबराते हैं। मतलब यह कि यातना दो।

क्रमश: कोई एक सौ बरस बीतते बीतते भारतीय व्यवस्थायें बिखरती चली गईं। और किसी स्टेज में आकर, कहीं १८७० में तो कहीं १८८० में, अलग अलग जगहों पर अलग अलग समय, हिन्दुस्तान के लोगों में यह मान्यता हो गई कि हम तो गये, अब हम से तो कुछ होना नहीं है, इन्हीं का राज अब चलेगा। बचपन में मैं एक कहानी सुनता था कि सीताजी हनुमान एवं उनके वंशजों को यह वरदान दे गयी थीं कि भविष्य में उनका ही राज चलेगा। और ये अंग्रेज हनुमान के वंशज हैं, देखो वैसे ही दिखते हैं इसलिये अब यही राज करेगें ! यह सब बात कैसे उड़ी यह पता नहीं-शायद अंग्रेजों ने ही इस तरह की बात उड़ाई हो । पर हिन्दुस्तानियों में शायद ऐसा कुछ बैठ गया कि इन्हें हटाना बहुत मुश्किल है।

इस तरह हमारा समाज, तंत्र, प्राईवेट तरीके आदि टूटते चले गये, उन्हें नीची निगाह से देखा जाने लगा। हम अपने काम छिपाकर करने लगे। जैसे कोई मन्दिर जाता है या पीपल के पेड़ को पूजता है तो क्योंकि उसे नीची निगाह से देखा जाता है, इसलिये वह बताना नहीं चाहता कि वह वहां गया था। अब यदि आप उससे पूछें तो उत्तर मिलता है कि नहीं-नहीं हम तो ऐसे ही चले गये थे, आदि। हर भारतीय को हीन बनाने के प्रयास हुये हैं। फिर भी, कुछ लोग अभी भी उनमें बचे हैं। कुछ में शक्ति है, एकदम से टूट नहीं गये है। लेकिन व्यवस्थायें टूट गयी हैं।

सन् १८५७ की कोशिश के बाद, जिसमें २० से ५० लाख भारतीय मारे गये थे, अंग्रेजों के लोग भी मारे गये थे और उससे पहले भी बीच बीच में हर ४-५ साल में सेना

के रेजीमेंटों में विद्रोह होते रहते थे, १८५८ से अंग्रेजी राज्य का भयंकर आंतक चला। इस सबका अंग्रेजों से एक बदला जैसा लेने के लिये, गोवध के खिलाफ एक देशव्यापी आन्दोलन १८८० के करीब से चला। वैसे १७८० के करीब उदयपुर, जयपुर, जोधपुर आदि के राजाओं ने अंग्रेजों से कहा कि यदि हम आपसे समझौता करते हैं, आपके मातहत होते हैं, तो आप हमारे यहां गाय मत काटिये। इसको ट्रीटी में लिखने की बात भी, बाद में १८१८ में हुई लेकिन अंग्रेजों ने नहीं लिखा, केवल आश्वासन दिया कि जहां तक हो सकेगा उनके क्षेत्र में गाय नहीं काटेंगे। इस देशव्यापी आन्दोलन में लोग खड़े हो गये। इस आन्दोलन से सम्बन्धित इंटेलीजेन्स रिपोर्ट आदि सब है। १८९३ ई. में जब यह आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर था, इसमें करोडों भारतीय संमिलित रहे होंगे। उन दिनों ब्रिटिश महारानी ने भारत में अपने प्रतिनिधि वॉयसराय लैन्सडाउन को लिखा कि यह आन्दोलन भारतीय मुसलमानों के खिलाफ नहीं है, जो कि गायों को बहुत कम मारते हैं। यह आन्दोलन तो हम अंग्रजों के खिलाफ है, जिनके लिए ही भारत की गायों का इतना अधिक कत्ल होता है। इस आन्दोलन में काफी संख्या में मुसलमान भी संमिलित थे । साधारण किसान, कारीगर, व्यापारी, बहुत से राजा, हजारों भारतीय सरकारी कर्मचारी और संन्यासी तो शामिल थे ही। दक्षिण के एक संन्यासी श्रीमन् स्वामी का इस आन्दोलन में बड़ा योगदान माना जाता है। गायों को इतने बड़े पैमाने पर काटे जाने में मुसलमानों का इतना ही काम रहा कि वे सेना के कत्लखानों में काम करते थे और गायों को खरीदने के बाद उन्हें हाँक कर कत्लखानों में ले जाते थे। मन से अधिकांश मुसलमान भी गोवध के खिलाफ थे ऐसा दस्तावेजों में दिखता है। लेकिन अंग्रेजी कूटनीति ने इस तरह का खेल खेला कि गायों को मारने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी मुसलमानों की दिखने लगी। और कुछ ही महीनों के बाद साम्प्रदायिक दंगे होने के कारण इस आन्दोलन को १८९४ में बन्द होना पड़ा। फिर १९१६ में और बाद में समय समय पर आगे भी यह आन्दोलन खड़ा होता है, लेकिन तब तक तो और भी प्रश्न खड़े हो गये हैं। कुछ हिन्दुस्तानी भी अंग्रेज बन गये हैं।

आज जो कुछ खोज है शिक्षा में, तकनीक आदि में , वह सब तो पश्चिम के विद्वानों की खोज है। परन्तु १७४० में दुनिया के कुल औद्योगिक उत्पादन का ७३ प्रतिशत उत्पादन भारत और चीन के क्षेत्र में होता था और १८३० में भी यह ६० प्रतिशत तक था। कोई जरूरी नहीं कि यह कोई हाई टेक्नोलॉजी की प्राब्लम हो। हमारे यहां समृद्धि थी, काम था, हमें तरीके आते थे, ये सब एक सक्रिय समाज की निशानियाँ थीं। मैं तो यह मानने लगा हूं कि महात्मा गांधी ने यह जो कहा है कि हमारे पूर्वज यह जानते थे कि जटिलता में जाने से तो खराबी ही होती है, आदमी खराब होता है, आत्मा

खराब होती है, उसमें फँसना नहीं चाहिए। हमारे यहां तो साधारण व जिससे काम चले, ऐसे तरीकों से ही उत्पादन होता रहा होगा। यह स्वभाव होता है। हमारा भारी मशीनरी वाला स्वभाव नहीं है। जवाहरलाल नहेरू का ऐसा स्वभाव बन गया था क्योंकि वे इंग्लैंड में रहे तथा घर में उनकी काफी देखभाल अंग्रेजों ने की। ऐसा ही अन्य हजारों भारतीयों के साथ, जिनका पश्चिमीकरण होता गया उनके साथ, भी हुआ होगा।

यह जो सब बिगड़ा है, एक तो यह कैसे बिगड़ गया, और दूसरा अब क्या किया जा सकता है ? एक तो १७५० में जैसा था, जो चरखा आदि चलता था, तो वैसा कर लो पर फिर वैसा करना सम्भव भी है या नहीं ? हमारे पास इसके लिये साधन हैं या नहीं ? दूसरा कुछ और किया जा सकता है क्या ? तो वह जो सोचने का काम है, वह तो करना होगा। लेकिन नकल करके नहीं। हम नकल बहुत करते हैं। आज तो जो कुछ बना है नकल करके ही बना है। जो कुछ भी ढांचा (infrastructure) है - सेना, अस्पताल, सरकार का ढांचा, बैंक, बीमा कंपनीयां आदि-सभी कुछ स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटी आदि सभी कुछ। अंग्रेजों ने जो १७५० के बाद से दिया, वही सब है। बाद में अमेरीका, जर्मनी आदि से लिया गया है। लेकिन नकल ही है, इससे ज्यादा कुछ नहीं है। यह है कि हम कुछ बना लेते हैं, कुछ साफ्टवेर बना लेते हैं लेकिन हमने अपना कम्प्यूटर नहीं बनाया। कम्प्यूटर इस तरह से बनने के बजाय उस तरह से भी बन सकता है, ऐसा हमने नहीं सोचा। यह सब सोचने का काम नहीं किया। एक बार मैंने आप में से ही किसी से पूछा कि बात क्या है ? हम क्यों नहीं कुछ करते ? तो उन्होंने कहा, हमारे लोग तो यह कहते हैं कि ये प्रश्न तो सारे संसार के हैं, वे लोग कुछ करेंगे तो हम उसकी नकल कर लेंगे। तो मैने कहा कि वे लोग तो पाँच-सात चीजों में ही करेंगे न, हमारे प्रश्न तो हजारों हैं, उनका क्या होगा ? हमें हजार चीजों में करने की जरूरत है। यदि हम कुछ करेंगे नहीं, तो इसमें से निकलेंगे कैसे ? फिर बात समाप्त हो गई।

यदि हमें पश्चिम की ही राह पर चलना है और हमने यह मान लिया है कि इस काल में पश्चिम की ही बात चलने वाली है, तो ठीक है। पश्चिम से हम कुछ क्षेत्रों में, पाँच-सात दिशाओं में, आगे निकल जाएँ। जैसे सोलर एनर्जी में मान लिजिए, उनसे आगे निकल जाइये, तो उनसे बातचीत हो जायेगी। लेकिन जब तक यह नहीं होगा, तब तक हम उनसे भीख ही मांगते रहेंगे। वे कम्प्यूटर में छठी जनरेशन का कुछ कर रहे हैं, हम चौथी जनरेशन का इस्तेमाल कर रहे हैं। फिर हम उनकी खुशामद कर रहे हैं कि पाँचवी जनरेशन का हमें कुछ दे दीजिये। इससे तो कुछ नहीं होगा।

अमेरीका के राष्ट्रपति क्लिंटन आयेंगे, कुछ और विदेशी नेता आयेंगे, लोग तो आते ही रहते हैं। वे कुछ हमारी बड़ाई करेंगे, पाकिस्तान की कुछ बुराई करेंगे, या चीन

को कुछ कहेंगे, तो हम यह मानने लगें कि इनकी राय तो अब बदल गई है; ये हमारे मित्र बन गये हैं। ये तो सब फालतू की बातें हैं। यह तो दुनिया में होता ही रहता है। हम भी ऐसा ही करते होंगे। इसमें कुछ रखा नहीं हैं, यह तो बहकना है।

१९४२ के करीब का रुझवेल्ट का एक वक्तव्य है। हुआ यूँ कि चांगकाई शेक, जो उस जमाने में चीन के राष्ट्रपति थे, १९४२ के आरम्भ में भारत आये थे। वे चाहते थे कि अंग्रेजों के और हमारे बीच कोई समझौता हो जाये। लेकिन अंग्रेज उनका यहाँ आना पंसद नहीं करते थे। पर ये चीन के राष्ट्रपति हैं और चीन भी लड़ाई में पड़ा है, इसलिये उन्हें रोकना मुश्किल था। रुझवेल्ट भी उनके आने के पक्ष में थे और वह भी सेवाग्राम में। पर अंग्रेजों को लगा कि गांधी से मिलने चीन के राष्ट्राध्यक्ष यदि सेवाग्राम जाएंगे, तो यह तो गलत हो जायेगा, गांधीजी को बड़प्पन मिल जायेगा। काफी सोच विचार के बाद अंग्रेजों ने तय किया कि रवीन्द्रनाथ टैगोर के यहां उनकी गांधीजी से मुलाकात हो सकती है। खैर, यह तो दूसरा किस्सा है। परन्तु इस बात को लेकर अंग्रेज रुझवेल्ट से नाराज हुए। उन्होंने कहलवाया कि आप हमारे काम में दखल क्यों दे रहे हैं ? इसके कुछ समय बाद अगस्त १९४२ में ब्रिटिश अेम्बेसेडर से रुझवेल्ट की लंबी बात हो रही है, उसका एक हिस्सा भारत के बारे में है, यह छपा है। ये जो ट्रान्सफर ऑफ पॉवर के दस्तावेज हैं, १२ वाल्यूम; कुल दस हजार पन्ने के, उनमें छपा है। वैसा ही हमारे आई.सी.एच.आर. वाले भी कर रहे थे, पर उनसे अभी तक कुछ विशेष हुआ नहीं। तो इस बातचीत में रुझवेल्ट यह कह रहे हैं कि आप (अंग्रेज) हिन्दुस्तान में चाहे जो करें पर कुछ ऐसा हो कि अन्ततः भारत पश्चिम के घेरे में ही बना रहे। ये हैं उनके शब्द- कि भारत पश्चिम के घेरे में, छत्रछाया में ही बना रहे। फिर उनका जो सेक्रेटरी ऑफ स्टेट था उसने क़हा कि चीन के विदेश मंत्री तो यह कहते हैं कि हिन्दुस्तानी तो एशियाटिक हैं। उस पर रुझवेल्ट का क़हना है कि नहीं-नहीं ये तो एशियाटिक नहीं हैं, ये तो हमारे कजिन हैं। ये तो इंडो-आर्यन स्टॉक के हैं।

आशय यह है कि हिन्दुस्तानी चीनियों से नहीं मिल जाएँ। क्योंकि भय है कि कहीं यह २०-३० साल में या और बाद में अपनी अलग दुनिया न बसा लें। यही भय अभी भी है। इसीलिये इन्हें अपने पीछे लगाये रखो। तो इस तरह का उनका ध्येय रहा है, उनकी मानसिकता रही है, स्वार्थ रहा है, स्वप्न भी ऐसा ही होगा। उन्हें ईसा मसीह ने बतलाया होगा, किसी पैगंबर ने बतलाया होगा कि कभी ऐसा होने वाला है कि हमेशा के लिये इस पृथ्वी पर आपका ही बस चलेगा, आप ही की दुनिया पूरे संसार में चलेगी। लेकिन इसी तरह और लोगों के भी स्वप्न होते हैं, स्वभाव होता है कि हम अपनी दुनिया में रहें। यह सभी का होता है। होना तो यह चाहिए कि संसार में चार पांच दुनियाएँ बस जाएं-योरोप

की, अमरीका की, अफ्रीका की,। हम भी अपनी एक दुनिया बना लें। हमारे यहां उपजाऊपन भी है, कला भी है, दिमाग भी है, हमारा गणित भी ऊँचा है, हमारा अपना एक सिस्टम है। ऊँचा है या नीचा है, उसको छोड़िये। मुख्य बात है कि ये एशिया वाले अपनी दुनिया बना सकते हैं। इसी प्रकार अफ्रीका वाले भी बना सकते हैं। अब यूरोप वाले राक्षस हैं, अमरीका वाले राक्षस हैं, हमारी ये मान्यताएं हो सकती हैं। परन्तु राक्षसों को भी रहने का अधिकार तो होता ही है। सभी राक्षस तो नहीं मार दिये जाते। लेकिन इतना रहे कि राक्षसों से थोड़ा दूर रहो, उतना पास नहीं जाओ। 'ग्लोबल विलेज' नहीं बनाओ। यह 'ग्लोबल विलेज' तो एक बला है।

'ग्लोबल ट्रेड' फालतू की बात है। अभी मैंने सुना कि खादी का एक्सपोर्ट हो रहा है। तमाम हाथ की बनी चीजों का हम एक्सपोर्ट करते हैं। तो हम बाहर चीजें भेजते हैं वहां उनकी कीमत कुछ भी हो सकती है, दस गुनी भी हो सक़ती है, बीस गुनी भी हो सक़ती है। अपने हाथ का बना सामान हम क्यों भेजते हैं ? और क्यों भेजें ? काहे के लिये ? हमारे यहां खपत नहीं है क्या ? हमारे यहां बहुत जरूरत है। हम अपना दूसरा अर्थशास्त्र बनायें, अपना तरीका बनायें। ये जो चीजें हम बाहर भेजते हैं, उसके बदले हमें कुछ नहीं मिलता। या तो हम यह तय कर लें कि जो भी चीज बाहर जायेगी, वह लगभग दस गुने दाम पर जायेगी। उससे कम पर नहीं जायेगी। वे जैसे अपने सामान का दाम लेते हैं - बंदूकों, हवाई जहाजों आदि का दाम अपने हिसाब से तय करते हैं, तो हम भी अपने सामान का दाम अपने हिसाब से तय करेंगे। हमारी भी कला है, ऐसे ही नहीं है। वैसे तो हमें पश्चिम को कुछ देना ही नहीं है।

इसके अलावा ये जो एक्सचेंज रेट है, जो पिछले दो सौ-ढाई सौ साल में फिक्स हुए, वह तो सब गलत है। मेरी बेटी जर्मनी में है, स्कॉलर है, उसके हिसाब से तो एक डॉलर एक रूपये के बराबर ही बैठता है। ऐसा वह बार बार कहती है, उसको ऐसा ही लगता है, और पिछले तीस बरस से वह इस बात को समझती है। यह बात क्यों हमारी समझ में नहीं आती ? ये इतने ऊंचे ऊंचे लोग बैठे हैं, दुनिया भर घूमते हैं, लिखते हैं, इन्हें क्यों नहीं समझ में आता है ? या कि इनमें हिम्मत नहीं है ? या कोई और लोग चाहिए कहने वाले ? अब कहने वाले तो आप लोगों में से ही निकलेंगे। आप लोगों से मेरा मतलब है - आप जैसे लोग। ये लोग २० से ५० लाख तो होंगे ही। ये लोग कहें। क्योंकि ये जो सब कुछ एकतरफा हो गया है, प्रजा और सरकारका जो यह सम्बन्ध है कि सरकार को कहना है और प्रजा को तो बस सुनते रहना है या प्रजा को तो बस पिटते ही रहना है, सरकार जो मर्जी आए करती रहे, यह तो नहीं चल सकता। इसको तो उलट देने की आवश्यकता है।

यूरोपीय विचार हो सकता है कि प्रजा इसीलिये होती है, और ऐसा विचार योरोप में है भी। योरोप की प्रजा सबॉर्डिनेटेड है। बँध करके चलती है। आज के माडर्निज्म में भी बंध करके चलती है। अमरीका में भी, हम जिसे स्वराज कहते है, वह नहीं है। अपने हिसाब से आदमी कुछ कर ले, जैसे कि आज तो काम नहीं करना है, भाई, जरा सो लो। वहां यह नहीं हो सकता। योरोप से जनसाधारण के लिये आजादी या फ्रीडम की जो बात कही जाती है या योरोप की समृद्धि आदि की जो बात है, वह तो ५० वर्ष पहले ही बनना शुरू हुई है। उसके पहले की तो नहीं है। यह समृद्धि तो ऐसी है कि अगर आपको एक महीने काम न मिले और यदि राज्य आपको सोशल सिक्यूरिटी वगैरह नहीं दे, तो आपका जिंदा रहना मुश्किल हो जायेगा। क्योंकि आपके पास किराये आदि का पैसा नहीं होगा। यह सब अपने यहां भारत में भी, मिडिल क्लास में, होने लगा है। क्योंकि यदि आप ३-४ हजार किराया देते हैं और दस हजार रूपये का वेतन बन्द हो जाता है तो जिंदा रहना सम्भव नहीं होगा।

मैंने जो लिखा है उसमें कॉन्स्टेन्टाइन की बात कही है कि अब ३२० ई. में वह ईसाई बना तो यह कह दिया गया कि सारे योरोप की प्रजा भी ईसाई बन गई। जबकि योरोप के विद्वान कहते हैं कि योरोप को पूरा ईसाई बनने में तो १२०० वर्ष लगे। तो वहां इस तरह का होता है। बाद में, १५५० ई. में प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक लोगों में जो लड़ाई हुई, उसके बाद आक्सबर्ग की ट्रीटी (शान्तिनामा) हुई उसमें लिखा है कि जो राजा का सम्प्रदाय है, वही सम्प्रदाय प्रजा का भी होगा। जिसको (प्रजा को) यह पसन्द नहीं हो, वह राज्य छोड़कर चला जाए। तो उनकी मान्यताएं इस तरह की हैं। इसलिये यदि हम अपनी मान्यताओं के अनुसार संसार नहीं बनायेंगे, तो मुझे नहीं लगता कि हम कुछ कर पायेंगे।

अंग्रेजों के विचारों एवं कार्यों ने हमारे समाज को तोड़ा, उसे रुढिग्रस्त बनाया और हमारे कुछ लोगों को (उनकी संख्या आज शायद ५-१० लाख होगी), 'बिना समझ का अंग्रेज' बना दिया। और अन्त में उन्होंने ऐसे ही 'अंग्रेजों' को भारत का राज्य सौंप दिया। ऐसा होने में भी सभी बड़े अंग्रेजों का हाथ रहा। वे एक तरफ से सभी विलियम विल्बरफोर्स (जिन्होंने १८१३ ई. में ब्रिटेन के हाऊस ऑफ कामन्स से यह तय करवाया कि भारत में ईसाइयत फैलाना अंग्रेजी राज्य का मुख्य कार्य है) व जेम्स मिल और मैकाले, जिनके विचार से भारत की सभ्यता सबसे गिरी हुई थी, के बौद्धिक वंशज थे। इंग्लैंड की लेबर पार्टी के प्रधानमंत्री क्लीमेन्ट ऐटली उन्हीं में से थे, और अमरीका के राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रुझवेल्ट भी। रुझवेल्ट के अनुसार तो यह आवश्यक था कि भारत पश्चिम के संरक्षण एवं घेरे से बाहर नहीं निकल पाये। अपने जवाहरलाल नहेरू भी बहुत

हद तक इन्हीं लोगों की मानसिकता के थे। आज तो इस तरह की मानसिकता भारत में बहुत बढ़ी है। लेकिन यह शायद निजी विश्वासों के स्तर पर आज पहले से कमजोर है।

अब हम कैसे भारतीयता को प्राण दें, और उसका साहस एवं उत्साह वापस लायें, यह प्रश्न हम सभी के लिये विचारणीय है। मेरी सोच में गांधीजी ने भारत की ऐसी स्थिति को अन्य सभी भारतीयों से अधिक समझा। उनकी इस तरह की समझ शायद उनके बचपन से ही बढ़ने लगी थी। १८९१ ई. में जब वे २२ वर्ष के थे, उन्होंने लन्दन में प्रकाशित एक लेख में लिखा कि भारतीयों में इतनी गरीबी है कि वह कर लगाये गये नमक को भी नहीं खरीद पाते। उसी लेख में उन्होंने उस समय भारत में गो-हत्या के विरोध में चल रहे आन्दोलन की भी चर्चा की। दो वर्ष बाद दक्षिण अफ्रीका जाते ही गांधीजी वहां के ५०-६० हजार गरीब भारतीयों के प्रश्नों से जुड गये, और अगले १०-१५ वर्ष में, उनमें से गरीब से गरीब परिवार व व्यक्ति को अपने सत्याग्रह आन्दोलन में ले आये। सन् १९१५ में भारत आते ही गांधीजी ने भारत भ्रमण किया, साबरमती आश्रम बनाया (जो एक तरह का देश के कार्यकर्ताओं के लिये सैनिक कॉलेज जैसा था, लेकिन जिसके मुख्य हथियार भारत के यम नियम थे, बन्दूक इत्यादि नहीं) और १९१७ से वे अंग्रेजों के तंत्र के विरुद्ध आन्दोलनों में लग गए। तब से अन्त तक यही उनका जीवन रहा।

लेकिन लगता है कि समय बीतते बीतते गांधीजी अपनी शक्ति को कुछ अधिक आंकने लगे। हालांकि उन्हें पश्चिम की शक्ति, कौशल और कूटनीति का अच्छा अंदाजा था, उन्हें अपने देश के पश्चिमीकृत बन गये लोगों में आयी गहरी मानसिक गिरावट की समझ शायद ठीक से नहीं थी। फिर भी, इनमें से बहुत से गांधीजी के सैनिक बने और जैसा उन्होंने कहा उसे अधिकांशत: माना। लेकिन वैचारिक व बौद्धिक स्तर पर पश्चिम की जो छाप इन लोगों पर थी, वह मिट नहीं पायी। १९१९ ई. में वायसराय चैम्सफोर्ड ने लन्दन में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया को लिखा था कि अब ऐसा समय आया है जब हम केवल जमींदारों, ताल्लुकदारों के बल पर राज्य नहीं कर पायेंगे, हमें अब शिक्षित और बौद्धिक लोगों को अपने साथ लाना पड़ेगा। इस तरह की बातें समय समय पर पहले भी ब्रिटिश राज्य के अधिकारियों में हुई होंगी। यह विचार शीघ्र ही लागू किया जाने लगा और केवल कोंग्रेस में ही नहीं, अन्य दलों व समूहों में भी ऐसे लोगों को आगे आने के लिये बढ़ावा दिया गया।

जैसे जैसे स्वतंत्रता करीब दिखने लगी, वैसे वैसे ये पश्चिमीकृत लोग धीरे धीरे गांधीजी से हटकर पश्चिमी दृष्टिकोण, योजनाओं और व्यक्तियों के करीब पहुँचने लगे। यह कोई साजिश नहीं थी, जिस तरह का समाज व व्यवस्थायें भारत में थीं, और बढ़ रही

थीं, उस स्थिति में ऐसा होना सहज ही था। हमारे पश्चिमीकृत लोगों ने हथियार डाल दिये और जो जो अंग्रेज चाहते थे वह सब उन्होंने धीरे धीरे स्वीकार कर लिया। इसी काम को कराने के लिये इंग्लैंड ने लार्ड माउन्टबेटन को भारत का वायसराय चुना था। माउन्टबेटन बहुत कुछ रॉबर्ट क्लाइव (१७४८-१७७३) जैसे ही थे। उन्हें भारतीयों के धीमेपन का अंदाजा था और दोनों का काम यह रहा कि भारतीयों को ऐसा दौड़ाएँ कि वे घबरा कर और थक कर बैठ जाएँ। माउन्टबेटन की व्यूह रचना ही कुछ इस तरह की थी कि भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन कुछ धीमा पड़े, भारत में कुछ अराजकता बढ़े और भारत अंग्रजों से राय व मदद माँगने के लिये लाचार बने। मेरे विचार से यह सब हुआ। दिसम्बर १९४६ के अन्तिम दिन माउन्टबेटन ने ब्रिटेन के राजा जोर्ज षष्ठ को ३ पन्ने का एक लंबा पत्र लिखा; उसमें उन्होंने इस व्यूह रचना का कुछ अंदाजा दिया है।

अगर हमारे इन पश्चिमीकृत लोगों में योरोपीय लोगों जैसी मानसिकता, दुस्साहसीपन और अपने लोगों पर पूरी तरह नियंत्रण रखना आता, तो शायद यह सम्भव हो जाता कि हम जापान की तरह व आज के चीन की तरह योरोपियन रास्ते पर चल पड़ते। लेकिन ऐसा लगता है कि हममें योरोप की आज की समृद्धि एवं तंत्र के लिये आकर्षण तो बहुत है, परन्तु हमारे पश्चिमीकृत लोग अभी तक यह समझ नहीं पाये हैं कि योरोप ने अपने को आज जैसा किस तरह से बनाया और उसके लिये कौन कौन से सैकड़ों हजारों कदम उठाये। इसलिये मुझे लगता है कि योरोप के रास्ते को किसी भी अंश में ग्रहण करना हमारे लिये असम्भव है।

मित्रो ! मैं कुछ अधिक ही कह गया। लेकिन मुझे नहीं मालूम कि हम आजं की इस कठिन स्थिति से कैसे निकलेंगे। इसके शायद बहुत से रास्ते होंगे, कुछ एक दूसरे से उल्टे भी। लेकिन इन सब पर भारत के सभी वासियों, विशेषकर साधारण किसानों, कारीगरों, मजदूरों, को गहरे ढंग से सोचना है और सोचकर कमर कसनी है। तब कोई कारण नहीं कि हम एक पीढ़ी के समय में इस दलदल से पूरी तरह से उबर न जायें।

१७. राष्ट्रीय आन्दोलन के वैचारिक आधार

१९३२-४० में महात्मा गांधी की सक्रियता

महात्मा गांधी के जीवन में १९३३ से एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ, जिसके निहितार्थों और परिणामों को शायद अभी भी पूरी तरह समझना और पहचाना जाना बाकी है। १९१९ से १९३१ तक के समय को भारतीयों को संगठित करने के दौर के रूप में देखा जा सकता है, जिसमें उन्होंने न केवल भारतीयों को, अपितु अंग्रेजों और समस्त संसार को, यह साफ जता दिया कि ब्रिटिश राज के खिलाफ उनके नेतृत्व और मार्गदर्शन से जो संघर्ष छिड़ा है, वह सीधे तौर पर राजनैतिक स्वाधीनता की ओर बढ़ रहा है। १९३३ से शुरू होकर पूरे ओज के साथ १९४० तक चले दौर को, निकट भविष्य में ही सम्भावित राजनैतिक आजादी के लिए, महात्मा गांधी द्वारा इसे आने वाली आजादी की बैठक-अन्तर्वस्तु और ढांचे का स्वरूप (मूलत: १९०८ में 'हिंद स्वराज' में परिकल्पित आधारों पर ही) - प्रस्तुत करने के प्रयास के तौर पर देखा जा सकता है। लेकिन अनेक संश्लिष्ट कारणों से इस प्रयास की भ्रूण हत्या हो गयी, इसलिए यह और भी जरूरी है कि महात्मा गांधी के इस प्रयास को (खोज और अध्ययन के साथ साथ चिंतन मनन के द्वारा) ज्यादा जाना और समझा जाए।

१९१४ में अहमदाबाद के पास साबरमती नदी के तट पर स्थापित साबरमती आश्रम को अगस्त १९३३ में गांधीजी ने औपचारिक रूप से त्याग दिया और उसकी जगह एवं संपत्ति को नये बने 'हरिजन सेवक संघ' को दान कर दिया। इसके कुछ ही हफ्तों बाद, ६४ बरस की उम्र में, उन्होंने भारत की अपनी महीनों लंबी तूफानी हरिजन यात्रा शुरु की, जिसमें वे देश के लोगों को यह समझाते रहे कि भारत के दलित अवनत समूहों के साथ बराबरी का व्यवहार होना चाहिये और उनके सभी नागरिक अधिकार, जिनमें हिन्दु मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार शामिल था, उन्हें वापस मिलने चाहिये। अपनी यात्रा के अन्त में, १९३४ के मध्य, गांधीजी ने वर्धा को (एक साल बाद ६ मील दूर हटकर सेवाग्राम को) अपना नया और अन्तिम केन्द्र बनाया। लगभग उसी समय गांधीजी ने भारतीय राष्ट्रीय कोंग्रेस की सदस्यता को औपचारिक रूप से त्यागने का

महत्त्वपूर्ण फैसला लिया, जिसके वे १९२० से सर्वोच्च नेता और पथ प्रदर्शक रहे थे। उनके इस्तीफे की मंजूरी के पूर्व गांधीजी ने यह आश्वासन दिया था कि इस्तीफे के बाद भी उनका परामर्श और मार्गदर्शन कोंग्रेस को सुलभ रहेगा। इसके अलावा, गांधीजी की सलाह पर कोंग्रेस ने अपने को भारत की अधिक सच्ची प्रतिनिधि संस्था बनाने हेतु यह नियम निर्धारित किया कि अब से उसकी राष्ट्रीय समिति के तीन चौथाई सदस्य ग्रामीण भारत से होंगे और सिर्फ एक चौथाई सदस्य ही शहरी इलाकों से होंगे। और इस प्रकार उस समय यह एक महत्त्वपूर्ण फैसला लिया गया। इसके अलावा, क्योंकि गांवो के पुनस्संगठन और पुनरुत्थान के लिए यह आवश्यक ही है कि मृत या मरणोन्मुख ग्रामीण उद्योगों को निश्चित और अनिवार्य तौर पर पुनर्जीवित और प्रोत्साहित किया जाये, इसलिए कांग्रेस ने यह प्रस्ताव किया कि गांधीजी की सलाह और मार्गदर्शन में एक 'अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ' स्थापित किया जाना चाहिए। प्रसंगवश, इस ग्रामोद्योग संघ के गठन के कुछ ही हफ्तों के अन्दर भारत में ब्रितानी सरकार ने और स्वयं वाइसराय ने भी नीजी तौर पर, इस संघ को अत्यन्त खतरनाक और राजद्रोहात्मक निरूपित किया।

एक अर्थ में तो, यह नया दौर १९३२ से ही शुरू हो गया था जब 'दलित वर्गों' के नाम से अंग्रेजों द्वारा परिभाषित किये समूहों को शेष हिन्दुओं से अलग करने की उनके (अंग्रेजों) द्वारा रची गयी रणनीति के खिलाफ गांधीजी ने अपना 'साहसपूर्ण' उपवास शुरू करने का फैसला किया। उपवास की घोषणा ने जहां कइयों को, विशेषकर भारतीय राष्ट्रवादियों में प्रगतिशील और बुद्धिजीवी वर्ग को, परेशान कर दिया, वहीं शेष भारत को इतना अधिक आन्दोलित कर दिया जितना की लोकस्मृति में इससे पहले कभी नहीं हुआ था। उपवास शुरू करने के कुछ ही दिनों के अंदर 'दलित वर्गो' और शेष हिन्दुओं के प्रतिनिधियों के बीच मामला सुलझ गया, जिसे अंग्रेजों को भी स्वीकार करना पड़ा और इस प्रकार गांधीजी का उपवास सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। इस अवसर पर २५ सितम्बर, १९३२ को मुंबई में हिन्दुओं की एक ऐतिहासिक सभा हुई जिसमें पारित प्रस्ताव में कहा गया कि 'आज से हिन्दुओं में किसी को भी जन्म के आधार पर अछूत नहीं माना जायेगा और अब तक जिन्हें ऐसा माना जाता रहा है, उन्हें सार्वजनिक कुँओं, सार्वजनिक विद्यालयों, सार्वजनिक सड़कों और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं के उपयोग के मामले में वे ही अधिकार प्राप्त होंगे जो अन्य हिन्दुओं को होते हैं।' और यही भी कि 'यह समस्त हिन्दु नेताओं का कर्तव्य होगा कि वे हर एक वैध एवं शान्तिपूर्ण तरीके से उन तमाम सामाजिक अशक्तताओं को, जिनमें मन्दिरों में प्रवेश पर

रोक भी शामिल है, शीघ्र समाप्त करायें, जो कि तथाकथित अछूत वर्गों पर रूढियों द्वारा लाद दी गयी है।'

गांधीजी के उपवास के कुछ ही महिनों बाद, (हिन्दुओं की) सनातन धर्म महासभा की बनारस बैठक में, जिसमें रूढिवादी विद्वान पंडित शामिल थे, यह महत्त्वपूर्ण अभिमत व्यक्त किया गया कि 'क्योंकि दलित वर्ग सनातन धर्म के ही अनुयायी हैं, अत: इस धर्म के अन्य अनुयायियों का यह कर्तव्य है कि वे धर्म पालन के समस्त लाभ प्राप्त करने में इनकी मदद करें।' इस प्रकार गांधीजी के उपवास एवं उनके द्वारा उठाये गये अन्य कदमों के परिणाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और असरदार थे और आज भी हैं, इसके बावजूद कि दलित वर्गों और अन्य हिन्दुओं के बीच झड़पें होती रहती हैं और बैर भाव अभी भी बरकरार है। यह अचरज की बात नहीं कि भारत के लिए ब्रिटिश राज्य के सचिव लियोपोल्ड एमरी ने जब दिसम्बर १९४२ में यह लिखा कि ब्रिटिश राज्य के लिए 'एक और अल्पसंख्यक समूह' के रूप में 'दलित वर्ग' राजनैतिक दृष्टि से अत्यंत लाभप्रद हो सकता है और उसके जरिये महात्मा गांधी और कोंग्रेस को मात दी जा सकती है, तब उनके खुद के ही दफतर का विचार इससे भिन्न था। दफतर का मानना था कि 'मुसलमानों की तुलना में वह (दलित वर्ग) कमजोर पत्ता है।' सम्भवत: यह स्थिति गांधीजी द्वारा अस्पृश्यों के लिए किये गये प्रयासों के कारण ही बन पायी।

अक्टूबर १९३४ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से औपचारिक रूप में इस्तीफा देने के शायद दो तीन साल पहले से ही गांधीजी इस बात से आश्वस्त हो गये लगते हैं कि अब ब्रिटेन से भारत की राजनैतिक आज़ादी लगभग सुनिश्चित है और अब यह संघर्ष पीढ़ियों की नहीं सिर्फ कुछ सालों की बात रह गयी है। इस तरह आश्वस्त होने के बाद गांधीजी इस आने वाली राजनैतिक आजादी की अन्तर्वस्तु और संरचना को लेकर ज्यादा सोचने और ध्यान देने लगे। साथ ही, वे इस बात के प्रति भी सचेत थे कि 'सर्वाधिक बौद्धिक कोंग्रेस जनों का बड़ा हिस्सा, यदि मेरे प्रति उन की अनुपम निष्ठा आड़े न आये, तो सहजता और उत्साह से जो रास्ता अपनायेगा, मैं सम्भवत: उससे बिलकुल उल्टी दिशा में जा रहा लगता हूँ'। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि 'उनकी निष्ठा और समर्पण भाव के चलते उन पर अनावश्यक दबाव डालना अनुचित होगा।' उन्होंने आगे यह भी कहा कि 'कोंग्रेस के प्रबुद्ध वर्ग का एक बहुत बड़ा हिस्सा मेरे तरीकों और मेरे विचारों से उकता गया है।' उन्हें लगता है कि 'कोंग्रेस के अभिवर्धन में मैं एक सहायक नहीं बल्कि एक अवरोध हूँ' और उसमें मेरे बने रहने से, उनकी दृष्टि में 'तर्कबुद्धि का मुक्त प्रयोग नहीं हो पाता।' गांधीजी के अनुसार, सबसे ज्यादा, बुद्धिजीवी

लोगों का उनसे कई बातों को लेकर मतभेद था जिसमें हाथ से कताई (जो कि गांधीजी की दृष्टि में 'खेती की सेविका' और 'देश का दूसरा फेफड़ा' थी), अस्पृश्यता की समाप्ति (जिसके लिए गांधीजी द्वारा अनेक प्रयास किये गये), सविनय अवज्ञा के अवसरों और तरीकों, अहिंसा, वस्तुतः स्वयं लोकतंत्र की अन्तर्वस्तु को लेकर, महत्त्वपूर्ण मतभेद थे। क्योंकि गांधीजी के अनुसार 'भ्रष्टाचार और दोगलापन लोकतंत्र की अपरिहार्य उपज नहीं हो सकती, जैसे कि वह आज हो गयी है।' इसके विपरीत गांधीजी इस कोशिश में थे कि भारत वास्तविक एवं सच्चे लोकतंत्र की मिसाल प्रस्तुत कर पायेगा।

महात्मा गांधी के अनुसार स्वराज (स्वाधीनता, स्वतंत्रता) कोई सीधी सपाट चीजें नहीं हैं। जनवरी १९३३ में उन्होंने एक संवाददाता से पूछा, 'आप ऐसा क्यों मानते हैं कि स्वराज अस्पृश्यता की समाप्ति से अलग कोई वस्तु है ?'गांधीजी के लिए तो स्वराज एक वट वृक्ष जैसा था। 'मेरे ख्याल से निर्णय वापिस लेने के लिए जितनी जल्दी करनी पड़ी, उससे ज्यादा जल्दी अस्पृश्यता को नष्ट करने में करनी चाहिये।...... स्वराज कोई सीधी छड़ नहीं है, वह तो वट वृक्ष की तरह है। इसकी बहुत सी शाखाएँ हैं और एक-एक शाखा मुख्य तने से निकलकर (बढ़ने में) स्पर्धा करने वाली है। किसी भी शाखा को पोषण दें, सारे वृक्ष को पोषण मिलना निश्चित है। कोई तय नहीं कर सकता कि किसे कब पोषण देना है। यह काम समय करता रहता है।' (सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय खण्ड ४२, पृष्ठ ४१४-१५ गांधीजी का पत्र परमानंद के. कापड़िया को ८ जनवरी, १९३३)

स्वराज्य और लोकतंत्र की ऐसी अवधारणाओं के कारण ही गांधीजी कोंग्रेस से औपचारिक तौर से अलग हो गये। ऐसा लगता है कि १९३४ से लेकर अपनी आखिरी सांस तक, विशेषत: १९३४ से १९४० के बरसों में, जब उन्होंने ब्रिटिश राज्य के खिलाफ किसी भी सविनय अवज्ञा आन्दोलन के सीधे नेतृत्व की जरूरत नहीं समझी, उनके जीवन का एक एक पल स्वराज्य और लोकतंत्र की उन अवधारणाओं के लिए अन्तर्वस्तु और संरचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत करने के लिए समर्पित रहा। जुलाई १९४६ में उन्होंने स्वराज और लोकतंत्र को एक महासागरीय वृत्त के रूप में निरूपित किया, 'जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा, जो गांव के लिए सर्वस्व अर्पण करने को तत्पर रहेगा, जब तक कि सम्पूर्ण समूह ऐसे व्यक्तियों से रचित एक प्राण सत्ता नहीं बन जाता, जो कभी भी आक्रमक नहीं होंगे, वरन सदैव विनम्र रहते हुए उस महासागरीय वृत्त के ऐश्वर्य में सहभागी होंगे, जिसके कि वे अभिन्न अंग हैं। असंख्य गांवों (और स्वभावत: कस्बों तथा शहरों) द्वारा संरचित इस ढांचे में सदा फैलने वाले किन्तु कभी भी मर्यादा न लांघने

वाले वृत्त होंगे, जिसका बाहरी घेरा कभी भी भीतरी वृत्तों को कुचलने और उन पर शासन करने का काम नहीं करेगा, वरन सभी भीतरी वृतों को शक्ति देगा और उनसे ही अपनी शक्ति प्राप्त करेगा।

अस्पृश्यता के विरुद्ध उपवास में, ऐसा लगता है कि गांधीजी को एक नयी अन्तर्दृष्टि मिली। क्योंकि, जैसा कि उन्होंने १९३४ में कहा, 'अस्पृश्यता के खिलाफ अभियान अब सिर्फ अछूत नाम से चिह्नित लोगों की अस्पृश्यता उन्मूलन नहीं रह गया हैं, उसमें और भी बहुत कुछ समाविष्ट होने लगा है। शहर में रहने वालों के लिए अब गांव अछूत बन गये हैं।' और इस व्यापक अस्पृश्यता को खतम करने के लिये ग्रामीण उद्योगों का नवजीवन अधिक जरूरी हो गया।

नवजागरण का यह काम कितना कठिन और जटिल था, यह गांधीजी ने नवम्बर १९३४ में नये तौर पर विस्तार किये गये, 'गांधी सेवा संघ' के एक सम्मेलन में व्यक्त किया। उन्होंने कहा, 'लेकिन गांव वालों को उनकी पुरानी स्वाभाविक स्थिति में पुर्नप्रतिष्ठित करना कोई आसान काम नहीं है। मैंने सोचा था कि मैं एक विधान बनाकर थोड़े समय में ही संघ को गतिशील कर देने में समर्थ हो जाऊँगा। लेकिन जितना ही मैं उसमें गहरे पैठता हूँ, उतना ही मुझे और मुश्किलें दिखाई देती हैं। एक अर्थ में यह काम खादी से ज्यादा कठिन है, क्योंकि खादी का काम बहुत जटिल समस्यायें सामने नहीं लाता। हम बस सभी विदेशी और मशीनी कपड़ोंका बहिष्कार कर दें और खादी अपने आप एक मजबूत नींव पर स्थापित हो जायेगी। लेकिन यह तो इतना बड़ा क्षेत्र है, उद्योगों की अनेक किस्में हैं जिन्हें संगठित करना और चलाना है, कि इसमें हमारी सारी व्यावसायिक प्रतिभा, विशेषज्ञों का ज्ञान और वैज्ञानिक प्रशिक्षण इत्यादि सभी को खपना होगा। कठिन मेहनत, निरन्तर प्रयत्न और अपनी समस्त व्यापारिक तथा वैज्ञानिक योग्यताओं को इस सर्वोच्च प्रयोजन के लिये लगाये बिना यह उपलब्ध होने वाला नहीं। अत: मैंने अपने यहां के अनेकों विख्यात डॉकटरों और रसायनशास्त्रियों को एक प्रश्नावली भेजी है। जिसमें मैंने उनसे जानना चाहा है कि पॉलिश किये हुए और बिना पॉलिश किये हुए चावल, गुड़ और चीनी, इत्यादि ऐसी ही अन्य चीजों के रासायनिक विश्लेषण तथा उनकी पोषण क्षमताओं के बारे में मेरी जानकारी बढ़ायें। अनेक मित्रों ने फौरन जवाब भेजा, पर सिर्फ यह बताने के लिए कि इन दिशाओं में कोई अनुसन्धान ही नहीं हुआ है। क्या यह अत्यन्त दु:खद स्थिति नहीं है कि कोई भी वैज्ञानिक गुड़ जैसी साधारण चीज के बारे में भी मुझे बता न पाये ? कारण तो मुझे यही लगता है कि हमने ग्रामीण लोगों के बारे में सोचा ही नही है। शहद का मामला लें। मुझे पता चला है कि

विदेशों में शहद का विश्लेषण इतनी सावधानीपूर्वक किया जाता है कि उसकी एक भी बोतल बिना निश्चित परीक्षण पर खरे उतरे, बाज़ार में बिक्री के लिये नहीं जा सकती। भारत में हमारे पास सर्वोत्तम शहद पैदा करने के लिए विशाल साधनस्रोत हैं, पर इस मामलें में हमारे पास पर्याप्त विशेषतज्ञता युक्त ज्ञान नहीं है। एक प्रतिष्ठित डॉकटर मित्र लिखते हैं कि उनके अस्पताल में पॉलिश किया हुआ चावल निषिद्ध है और चूहों तथा अन्य प्राणीयों पर परीक्षण के बाद यह पुष्ट हो गया है कि पॉलिश किया चावल नुकसानदेह है। लेकिन फिर चिकित्सा व्यवसाय वाले लोगों ने मिलकर अपने इन नतीजों को प्रकाशित क्यों नहीं किया और यह क्यों नहीं कहा कि इस तरह के चावल का उपयोग नुकसानदेह है।

'इन एक दो उदाहरणों से मैंने अपनी कठिनाई जाहिर की है। कैसा संगठन होना चाहिये ? प्रयोगशालाओं में किस प्रकार के शोध हमें करवाने होंगे ? हमें बड़ी संख्यामें ऐसे वैज्ञानिक और रसायनशास्त्रियों की जरूरत पड़ेगी जो न केवल अपना विशिष्ट ज्ञान हमारे इस अभियान के लिए अर्पित करें, वरन जो प्रयोगशालाओं में घंटों बैठकर, बिना पैसे लिये, उन दिशाओं में प्रयोग करें, जैसा मैंने इंगित किया है। हम समय समय पर इनके नतीजे तो प्रकाशित करेंगे ही, साथ ही हमें विभिन्न उत्पादनों की जांच करना और उन्हें प्रमाणित भी करना होगा। हमें यह भी पता लगाना होगा कि जब कोई वस्तु या खाद्य सामग्री निर्यात होती है और उसकी जगह बाहर से सस्ते विकल्प आयात होते हैं, तो वस्तुओं को पैदा करने वाले ग्रामीण इस प्रक्रिया से सन्तुष्ट हैं अथवा नहीं। हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि सर्वप्रथम ग्रामीण आत्मनिर्भर हों, उसके बाद ही वे शहर में रहने वालों की जरूरतों को पूरा करें।

'इस काम के लिए हमें जिलेवार संगठन बनाने होगें और जहां जिले ज्यादा बड़े हैं, वहां जिलों को उप जिलों में बाँटना होगा। इन लगभग २५० संगठनों में, हर एक में एजेंट होगा, जो मुख्यालय से प्राप्त निर्देशों के अनुसार सर्वे करेगा और उसकी रिपोर्ट पेश करेगा। ये एजेण्ट पूर्णकालिक होंगे जिनकी इस कार्यक्रम के प्रति पूर्ण आस्था होगी और जो दैनिक जीवन में जरूरी फेरबदल करने को तैयार रहेंगे। इस काम के लिए धन की निश्चित तौर पर आवश्यकता होगी, पर धन से भी ज्यादा इस काम के लिए गहरी आस्था और संकल्पपूर्ण सक्रियता वाले लोग चाहिए होंगे।'

अस्पृश्यता उन्मूलन, शहर और गांव के बीच की बढ़ती खाई को कम करने की कोशिश और ग्रामीण उद्योगों के पुनर्जीवन के प्रयासों ने, ब्रिटिश ढांचे से उपजी शिक्षा पद्धति की व्यर्थता, उससे भी ज्यादा उसकी विध्वसंक प्रकृति और सभी स्तरों पर

अधिक उपयुक्त पद्धति को लागू करने की जरूरत का अहसास करा दिया। इसी से आगे चलकर वह पद्धति निकली, जिसे गांधीजी की बुनियादी शिक्षा कहा जाता है। उसी समय दूसरे कई सवालों की ओर भी ध्यान दिया गया, जिसमें ऐसे श्रमसंगठन का विचार भी शामिल है कि जिनमें कोई 'हड़ताल' और 'वर्ग युद्ध' की जरूरत ही न हो। उस समय के देश के एक प्रमुख अख़बार ने इस बाद वाले विचार को महत्त्व देते हुए इस शीर्षक से इस खबर को छापा कि 'गांधी सेवा संघ नये श्रमिक संगठनों में श्रमिकों को प्रशिक्षण देगा।'

ऐसे विचारों में लोगों को दीक्षित करने, उन पर बहस करने एवं उन विचारों का प्रचार प्रसार करने के लिए ऐसे मंच की जरूरत थी जहां समान सोच वाले लोग, जो विविध क्षेत्रों में खोज में संलग्न हों, इकट्ठे हो सकें। यह काम गांधी सेवा संघ ने किया, जो १९२३ में महात्मा गांधी द्वारा देश के सामने रखे गये कार्यक्रमों को बढ़ाने के लिए स्थापित किया गया था। जब गांधीजी ने वर्धा को अपना नया केन्द्र बनाया, तब इसे पुनर्गठित कर सैकड़ों लोगों की सदस्यता द्वारा व्यापक बनाया गया था। तब गांधीजी ने कहा था, 'गांधी सेवा संघ अपना एक नया संविधान बना रहा है। इसने कोई नया दायित्व न लेने का निश्चय किया है। यह ऐसे कार्यकर्ता भर्ती करेगा जिनके उद्देश्य तो समान होंगे, लेकिन किसी एक ही कोष पर इन्हें आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं होगी।' (सम्पूर्ण गांधी वाङ्मय, खण्ड ५१, पृष्ठ ४५१; गांधीजी का पत्र एन.आर. मलकानी को, ५ दिसम्बर, १९३४)। इन कार्यकर्ताओं में लेखक, शिक्षाविद्, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीविद्, चिकित्साविद्, सामाजिक कार्यकर्ता, संन्यासी और विद्वान अध्येता शामिल थे तथा वे लोग भी जो विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय थे।

इस प्रकार १९३४ से लेकर १९४० की शुरुआत तक, गांधीजी, गांधी सेवा संघ के सदस्यों तथा सम्भवत: अनगिनत अन्य लोगों के साथ, स्वयं को ऐसे कार्यो एवं विचारों में लगा रहे प्रतीत होते हैं जो आने वाले नये भारत को क्रियाशील करने के लिए संस्थाओं एवं ढ़ांचों का निर्माण करने का रास्ता प्रशस्त करेगा। क्योंकि यह कोई अलग-थलग काम नहीं था, इसलिए संघ के सदस्यों को न केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का सदस्य बनने की अनुमति थी, बल्कि वे संघ की विशेष अनुमति से, स्थानीय जरूरत को ध्यान में रखते हुए, नयी विधायिकाओं के लिए चुनाव में भी खड़े हो सकते थे। क्योंकि जैसा गांधीजी ने उनसे १९३६ में कहा, 'तथाकथित राजनैतिक और तथाकथित रचनात्मक कामों में कोई साफ साफ विभाजन नहीं है। हमारे काम के तरीकों में साफ साफ विभाजन नहीं होता है।'

सितम्बर १९३९ में यूरोप में युद्ध शुरु होने के साथ, भारत में भी राजनैतिक परिस्थिति में नाटकीय बदलाव आया। भारतीय राष्ट्रीयता और ब्रिटिश सत्ता में टकराव आसन्न दिखाई पड़ने लगा। इसके अतिरिक्त अन्य अनेकों गुंथे हुए कारणों की वजह से, गांधीजी ने फरवरी १९४० में संघ को सलाह दी कि वह खुद को सिकोड़ ले और राजनीति में भाग लिये बिना वह एक स्नातकोत्तर विद्यालय या शोध संस्थान बन जाये और उन सरंचनाओं, सम्बन्धों और राजतंत्र के आधारों पर काम करे जिनके ऊपर उन्होंने स्वयं और एक संस्था के तौर पर गांधी सेवा संघ ने पिछले छह वर्षों से सक्रियता से काम किया है। परन्तु जल्दी ही यह सब पीछे छूट गया। गांधीजी ने एक नया 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' आरम्भ कर दिया जिसमें अंग्रेजों से कहा गया कि वे 'भारत छोड़ें'। फलत: देशव्यापी गिरफ्तारियां हुईं, देशव्यापी स्तर पर दमन हुआ और अन्त में (अंग्रेजों द्वारा) भारत विभाजन की सम्भावनाएँ सामने लायी गयीं।

गांधीजी के राजनैतिक और आर्थिक विचारों को सामान्यत: अव्यावहारिक और आदर्शवादी करार दिया जाता है। बीसवीं शताब्दी के संसार में सम्भवत: वे ऐसे लगते हों। परन्तु फिर भी यह बात तब तक निश्चय पूर्वक नहीं कही जा सकती, जब तक कि इन विचारों की जांच समुचित सूचनाओं, ज्ञान और समझ के आधार पर न कर ली जाए। दुर्भाग्यवश अभी तक ऐसा नहीं हुआ है, जिसका एक बड़ा क़ारण यह भी है कि भारत ने अपने लिए, इस समझ से अलग रास्ता चुना है। आंशिक कारण यह भी रहा है कि अभी तक 'गांधी वाङ्मय' के लिए उस समय की प्रासंगिक सामग्री एवं निजी पर्चे ब्रिटिश सरकार के अभिलेखागार से उपलब्ध नहीं थे। अब इस सामग्री का अधिकांश भाग सुलभ है, इसलिए अपनी समझ को स्पष्ट करने के लिए इस काम में शोध मूल्यवान होगा।

१८. हमारे अज्ञान की जड़ें कहीं गहरी हैं

समाज और राज्य की अलग अलग भूमिका और इन दोनों के आपसी सम्बन्ध हमेशा दार्शनिक बहस का मुद्दा रहा है। इस विषय पर पश्चिमी चिन्तन बहुत सीमित अनुभूतियों और अवधारणाओं पर टिका हुआ दिखता है। पश्चिमी दर्शन के मूल में या तो किसी समाज के किसी दूसरे द्वारा जीत लिए जाने का कोई ऐतिहासिक तथ्य होता है या यूरोप में प्राचीन काल से नागरिकों और गुलामों के बीच स्थापित हुए रिश्तों की अवधारणा या फिर सिद्धांत कि जिनके हाथों में उत्पादन और विकास के साधन होते हैं, वही राज्य को चलाया करते हैं।

लेकिन भारत में राज्य की कल्पना कुछ अलग अवधारणाओं पर आधारित रही है। महात्मा गांधी जो सामुद्रिक वृत्तों की तरह व्यक्ति को केन्द्र में रखकर फैलते हुए राज्य की बात किया करते थे, वह शायद राज्य की ऐतिहासिक भारतीय कल्पना से ही निकली थी । गांधीजी को इस भारतीय कल्पना की सहज अनुभूति ही रही होगी। उन्होंने भारतीय इतिहास में बहुत खोजबीन कर यह सब नहीं निकाला होगा। लेकिन भारत के इतिहास पर आजकल हो रहे शोध से गांधीजी की भारतीय समाज के बारे में सहज समझ की पुष्टि होती ही दिखाई देती है।

दो सदियों के ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज और राज्य के आपसी रिश्ते बिल्कुल छिन्न भिन्न हो गए। उत्तर और पश्चिम भारत के बहुत सारे हिस्सों में तो राज्य के समाज से अलग पड़ने की प्रक्रिया, इन इलाकों के मुस्लिम शासकों के अधीन आने के साथ ही शुरू हो गई थी। बहुत हद तक मुस्लिम शासकों के तौर तरीके गैर भारतीय अवधारणाओं पर आधारित थे। मुस्लिम शासित इलाकों में राज्य और समाज के आपसी संबंधो के टूटने से , दोनों एक दूसरे से अलग होकर, एक दूसरे को किसी तरह झेलते हुए रहे और आखिरकार इस टूटन से समाज और राज्य दोनों ही कमजोर हुए, दोनों का विकास अवरुद्ध हुआ । भारत के यूरोप से हारने और भारतीय़ समाज के यूरोपीय आधिपत्य में आने का बड़ा कारण राज्य और समाज की यही कमजोरी और ओजहीनता ही रही होगी।

लेकिन भारत पर यूरोप की जीत का असर इससे कहीं ज्यादा गहरा था। यह ठीक है कि यूरोप के लोगों ने हमारी सभ्यता और हमारे लोगों का वैसा विनाश नहीं किया जैसा कि उन्होंने अमेरिका के लोगों और उनकी सभ्यता का किया था। वहां की तो पूरी की पूरी सभ्यता और विशाल जनसंख्या खत्म ही कर दी गई। आजकल यह हिसाब लगाया जाता है कि सन् १५०० के आसपास अमेरिका की आबादी दस करोड़ के करीब रही होगी। उस समय वह संख्या सारे यूरोप में जितने लोग रहते थे, उससे ज्यादा बैठती है। अमेरिका की इस सारी आबादी में से कोई भी नहीं बच पाया। भारत में ऐसा नरसंहार नहीं हुआ। लेकिन यूरोप के हाथों भारत की हार के जो नतीजे निकले हैं, वे अमेरिका की हार से कम प्रलयंकारी नहीं दिखते।

यूरोप के अधीन आने पर न सिर्फ भारतीय शिष्ट समाज और आम लोग एक दूसरे से बिलकुल कट गए बल्कि बराबर के लोग भी एक दूसरे से अलग अलग, छोटे छोटे टुकड़ों में बँटते गए। हालात ऐसे थे कि किसी तरह जीवन चलाए रखने के लिए समाज के टूटे हुए टुकड़ों को अपने आप में सिमटते जाना पड़ा। असल में, ब्रिटिश प्रशासन की नीतियों के चलते भारत में समाज नाम की चीज का अस्तित्व ही खत्म हो गया। कायरता, दरिद्रता और अव्यवस्था भारत में सभी ओर व्यापने लगी।

दूसरी तरफ राज्य, समाज के प्रति अपनी सारी जिम्मेदारियां छोड़ बैठा। राज्य का न कोई उद्देश्य बचा और न ही उसके काम की कोई दिशा रही थी। नतीजतन लोगों में थोड़ी सी भी हलचल होने पर राज्य को लगता था कि उन पर बहुत बड़ा खतरा खड़ा हुआ है और राज्य किसी भी क्षण चरमरा कर ढह सकता है। ब्रिटिश प्रशासकों ने भारत में जो राज्य स्थापित किया था, उसके इतना कमजोर और क्षणभंगुर होने का डर उनके मन में १८२० के आसपास से समाया रहा हो या कि १८५७-५८ से वे इस बारे में डरते रहे हों या फिर १८९३ में जब देशभर में गौ-हत्या के विरुद्ध आन्दोलन फैल रहा था, तब से उन्हें ऐसा डर लगा हो या १९३०-३१ में नमक सत्याग्रह के दिनों उन्हें लगता हो कि उनका राज्य कभी भी ढह जाएगा। इस सबके दौरान ब्रिटिश शासकों का राज्य की स्थिरता के बारे में आशंकित रहना समझ में आता है। लेकिन यह समझना मुश्किल है कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद और स्वतंत्र भारतीय राज्य की स्थापना के बाद भी यह डर कैसे बना रहा कि समाज में किसी भी हलचल से राज्य खतरे में पड़ जाएगा। राज्य की क्षणभंगुरता के बारे में ऐसा ही डर अब भी बना हुआ है। इस डर का मतलब यही हो सकता है कि भारतीय राजतंत्र के मूल में कहीं गम्भीर गड़बड़ है।

राज्य समाज और उसके लोगों का मुख्य उपकरण होता है। इसलिए जब हमें

आजादी मिली तो हमारा पहला काम यही होना चाहिए था कि किसी तरह राज्य और समाज के रिश्तों को दोबारा जोड़ा जाए। ऐसा करने का एक देसी तरीका था। इस तरीके पर चलने के लिए हमें राज्य और उसके संस्थानों को ऐसे मूल्यों और नियमों के अनुरूप ढालना चाहिए था, जिन्हें भारतीय लोग समझ सकते और जो उन्हें धर्म पर आधारित दिखते। लेकिन समाज और राज्य के रिश्तों को स्थापित करने का एक दूसरा यूरोपीय रास्ता भी था। यह रास्ता अपनाने के लिए हमें राज्य को इतना सक्षम और ताकतवर बनाना पड़ता कि वह भारतीय लोगों को समझा बुझा कर, या फिर हिंसा और आतंक बरत कर, उन्हें अपने तौर तरीके और अपने मूल्यों मान्यताओं को बदलने पर मजबूर करता। परन्तु सम्भवत: किसी समाज के मूल बाशिंदों को पूरी तरह नष्ट किए बिना, उस समाज के तौर तरीकों और मूल्य मान्यताओं को बदलना मुमकिन नहीं हुआ करता।

भारतीय राज्य, या ठीक से कहा जाए तो वे लोग जिनके हाथ में भारतीय राज्य की बागड़ोर आ पहुँची थी, ऊपर के दोनों रास्तों में से किसी को भी चुनने को तैयार नहीं थे। उन्होंने तो निष्क्रियता, निठल्लेपन और आलस का ही रास्ता चुना। वे लोग समाज और लोगों के बारे में सब कुछ भूल कर कुछ इस तरह राज्य को चलाने लगे जैसे कि राज्य का एकमात्र काम सिर्फ अपने को बनाए रखना और किसी तरह राज्य की सेवा में लगे हुए कर्मचारियों एवं अन्य लोगों की देखभाल करते रहना ही हो। जो लोग राज्य की सेवा में लगे हैं, वे भी ज्यादातर अर्थहीन गुलामी में फँसा दिए गए हैं। उन्हें ब्रिटिश विरासत में मिली उबाऊ और निकम्मी सरकारी प्रक्रियाओं को किसी कर्मकांड की तरह दोहराये जाना होता है। ब्रिटिश शासन के दौरान शायद इस कर्मकांड से ब्रिटिश साम्राज्य का कोई महती उद्देश्य पूरा होता होगा, लेकिन नए स्वतंत्र भारत में तो यह सब भद्दा और अमानवीय ही दिखाई देता है। स्वतंत्र भारत के कर्णधारों को भी, भारतीय लोग और उनके तौर तरीके और उनकी रुचि अरुचि वगैरह सब, राज्य के प्रवाह में अड़चनों के रूप में ही दिखाई देती थीं। राज्य के लिए समाज और उसके लोग, फिजूल सिरदर्द जैसे दिखने लगे। लगता है कि चालीस साल के स्वतंत्र भारतीय राज्य की मुख्य उपलब्धि बस यही है कि यह राज्य बिना किसी भारी दुर्घटना के इतना अरसा निकाल गया। दु:ख, दारिद्र्य, अव्यवस्था और निर्दयता सब कुछ अभी भी चारों ओर व्याप्त है और जीवन की गरिमा का कहीं कोई लिहाज नहीं है। इसको समझने के लिए हमारे पास दर्शन, इतिहास और समाजशास्त्र से ढूँढ़ कर लाई गई अनेक दलीलें हैं। कभी हम इसके लिए पूर्व जन्मों के कर्मों को दोषी ठहराते हैं, कभी कार्ल मार्क्स के साथ यह मानकर

चलने लगते है कि दु:ख और दारिद्र्य तो भारतीय समाज में हमेशा ही चले आए हैं और कभी हम यह सोचकर मन बहला लेते हैं कि यह दु:ख तो यूरोपीय तर्ज के समृद्ध सम्पन्न औद्योगिक समाज के प्रकट होने के पहले की प्रसव पीड़ा मात्र है।

हमारी गलती की जड़ें शायद कहीं बहुत गहरे समाई हैं। आजादी के पहले जो सौदेबाजी और समझौते हुए थे, उनका आजादी के बाद जो कुछ हुआ, उस पर गहरा प्रभाव रहा है। ब्रिटिश लोग हमें आजाद नहीं कर रहे थे, उनके शब्दों में कहा जाए तो वे सिर्फ सत्ता का हस्तान्तरण कर रहे थे। इस हस्तान्तरण को करते हुए जो सौदेबाजी उन्होंने की, उसका मुख्य उद्देश्य यह था कि सत्ता उनके हाथ से निकल कर किन्हीं ऐसे लोगों के पास न पहुँच पाए, जो बहुत अस्पष्ट रूप से ही सही, लेकिन फिर भी भारतीय होने और भारतीय मूल्यों और तौरतरीकों का प्रतिनिधित्व करने का दम भरते थे। अंग्रेजों ने खूब कोशिश करके सत्ता सन्तुलन को उन पश्चिमीकृत लोगों के पक्ष में करने की कोशिश की जो भारतीय समाज से बिलकुल कट चुके थे। लेकिन यह भारतीय समाज से उखडे हुए पश्चिमीकृत लोग रातोंरात पैदा नहीं हो गए थे। एक सदी या उससे भी ज्यादा समय से ये लोग भारतीय परिदृश्य का हिस्सा बने हुए थे और उनकी संख्या लगातार बढ़ते ही जा रही थी। लगता है १८२९ तक तो ये लोग भारतीय समाज में पैदा हो ही चुके थे। उस साल ब्रिटिश गवर्नर जनरल बेंटिक ने ऐसे लोगों के बारे में लिखा था, 'पहले के दिनों में जो पैसा भिखारियों और ब्राह्मणों में बाँटने पर खर्च किया जाता था उसका बड़ा हिस्सा अब अक्सर यूरोपीय लोगों का आडंबरपूर्ण मनोरंजन करने में लगाया जाता है।' बेंटिक को यह सूचना भी मिली थी कि 'फिजूल दान दक्षिणा पर होने वाला खर्च' अब क़ाफी कम हो गया था और यह जानकर उसे काफी सन्तोष हुआ था। सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में जब क्षत्रिय, कायस्थ और दूसरे ऊँचे वर्गों के बहुत सारे लोगों ने मुगल दरबार के तौर तरीकों और आचार व्यवहार को अपना लिया था, तब भी शिष्ट समाज भारत के समाजतंत्र से इसी तरह कट गया होगा। यहां तक कि मराठे भी, जो अठारहवीं सदी में कई दशकों तक मुगल दरबार पर छाए रहे, समाज से टूटने की इस प्रक्रिया से बच नहीं पाए थे।

पश्चिमी आधुनिकता की तकनीकों और उपकरणों के आने के वाद, शिष्ट लोगों के, मूल समाज से टूटने की प्रक्रिया और भी तेज हो गयी। इस सब का नतीजा यह हुआ की वीसवीं सदी के आते आते हम लोगों ने भारतीय सभ्यता, भारतीय लोगों, और यहां तक कि अपने ही निकट सम्बन्धियों को उसी दृष्टि से देखना शुरू कर दिया जिस दृष्टि से अठारहवीं सदी के अन्तिम वर्षो के आसपास से पश्चिम के लोग हमें देखते आए थे।

कार्नवालिस, विलियम विल्बरफोर्स, जेम्स मिल, थॉमस बेबिंग्टन मैकाले, कार्ल मार्क्स और बहुत सारे दूसरे पश्चिमी प्रशासकों, विद्वानों वगैरह ने भारतीय जीवन की निकृष्टता और भारतीय सभ्यता के घटियापन के बारे में जो फतवे दिए थे, वे समय पाकर हमारे अपने फतवे बन गए। बीसवीं सदी में भारतीय इतिहास, भारतीय समाज और उस समाज के ज्ञानविज्ञान के बारे में जो किताबें लिखी गई हैं, वे पश्चिमी विद्वानों और भारतविदों के विचारों का ही अनुसरण करती हैं। इन किताबों में जो थोड़ी बहुत विविधता दिखाई देती है, उसमें भी कुछ मौलिक नहीं है। पश्चिमी विद्वानों ने भारत के बारे में अपने विचारों को अलग अलग तरीकों से पेश किया था, लेकिन वे सब इस पर एक मत थे कि भारतीय जीवन निकृष्ट है और भारतीय सभ्यता निचले दर्जे की। इन विद्वानों के प्रस्तुतीकरण में जो विविधता है, वही आगे चल कर भारतीय लेखकों की किताबों में प्रकट हुई है।

भारतीय शिष्ट समाज का अपने आपसे इस तरह कटे हुए होने का प्रभाव, १९४७ से पहले की उन सब रचनाओं में भी दिखाई देता है जिनमें हमें कुछ बौद्धिक कौशल, विद्वत्ता और स्वतंत्र पहल दिखाने का मौका मिल सकता था। बाल गंगाधर तिलक जैसे महान देशभक्त ने इण्डोआर्यन लोगों के मूल रूप से स्कैंडीनेविया से आने का जो सिद्धांत बनाया था, वह भारतीय लोगों का अपने समाज से उखड़कर, दिग्भ्रमित हो जाने का ही उदाहरण है। १९३८ में राष्ट्रीय कांग्रेस ने जो राष्ट्रीय योजना समिति बनाई थी और जिसमें कम से कम दो सौ प्रमुख भारतीयों ने हिस्सा लिया था, उसके काम में भी यही, समाज से कटे होने का, प्रभाव दिखाई देता है। इस समिति का काम और समिति के निष्कर्ष के पीछे की सोच और चिन्तन में जो यांत्रिकता और घटियापन दिखाई देता है, वह शायद हमारे दिग्भ्रमित होने का और भी स्पष्ट सबूत है। १९२० तक तो भारत के सभी विद्वान और सम्पन्न लोग यह मानने लगे ही थे कि भारत के ज्यादातर लोग अंधविश्वासी, पुराणपंथी, जातपाँत में बँटे हुए, तकनीकी स्तर पर मूर्ख और सांस्कृतिक स्तर पर उजड्ड है।

१९२० से १९४७ तक महात्मा गांधी के उत्थान के दौर से ऐसा लगने लगता है कि जैसे आम भारतीय को उसका साहस और उसकी गरिमा वापस मिल गई हो और अब उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। कम से कम सार्वजनिक स्तर पर तो उसे भुलाना मुमकिन नहीं था। इस दौर में आम भारतीय के 'अंधविश्वास' और 'मूर्खताएं' वगैरह भी सद्गुणां जैसी दिखाई देने लगी थीं। चरखा, चक्की, धानी, वगैरह जैसे उसके उपकरण, जिन्हें तब तक हिकारत की निगाह से देखा जाता था, अब सात्त्विकता के

प्रतीक और स्वतंत्रता के हथियार दिखाई देने लगे थे। असल में इन सब चीजों के बारे में सारे समाज में एक व्यापक खुशफहमी फैलने लगी थी और बहुतों से यह उम्मीद जगी थी कि सात्विक सादे जीवन का एक नया सतयुग अब आने ही वाला है।

लेकिन स्वतंत्रता पाते ही यह खुशफहमी दूर हो गई। भारत को आजाद करवाने, भारतीय लोगों का अपने देसी उपकरणों और उत्पादनों में विश्वास जगाने और उनको आजादी पाने के लिए एक जुट होकर खड़ा करने में इस खुशफहमी का काफी बड़ा हाथ रहा था। लेकिन सिर्फ इस खुशफहमी से उस सबको दोबारा जागृत नहीं किया जा सकता था जिसे पिछले डेढ़ दो सौ सालों के दौरान बहुत सोच समझ कर नष्ट किया गया था। एक अभूतपूर्व नेता के आह्वान पर लोगों में पैदा हुई कल्पनातीत देशभक्ति के उभार से समाज के टूटे हुए टुकड़े किसी तरह एक बार फिर जुड़कर सामने आए थे और उनके इस जुड़ने से एक बड़ा उद्देश्य पूरा हो सका। लेकिन स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान जो समाज बहुत सक्षम और काम का दिखाई देने लगा था, वह स्वतंत्रता प्राप्त होते ही चरमरा गया। शायद यह ठीक से समझा नहीं गया था कि भूतकाल की तकनीकों के ये टुकड़े एक बिलकुल अलग तरह की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था के अंग थे और उसी व्यवस्था में इनका कुछ उद्देश्य या मतलब हो सकता था। या शायद हम ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय समाज के विनाश की व्यापकता का अंदाज नहीं लगा पाए थे और आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अवधारणाओं का भारत की मूल अवधारणाओं से बिलकुल उल्टा होने की बात को समझ नहीं पाए थे।

ब्रिटिश प्रशासन में भारत का भारी शोषण हुआ। इस शोषण के कारण हमारी हस्त कलाएँ और हमारे उद्योग नष्ट हो गए। कृषि और पशुपालन के धंधों में दारिद्य व्याप गया। लेकिन भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर इस शोषण का प्रभाव और भी भयंकर हुआ। सरसरी तौर पर हमें भारत के आर्थिक शोषण की कुछ जानकारी जरूर है, लेकिन भारतीय समाज को छिन्न भिन्न करने में ब्रिटिश शासन की भूमिका को हम कुछ खास नहीं समझ पाए हैं।

बहुत पुरातन काल से भारतीय लोगों ने मुख्यतः तीन तरह की इकाईयों में अपने आपको व्यवस्थित कर रखा था। इनमें एक तो गाँव, मुहल्ले, कस्बे या तीर्थ स्थान जैसी स्थानीय इकाईयाँ थीं, दूसरी जाति व्यवस्था की इकाइयाँ थीं और तीसरी अलग अलग दस्तकारियों और धंधों के अनुसार बने पेशेवर समूह की इकाइयाँ थीं। लेकिन ये सभी इकाइयाँ एक दूसरे से बिलकुल अलग अपने में एकांतिक समूह नहीं हुआ करती थीं। हर व्यक्ति किसी गाँवमुहल्ले में रहता था, वह किसी जाति या कुनवे का सदस्य भी होता

था और किसी न किसी पेशेवर समूह के साथ भी जुड़ा ही रहता था। व्यक्ति की तरह ही उसकी स्थानीय, जातिगत और पेशेवर इकाइयाँ भी अपनी तरह की दूसरी इकाइयों के साथ जुड़ी रहती थीं। जिन जिन परिस्थितियों में किसी एक तरह के समूह को दूसरे समूहों के साथ तालमेल बनाने की जरूरत पड़ती थी, उन परिस्थितियों में ऐसा तालमेल भी होता रहता था।

ब्रिटिश प्रशासन के दौरान यह सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो गई। इस व्यवस्था में इकाइयों के दूसरी इकाइयों के साथ रिश्ते टूट गए। उनके साधनों का आधार खत्म कर दिया गया। नई कानूनी व्यवस्था की दृष्टि से इन इकाइयों की कोई वैधता नहीं रही। भारतीय व्यवस्था की ये टूटी हुई वंचित इकाइयाँ फिर अपने आप में सिकुड़ने लगीं और समय के साथ, वे आज जैसी दिखाई देती हैं वैसी जड़, विकृत और प्राणहीन इकाइयों के रूप में परिवर्तित हो गईं। पश्चिमी विद्वानों ने भारत के बारे में जो लिखा है और भारतीय व्यवस्था के बारे में जिस तरह के फतवे दिये हैं, उनसे भारतीय व्यवस्था की यह टूटी हुई प्राणहीन स्थिति ही, भारत की सनातन स्थिति लगने लगी है। इन फतवों से और उन पर हमारे एकनिष्ठ विश्वास के कारण, इस विकृत व्यवस्था वाली स्थिति को ही हमने सच मान लिया है और उसे ही प्रतिष्ठा और वैधता मिलने लगी है।

इसमें तो कोई शक नहीं हो सकता कि लोग गांव मुहल्लों और कस्बों शहरों जैसे स्थानीय समूहों में जुड़कर रहते हैं। आम आदमी किसी समूह या किन्हीं समूहों के सदस्य के रूप में ही अपने आपको सुरक्षित महसूस कर पाता है, सामाजिक समूहों का सदस्य बनकर ही वह खुश रह पाता है। भारतीय लोगों का गांवों और छोटे छोटे कस्बों में मिलकर रहने का अपना एक विशेष तरीका था। वे अपने सम्बन्धियों के साथ जुड़कर रहना पंसद करते थे। परन्तु अपने देश में सभी भारतीयों के किसी एक या दूसरी जाति के साथ होने का अर्थ यह कभी नहीं रहा कि वे जाति का सदस्य होते हुए भी कहीं दूसरे आधारों पर बने गुटों और समूहों में हिस्सा नहीं लेते थे। विद्वत्तापूर्ण सांस्कृतिक रुचियों, आध्यात्मिक और धार्मिक शिक्षाओं, तकनीकी और दूसरी विशेषताओं, वगैरह के आधार पर विभिन्न समूह बनते ही रहते थे। लेकिन इन समूहों के साथ जुड़ाव किसी व्यक्ति के जीवन में तात्कालिक महत्त्व का ही होता था, जबकि उसकी जाति और उसका गांव-मुहल्ला ऐसी चीजें थीं, जिनके साथ वह अपने को हमेशा हमेशा के लिए जुड़ा हुआ पाता था। कुछ ही समय पहले तक दुनिया के बाकी सब लोगों को भी अपने इलाके और कुनबे के बारे में ऐसी ही भावनाएँ हुआ करती थीं।

नया भारत बनाने के बारे में सोचते वक्त राजतंत्र ने भारतीय आदमी की अपने

गांव और अपनी जाति के साथ जुड़े रहने की इस पसंद को बिल्कुल नजरअन्दाज कर दिया है। इसी तरह हमने उसके ज्ञानविज्ञान और तकनीकी कौशल को भी नजरअन्दाज किया है। हमने उसे एक निर्जीव प्राणी के अलावा और कुछ नहीं समझा। इस राजतांत्रिक चिन्तन के मुताबिक, इस भारतीय सोच और कौशल का नए भारत को बनाने के काम में कोई योगदान नहीं हो सकता। हाँ, दो सौ सालों के दारिद्य्र और भूख के बाद, उसके शरीर में जो थोड़ी बहुत शारीरिक शक्ति बची है, उसका इस्तेमाल देश निर्माण के काम में भले ही कहीं हो जाए। हमारे पास खुद कोई बड़ा आदर्श नहीं है। नतीजतन हम आम भारतीयों के सामने कोई ऐसा आदर्श या विचार नहीं रख सके, जिसे पूरा करने में उनकी रचनात्मक और बौद्धिक क्षमताएँ फल फूल सकें।

ब्रिटिश शासन के पराएपन और इससे हुई तोड़फोड़ और दारिद्य्र के फलस्वरूप, विभिन्न जातियों में बने हुए पुराने रिश्ते भी टूट गए। यह ठीक है कि पुरातनकाल से जातियों को वर्णव्यवस्था के अनुसार श्रेणीबद्ध करने की कोशिशें की गई थीं। कहा नहीं जा सकता कि ये कोशिशें किन किन क्षेत्रों में किस किस काल में कहाँ तक सफल रहीं। सम्भावना यही दीखती है कि इन कोशिशों से ब्राह्मणों को, धन और राजनैतिक ताकत के क्षेत्र में तो नहीं, लेकिन रीति रिवाज और पांडित्य के मामले में जरूर सर्वोच्चता मिल गई थी। वर्णव्यवस्था के बाकी हिस्सों का, जातियों के आपसी सम्बन्धों पर कोई अलगाव जैसा प्रभाव हुआ नहीं दीखता। बहुत प्राचीनकाल से कुछ थोड़े से लोग ऐसे जरूर थे जिन्हें अंत्यज समझा जाता था। लेकिन बाकी सभी की राजनैतिक और आर्थिक ताकत में सीधी हिस्सेदारी थी। बड़े बड़े राजाओं की विभिन्न जातियों की महिलाओं से शादियों की कहानियाँ मिलती हैं। सभी जातियों से महिलाएँ और पुरुष, महान सन्तों के पद पर पहुँचते रहे हैं। अठारहवीं सदी के आखिर तक ज्यादातर राजा और राजनैतिक मुखिया लोग गैर द्विज जातियों से ही हुआ करते थे। ये सब बातें, सभी जातियों के समाज में सम्मान और अधिकार पाने की ओर ही संकेत करती हैं। भीष्म पितामह के पिता ने एक मछुआरे की बेटी से शादी की थी। मछुआरे ने शादी की अनुमति देने से पहले यह वायदा करवाया था कि उसकी बेटी का पुत्र राज्य का उत्तराधिकारी होगा। अपने पिता के इस वायदे को पूरा करने के लिए ही भीष्म को उम्र भर ब्रह्मचर्य का व्रत निभाना पड़ा था।

भारतीय समाज व्यवस्था के टूटने, समाज में दारिद्य्र फैलने और अंग्रेजों की समाज को ऊँच नीच के मुताबिक श्रेणीबद्ध करने की पुरानी लत के कारण, जातियों में ऊँच नीच का नया चलन शुरू हुआ। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक ब्रिटिश समाज बहुत

ही सूक्ष्मता से श्रेणीबद्ध था और ब्रिटेन में हमेशा ऊँचे और नीचे लोगों की बातें हुआ करती थीं। इसलिए ब्रिटिश प्रशासकों ने मनु संहिता के वर्णव्यवस्था से सम्बन्धित अंशों को खूब महत्त्व दिया। भारत के दूसरे धर्म ग्रन्थों से भी इसी तरह के हिस्से निकाल कर सामने लाए गए। ब्रिटिश अदालतों ने भारतीय समाज में श्रेणीबद्ध ऊँच नीच की व्यवस्था को वैधता देने के लिए, संहिताओं के इन अंशों का खूब इस्तेमाल किया। बाद में जनगणना के जरिए जातियों की ऊँच नीच के हिसाब से सुसज्जित सूचियाँ तैयार की गईं। इन सूचियों ने भी जातियों के आपसी सम्बन्धों को विकृत करने और उनमें ऊँचनीच की बात को वैधता देने में बड़ी भूमिका निभायी। फलस्वरूप १८०० और १९०० के बीच दक्षिण भारत में ''परायी'' समझी जाने वाली जातियों की संख्या दस गुना बढ़ गई। यह बढ़ोत्तरी, जनगणना की सूचियों में विभिन्न दूसरी जातियों को ''परायों'' की श्रेणी में लाकर की गई। सूची बनाने के बहाने जातियों को ऊँचा और नीचा करने के ऐसे कई दूसरे उदाहरण मिल जाएँगे। भारतीय समाज भविष्य में जातियों में बँटा रहे या जातीय व्यवस्था बिल्कुल खत्म हो जाए, दोनों ही हालात में आज की स्थिति को दुरुस्त करना तो जरूरी होगा। ब्रिटिश शासन के दौरान फैली विकृति से पहले, जातियों के आपसी सम्बन्धों में एक गरिमा रहती थी। सम्बन्धों की इस गरिमा को दुबारा स्थापित करने से ही शायद, ये जातिगत समूह अपने आप दूसरे आधारों पर संगठित सामाजिक समूहों में बदल जाएँ।

हमने राष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर १९४७-४८ के आसपास, किसी भी तरह के आत्मनिर्भरता के विचार की अवहेलना करनी शुरू कर दी। अगर हमने ऐसा न करके अपने बलबूते पर इस राष्ट्र का निर्माण करने का कठिन रास्ता चुना होता, तो सम्भव है कि लड़खड़ाते हुए प्रशासनिक और कानूनी ढाँचे के साथ जो छिन्न भिन्न भारत अंग्रेजों ने हमें वापस किया था, उसमें भी आजादी के कुछ ही सालों बाद थोड़ी बहुत जान आ जाती और यह देश विभिन्न क्षेत्रों में अपने बनाए रास्तों पर आगे बढ़ने लग जाता। इस कठिन रास्ते को चुनने पर समाज के ऊँचे समृद्ध लोगों को अपनी आरामदेह जिंदगी जरूर छोड़नी पड़ती और इसलिए चार दशकों के दौरान बड़े शहरों में जो शानोशौकत और चमक दमक खड़ी की गई है, उससे शायद देश को वंचित रहना पड़ता। आत्मनिर्भरता का कठिन रास्ता चुनने पर शायद आज कोई ''विज्ञान भवन'' न होता, नई नई प्रशासनिक इमारतों के झुण्ड न होते, बड़े बड़े बाँध न होते, सितारा होटल न होते, नए नए सरकारी 'मेहमान घर' और 'सर्किट घर' न बनते, राजधानियों में इमारतें खड़ी करने के बड़े बड़े कार्यक्रम न होते और शायद सड़कों और रेल लाइनों के ऊपर से

गुजरते हुए बड़े बड़े आधुनिक पुल और उनके नीचे ऊपर तेज रफ्तार से चलती सुपरफास्ट गाड़ियाँ और मोटर कारें भी न होतीं। इनके बजाय हमने बड़े शहरों की सफाई का इंतजाम करने के काम को गम्भीरता से लिया होता, छोटे कस्बों की ठीक से देखभाल करने और उसमें जरूरी सुविधाएँ मुहैया करवाने के बारे में सोचा होला और अपने गांवों की ओर ध्यान दिया होता। ये गांव तो पिछले दो सौ साल से लापरवाही में सड़ते हुए देश के ध्यान के लिए चिल्ला रहे हैं।

शहरों के बजाय हमने गांवों कस्बों के विकास पर ज्यादा ध्यान दिया होता तो हमारे साधन और हमारा ज्ञानविज्ञान लोगों की जिंदगी को सुधारने के काम आ जाता। इस तरह का सुधार शुरू होने पर हमारे लोगों की सोई पड़ी क्षमताएँ, कलाकौशल, ज्ञानविज्ञान एक बार फिर जाग उठते और इनसे आम आदमी की रोजमर्रा की जिंदगी को सुधारने का काम और तेजी से चल निकलता। हो सकता है कि उस हालत में हमारे लोग पश्चिमी विज्ञान और तकनीक के विभिन्न पहलुओं को अपनी जरूरतों के मुताबिक ढाल कर अपने हिसाब से बरतना भी सीख जाते। देश के बचेखुचे साधनों और ज्ञानविज्ञान को बचाकर पुनर्जीवित करने की इस प्रक्रिया में देश के भौंडे अप्रासंगिक कानूनी और प्रशासनिक ढाँचे की खबर भी ले ली जाती और कुछ समय में इस ढाँचे को भारतीय समाज की जरूरतों के अनुरूप ढाल कर इसे देसी समाज की सेवा में लगा दिया जाता।

लेकिन क्योंकि हम कायर थे, हमें न अपने पर विश्वास था और न अपने लोगों पर, और क्योंकि हम पश्चिम की ताकत और उसकी बीसवीं सदी वाली चमकदमक देखकर आत्मविभोर हो चुके थे, इसलिए हमने भारत को पश्चिमी भाषणों, उपदेशों, पश्चिमी तौरतरीकों और पश्चिमी ज्ञानविज्ञान के लिए खुला छोड़ दिया। हमें वही सलाह और तकनीक वगैरह हासिल हुई, जिन्हें पश्चिमम ने हमें देने का फैसला किया था। इस सलाह और तकनीक के साथ सलाहकार, वैज्ञानिक, राजनैतिक चिन्तक, तकनीशियन और विकास विशेषज्ञ, वगैरह भी आए। बहुत सारे मामलों में कर्जो और अनुदानों के रूप में आर्थिक सहायता भी मिली। इस आर्थिक सहायता का बड़ा हिस्सा तो सलाहकारों और तकनीशियनों वगैरह की सेवाओं की कीमत चुकाने पर ही खर्च होता रहा। इस आर्थिक सहायता का जो अंश वास्तव में हमारे हाथ लगा और जिसे भारतीय साजो-सामान व भारतीय लोगों की तनख्वाहों वगैरह पर खर्च किया जा सका होगा, वह आज तक कभी भी हमारे नाम लिखे गए कर्जो और अनुदानों की राशि के एक चौथाई से ज्यादा नहीं रहा। विदेशों से मिलने वाली कुल आर्थिक सहायता प्रशासकों के पास

उपलब्ध साधनों के पांच से दस प्रतिशत से ज्यादा कभी नहीं रही। केन्द्रीय और राज्य सरकारों व स्थानीय संस्थाओं के बजट में विदेशी सहायता का प्रतिशत सिर्फ इतना ही रहता है। लेकिन यह थोड़ीसी विदेशी सहायता निश्चित करती रही है कि बाकी की नब्बे पिचानबे प्रतिशत सहायता किस तरीके से और किन कामों में बरती जाएगी। दूसरी तरफ सरकारी खर्च के तौरतरीके देश के बाकी बचे राष्ट्रीय उत्पाद के उपयोग की दिशा को निर्धारित करते रहे हैं। इस तरह देश के लोगों के पास बचे साधनों के उपयोग का ढंग इस बात पर निर्भर करता है कि सरकार किन मदों पर किस तरह खर्च कर रही है, और सरकारी खर्च की दिशा इस पर निर्भर करती है कि बजट का मात्र पाँच दस प्रतिशत सहायता के रूप में देने वाले विदेशी लोग, इसे किस दिशा में ले जाना चाहते हैं।

इस सारे दारुण व्यापार की मुख्य जिम्मेदारी, भारतीय राज्य पर और खास तौर पर इस राज्य से सम्बन्धित उन लोगों पर ही आती है जो आजादी के बाद से भारत की नीतियाँ निर्धारित करते रहे हैं। इन लोगों में से बहुत सारे आजादी के पहले से ही खुलेआम या निजी तौर पर सोवियत यूनियन समेत पश्चिम पर इस तरह की निर्भरता की वकालत करते आए थे। महात्मा गांधी पश्चिम के साथ इस तरह के सम्बन्धों के पूरी तरह विरोध में थे। कहा जाता है कि पश्चिमी तकनीकों और पश्चिमी तर्ज के औद्योगीकरण पर आधारित विकास के विचार से भी ज्यादा महात्मा गांधी इस निर्भरता को नापसन्द करते थे। अगर किन्हीं विशेष अवस्थाओं में भारत को पश्चिमी तकनीकों, पश्चिमी ज्ञानविज्ञान और पश्चिमी विशेषज्ञों की जरूरत थी, तो ये सब बाजार में पैसा खर्च कर खरीदे जाने चाहिए थे। आखिर पश्चिम का ज्ञान और पश्चिम के विशेषज्ञ वगैरह सब बिकाऊ माल ही तो हैं। फिर इस सबको हर हालत में भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप और अपने नियंत्रण के अधीन ही बरता जाना चाहिए था।

लेकिन गांधीजी के इस बारे में खूब सोचविचार कर दिए गए मशविरे को सिर्फ शासकीय ढाँचे में ही नजरअन्दाज नहीं किया गया; जो लोग अपने आपको शासन से कुछ दूरी पर रखे रहे हैं, उन्होंने भी अपने को स्वेच्छा से पश्चिमी साधनों और विचारों वगैरह पर इसी प्रकार निर्भर कर रखा है। शासकीय ढाँचे से दूर रह कर स्वयंसेवी काम करने की इच्छा रखने वाले इन लोगों की संख्या थोड़ी नहीं है। हो सकता है कि इन लोगों की विदेशी साधनों और विचारों पर निर्भरता से, भारतीय लोगों और उनके भविष्य को जो क्षति पहुँची है, वह शासन के विदेशी विचारों और साधनों पर निर्भर होने से हुई क्षति के मुकाबले मामूली ही हो। लेकिन इन स्वयंसेवी लोगों ने यह रास्ता अपना कर सरकार के इस रास्ते पर चलने की बात को वैधता प्रदान की है और सरकार की विदेश

पर निर्भरता की नीति को नैतिक मंजूरी दिलवा दी है। इन स्वयंसेवी लोगों में से ज्यादातर, शासकीय ढाँचे में जमे लोगों से अपने आपको नैतिक स्तर पर ऊँचा समझते रहे हैं। ये लोग अभी भी अपनी नैतिक ऊँचाई का दावा बनाए हुए हैं। इस दावे का आधार शायद यही है कि ये लोग आम आदमी के दुःखदर्द को ज्यादा गहराई से महसूस करते हैं। जो काम उन्होंने अपने जिम्मे लिए हैं, उन्हें वे शासनतंत्र के मुकाबले ज्यादा ईमानदारी से निभाते रहे हैं। और कुछ विशेष कार्यों को वे ज्यादा प्रभावशाली ढंग से और कहीं कम खर्चे में पूरा कर पाए हैं। लेकिन इन स्वयंसेवी लोगों की बड़ी पूँजी तो यही थी कि जिन लोगों के साथ वे काम करते थे, वे लोग कुछ हद तक इनके साथ एकात्मता महसूस करते थे - इन्हें अपने में से एक मान कर। ज्यों ही इन लोगों ने विदेशों से आर्थिक सहायता लेने और विदेशों के साथ सम्बन्ध बनाने का आसान रास्ता चुना, तभी उनकी भारत के लोगों के साथ यह एकात्मता भी खत्म हो गई। उन्होंने यह रास्ता शायद इसलिए पकड़ा होगा कि स्थानीय स्रोतों से साधन इकट्ठा कर पाना मुश्किल होता जा रहा था, या हो सकता है कि वे बिना किसी विशेष कारण के, बिना सोचे-समझे, शासन तंत्र द्वारा चुने रास्ते पर चल निकले हों। जो भी हो, इस तरह उन्होंने अपनी मुख्य पूँजी तो खो ही दी है। ऐसा नहीं कि उनके आम लोगों के साथ कोई रिश्ते बचे ही न हों। अभी भी ये स्वयंसेवी संस्थाएँ आम लोगों का कुछ थोड़ा बहुत भला तो करती ही रहती हैं। लेकिन इन संस्थाओं और आम लोगों के बीच का रिश्ता अब आजादी से पहले या आजादी के तत्काल बाद के कुछ सालों जैसा नहीं रहा। इनके बीच मानसिक सम्बन्ध टूट चुका है, स्वयंसेवकों और लोगों के उद्देश्यों में अब कोई तारतम्य नहीं रहा। अब इनका रिश्ता मुख्यतः दाता और याचक के बीच के रिश्ते जैसा ही है। इन स्वयंसेवी लोगों के अब भी शासनतंत्र के साथ झगड़े चलते रहते हैं, अब भी बहुत मामलों में ये अपने आपको शासन तंत्र से अलग पाते हैं, अब भी ये लोग अपने काम में ज्यादा निष्ठा और ईमानदारी का परिचय देते हैं। लेकिन इस सबके बावजूद अब वे देश की आम जनता का हिस्सा नहीं रहे। वे लोगों में से एक नहीं हैं, बल्कि शासन-तंत्र का ही एक अंग दीखते हैं। वे शासकीय प्रबन्धकों जैसे ही हैं। हाँ, इतना जरूर है कि ये उनके मुकाबले में कहीं कम साधन सम्पन्न हैं और अक्सर शासनतंत्र की छोटी मोटी शिकायत करते रहने पर मजबूर हैं।

आजादी के समय भारत के लोग बहुत बुरी आर्थिक स्थिति में थे और उनका सामाजिक ढाँचा छिन्न भिन्न था। ब्रिटिश शासन के दौरान भारत के प्राकृतिक और मानव संरचित साधनों का जो नुकसान हुआ, उसकी गणना नहीं की जा सकती। अगर

ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर भारत की जीत किसी सैनिक जीत जैसी ही होती, तो भारत भी ब्रिटेन और पश्चिम से भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था की जानबूझ कर की गई तोड़-फोड़ के लिए मुआवजा मांगने का हकदार होता। या अगर भारत दुनिया के दूसरे देशों को वैश्विक बंधुत्व के अपने आदर्श की ओर झुका पाता, तो मानवीय गरिमा और प्रकृति का सम्मान बनाए रखते हुए विश्व के साधनों को सारी दुनिया में बाँटकर बरत पाना सम्भव हो पाता। लेकिन इन दोनों में से कोई भी बात नहीं हुई। ऐसे में भारत के पास सिर्फ एक ही गरिमापूर्ण रास्ता बचा था कि अकेले ही अपने आदर्शों के अनुरूप अपनी राय बनाए। आत्मनिर्भरता के इस रास्ते पर चलना चाहे कितना ही कठिन क्यों नहीं होता, यह आजादी के पूर्व दो सौ सालों के भारतीय अनुभव से ज्यादा कठोर तो नहीं हो सकता था।

असल में ऐसे रास्ते पर चलना हम सबके लिए कहीं ज्यादा उत्साहवर्धक और आनन्ददायक हो सकता था। लेकिन हमने जानबूझ कर उस रास्ते पर चलने की सम्भावनाओं को मिटा डाला। इस देश के आम आदमी को तो वही एक सही रास्ता दिखाई देता होगा। फिर इस रास्ते को छोड़ने के क्या कारण हो सकते थे ? क्या समाज के वे ऊँचे लोग जिन पर विदेशी शासकों द्वारा बनाए प्रशासनिक ढाँचे को चलाने का भार आ पड़ा था, आजादी लाने तक बहुत बुरी तरह थक चुके थे ? या कि उन्हें आरामदायक जिंदगी बिताने की आदत हो गई थी ? या हम अपने लोगों से बिल्कुल कट कर पराये हो गए थे और असल में काले रंग के पश्चिमी साहिब ही बन गए थे ? इन सब प्रश्नों पर विचार करना होगा। इसके जवाब से शायद हमें विदेशों पर निर्भरता की इस वर्तमान प्रवृत्ति को उलटने की राह दिखाई दे जाए।

पश्चिम पर या किन्हीं दूसरे देशों पर निर्भरता के इस तरह के सम्बन्ध को तोड़ देने का मतलब यह नहीं कि हम अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे से बाहर हो जाएँ। बीमारी के बाद स्वास्थ्य लाभ करने के लिए अक्सर कुछ समय के लिए दूसरे से अलग हट कर अकेले में रहना जरूरी हो जाता है। अगर हमारी आज की हालत में हमारे लिए इस तरह अलग रहना जरूरी हुआ, तो हम इस तरह का इंतझाम कर ही लेंगे कि कुछ देर के लिए हमें अकेला छोड़ दिया जाए। लेकिन हमारा हमेशा मानव जाति के साथ बंधुत्व में विश्वास रहा है। विभिन्न देशों के लोगों में भाईचारे की सम्भावना ही नहीं, इसकी अनिवार्यता पर हमें इतना यकीन रहा है कि दूसरों के साथ सम्बन्ध और हमदर्दी बनाए रखना हमें अपने आप में ही एक अच्छी भावना लगती है। लेकिन किसी भी सभ्यता को दूसरों पर निर्भर होना पड़े, किसी सभ्यता को दूसरों के सांचे में अपने को ढालना पड़े, यह बात तो हमारे

मूल्यों के साथ मेल नहीं खाती। अपने लंबे इतिहास में हमने कभी दूसरों पर इस तरह की निर्भरता थोपने की कोशिश नहीं की। हमारे लिए सभी सामाजिक अभिव्यक्तियाँ अपने आप में सही हैं, हर एक का अपना महत्त्व है, हर अभिव्यक्ति अपने विशेष सन्दर्भ में वांछनीय है।

पर अब हम बिल्कुल चिकने घड़े हो गए हैं। यूरोपीय अनुभव की तार्किकता से हम इतने विभोर हुए हैं कि भारत के लोग सैकड़ों सालों से जो अपमान और बेइज्जती का भाव झेलते आए हैं, उसे हम देख ही नहीं पाते। इस अपमान की शुरुआत उत्तरी और पश्चिमी भारत के बड़े हिस्सों पर इस्लाम धर्म का दम भरने वाले आक्रमणकारियों की जीत से हुई। इन विजेताओं ने भारत के इस हिस्से को बिल्कुल तहसनहस कर दिया। बहुत देर तक भारत के दूसरे हिस्सों पर इसी तरह की बर्बादी ढाए जाने का डर बना रहा। इस्लामी आक्रमणकारियों की यह जीत अब इतिहास का अंग है और उसे शायद अब भुला ही दिया जाना चाहिए। लेकिन उस जीत से ऐसी बहुत सी चीजें भी नष्टभ्रष्ट हुईं, जिन्हें उस समय के भारतीय लोग पवित्र मानते थे और जिन्हें उनके बाद आने वाली आज तक की अनेक पीढ़ियाँ पवित्र मानती आई हैं।

आक्रमणकारियों ने पवित्र स्थानों को सिर्फ तहसनहस ही नहीं किया, बल्कि उन्हीं पुरानी पवित्र जगहों पर मस्जिदें और मकबरे वगैरह भी खड़े किए। ये मस्जिदें और मकबरे धार्मिकता या पवित्रता के नहीं, सिर्फ जीत और आतंक के प्रतीक हैं। प्राचीन पवित्र स्थलों का भ्रष्ट किया जाना और उन्हीं स्थलों पर मुस्लिम साम्राज्यवाद की प्रतीक मस्जिदों वगैरह का खड़े होना, आज भी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच द्वेष का मुख्य कारण बना हुआ है। देश में उचित जगहों पर मुस्लिम लोगों की अच्छी खासी आबादी है और जिन जगहों का हिन्दुओं के लिए कोई विशेष धार्मिक महत्त्व नहीं है, वहाँ बनी मस्जिदों से किसी हिन्दू का दिल दुखने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं हो सकता। १९४७ में भारत के विभाजन से हिन्दू मुस्लिम द्वेष की समस्या और भी गहरी हो गई है। आजकल बहुत सारे मुस्लिम नेताओं में कुछ इस तरह का बर्ताव करने का चलन हो रहा है जैसे कि इन नेताओं की मूल निष्ठा इस देश - जहाँ मुसलमानों की बहुसंख्या रहती है और जहाँ उनके दादा परदादा रहते आए हैं - के साथ न होकर, अंतर्राष्ट्रीय इस्लाम की किसी गैरदेशीय अवधारणा से हो। मुस्लिम नेताओं के इस व्यवहार से मुस्लिम समस्या और बिगड़ी है।

हमारा यह दुर्भाग्य है कि हमारे आज के समाज में इस तरह की समस्याओं पर खुलकर बात नहीं की जाती। जो भी लोग अपमान और गुलामी के किसी दौर से जब

आजाद होकर निकलते हैं, तो वे अपने बृहद् समाज में गरिमा और समानता के भाव को दुबारा स्थापित करने की कोशिश करते ही हैं। आजादी पाने का मतलब ही यही होता है कि बहुसंख्यक समाज अपनी गरिमा को दुबारा प्राप्त करे। जो लोग अभी तक दबे हुए और पिछड़े हुए थे, वे जब अपनी गरिमा वापस लाने की कोशिश करते हैं, तो समाज की स्थापित व्यवस्था में कुछ गड़बड़ जरूर होती है। खासकर जो लोग आजादी से पहले शासक समाज के हिस्से थे और अपने आपको शासक समाज से जुड़ा हुआ समझते थे, उन्हें आजादी के बाद की गड़बड़ी से कुछ नुकसान भी उठाना ही पड़ता है। किसी भी समाज के आजाद होने के बाद ये सब नतीजे निकलते ही हैं। अगर इन नतीजों को ठीक से न समझा जाए तो इस उथलपाथल से भारी अव्यवस्था भी फैल सकती है।

हिन्दुओं का यह कर्तव्य था कि वे भारतीय राज्य की भूमिका और समाज के साथ अल्पसंख्यकों के रिश्ते पर गम्भीरता से विचार करते। यह ठीक है कि आजादी के तुरन्त बाद के दौर में इन सवालों पर विचार करना बहुत आसान नहीं था। लेकिन अगर ऐसा किया जाता तो हिन्दू समाज अल्पसंख्यक कहे जाने वाले समुदायों को अभय देने और उन्हें भारत की मूल सामाजिक राजनैतिक धारा से जोड़ने का तरीका ढूँढ़ लेता। इस तरह के किसी तरीके पर विचार न करना ही हिन्दू समाज की अकेली गलती नहीं रही। इसकी सबसे बड़ी गलती तो शायद इसके कायर और डरपोक होने में ही है। इसी कायरता के कारण हम लोग इस बात पर खुलकर विचार नहीं कर पाते कि समाज में विभिन्न समुदायों के रिश्तों को कैसे बदला जाए ताकि भारतीय समाज एक बार फिर स्वस्थ दीखने लगे। हम उन नियमों और मूल्यों पर बात ही नहीं करना चाहते जिनसे विभिन्न समुदायों के आपसी रिश्ते परिचालित होने चाहिए। ये सब नियम और मूल्य हमें अपनी संस्कृति और परम्परा के आधार पर ही गढ़ने होंगे। दूसरे देशों और दूसरी सभ्यताओं से उधार लिए गए मूल्य किसी काम नहीं आ सकते।

यह खुशी की बात है कि कुछ मुस्लिम नेता अब (१९८६ में) कहने लगे हैं कि हमें भारत के पाँच हजार साल के इतिहास को अपना इतिहास मानना चाहिए और 'जो शासक अपने आपको मुस्लिम कहा करते थे, उनके सभी कार्यों पर तालियाँ बजाने की प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए।' १९८० में मुस्लिम नेताओं से इसके बिल्कुल विपरीत बात सुनाई पड़ी थी। तब एक मुस्लिम नेता ने कहा था कि 'भारतीय मुसलमान अन्तर्राष्ट्रीयता के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। मुसलमान एक अन्तर्राष्ट्रीय धार्मिक सांस्कृतिक समुदाय हैं, जो इस्लाम के सर्वव्यापी रिश्तों से एकदूसरे से बंधे हैं।' इस बयान में मुसलमानों के समुदाय को एक 'बहुराष्ट्रीय कंपनी' की उपमा दी गई थी।

१९८० के इस बयान के मुकाबले १९८६ का ऊपर वाला बयान कहीं ज्यादा स्वागत योग्य है और खासकर मुसलमानों को इसका स्वागत करना चाहिए। लेकिन इस मामले में अभी बहुत आगे बढ़ने की जरूरत है। अगर हम तेजी से इस बारे में कुछ नही करते, तो हम अपने लोगों के दारिद्र्य को बढ़ाते ही रहेंगे। जब तक यह मामला सुलझाया नहीं जाता तब तक, खास कर मुसलमानों व ईसाईयों के बहुत बड़े हिस्से और हिन्दू समुदायों के बहुत से हिस्सों के पिछड़ेपन को दूर नहीं किया जा सकता।

आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय ने १९२३ में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के पहले दीक्षांत समारोह को सम्बोधित करते हुए इस्लाम धर्मावलंबियों के ज्ञानविज्ञान के क्षेत्र में ऐतिहासिक योगदान की खूब तारीफ की थी। लेकिन उन्होंने उससे पहले दीक्षांत समारोह में इकट्ठे हुए लोगों को यह भी याद दिलाया था कि भारत किसी की विभाजित निष्ठा को बर्दाश्त नहीं कर सकता। उन्होंने कहा था - 'भारत का कल्याण हमारा पहला, दूसरा और अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।' लगता है कि सभी हिन्दूमुस्लिम झगड़ों के बावजूद आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र और बहुत सारे दूसरे लोगों की नेक सलाह अब कुछ प्रभाव दिखाने लगी है। प्रफुल्ल चन्द्र राय के शब्दों का असर सिर्फ उन्हीं लोगों पर ही नहीं हो रहा है जिनके लिए ये शब्द सम्बोधित किए गए थे, बल्कि अनेक दूसरे लोग भी इनसे कुछ सीखने लगे हैं। असल में सिर्फ कुछ मुसलमान ही अपने आपको 'बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ' नहीं मानते, बल्कि इस देश में अनेक दूसरे लोग भी ऐसे हैं जो इसी तरह सोचते हैं और समझते हैं कि वे अभी 'भारतीय बनने को तैयार नहीं।'

भारतीय लोगों को अपमान का एहसास दिलाने वाले प्रतीक, सिर्फ मुस्लिम आक्रमणकारियों की जीत के ऐसे अवशेष ही नहीं हैं। यूरोपीय जीत के प्रतीक इनसे कहीं अधिक दूरदराज तक फैले हुए हैं। यह ठीक है कि इन यूरोपीय प्रतीकों से भारत की धार्मिक संवेदनाओं पर अक्सर कोई चोट आती नहीं दीखती। लेकिन इनका जहर कहीं ज्यादा गहराई से मार कर रहा है। यह जहर भारत की रगों में दूर दूर तक फैल गया है। इसके चलते लगता है कि भारतीय मानस और विवेक पूरी तरह भटक गया है। भारतीय लोगों की ऐतिहासिक स्मृति लुप्त हो गई है। हम सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था के अपने सिद्धांतों और तौरतरीकों को भूल गए हैं। वर्तमान की परिस्थितियों को सुधार कर उनमें से कुछ नया गढ़ लेने की हमारी क्षमता नष्ट हो गई है। इस जहर ने हमारे सौंदर्यबोध को भी नष्ट कर दिया है। हमारी स्थापत्य दृष्टि और हमारे शहरों, कस्बों व गांवों का ढाँचा सब बिलकुल विकृत हो गया है। वायसराय का बंगला, भारत सरकार का सचिवालय परिसर, इंडिया गेट वगैरह जैसी जो इमारतें आज पश्चिमी साम्राज्यवाद के

प्रतीक स्वरूप खड़ी हैं, उनका आम भारतीय के साथ कोई रिश्ता नहीं हो सकता। उसे ये कभी भी अपनी इमारतों जैसी नहीं दिख सकतीं। असल में इन इमारतों को बनाने का उद्देश्य ही यही था कि भारतीय आदमी के मानस को यूरोप की ताकत से अभिभूत कर दिया जाए, उस पर यूरोप की ताकत का आतंक जमा दिया जाए। ये इमारतें आज भी ऐसा ही आतंक पैदा करती हैं। फिर जब तक ये इमारतें और पश्चिम के दूसरे प्रतीक यहाँ बने हुए हैं, तब तक भारतीय स्थापत्य कला, भारतीय स्वरूपों और भारतीय सौंदर्य दृष्टि को दुबारा उभर पाने का कोई अवसर ही नहीं मिल सकता।

आजादी के बाद ब्रिटिश संस्थानों, कायदेकानूनों और व्यवस्थाओं वगैरह को चालू रखने और पश्चिमी ज्ञानविज्ञान व तकनीकों को यांत्रिक तरीके से अपना लेने के हक में मुख्य दलील यह दी गई थी कि ऐसा करना भारत की एकता को बनाए रखने और भारत को शक्तिशाली बनाने के लिए जरूरी है। सतही तौर पर यह दलील ठीक ही दीखती है। लेकिन ये पश्चिमी संस्थान, व्यवस्थाएँ, ज्ञानविज्ञान और तकनीकें वगैरह तो देश को टुकड़ों में ही बाँटते हुए दीख रही हैं। इसके चलते देश, अलगथलग पड़े पश्चिमीकृत समाज और देशज समाजों के बीच ही नहीं बँटा है बल्कि और भी कई तरीकों से बँट गया है। उससे भी बुरी बात शायद यह है कि इनके बने रहने से लगभग सभी क्षेत्रों में भारतीय रचनात्मक पहल के उभरने की सम्भावना लगभग खत्म हो गई है। जैसे जैसे पश्चिमीकरण की रफ्तार बढ़ रही है, वैसे वैसे भारतीयता का उत्साह और भारतीय रचनात्मकता थोथी पड़ती जा रही है। आज की स्थिति को बनाए रखकर, हो सकता है कि, आज की स्थापित, लेकिन निर्जीव और निष्क्रिय सामाजिक राजनैतिक व्यवस्था को, हमेशा हमेशा के लिए बचाया जा सकता हो। लेकिन इस बीच भारतीय सभ्यता और भी खोखली होती चली जाएगी, उसका आंतरिक सत्त्व नष्ट हो जाएगा और जिस दलदल में आज यह सभ्यता फँस गई है, उससे निकलना और भी मुश्किल होता चला जाएगा।

अगर आज की परिस्थितियों का यह विवेचन सही है, तो देश के लिए नये रास्तों को खोजना और नये तरीके ढूँढ़ना अनिवार्य हो जाता है। जो भी विकल्प ढूँढ़ा जाए, वह ऐसा होना चाहिए कि उस पर चलते हुए भारत के लोगों की रचनात्मकता और वैचारिक व क्रियात्मक पहल को फलने फूलने का मौका मिल सके। ऐसी स्थितियाँ बनानी होंगी जिसमें भारत के लोग अपनी जानकारी और क्षमताओं को, स्थानीय और राष्ट्रीय जरूरतों को पूरा करने के प्रयास में लगा सकें। लेकिन किसी भी ऐसे ज्ञान विज्ञान की नींव, भारत के लोगों के पास पहले से उपलब्ध ज्ञान में ही हो सकती है। ऐसी जानकारी और

क्षमताओं से शुरू करके ही कोई नया विकास हो सकता है। हमें ऐसी व्यवस्था भी करनी होगी कि भारत के सभी लोग एकदूसरे के साथ मिल जुलकर शान्ति और सद्भाव के साथ रह सकें और भारतीय लोगों की सदियों से हो रहे अपमान के एहसास की स्मृति मिट जाए। यह सब करने का मतलब अनिवार्यतः यह होगा कि देश की राजव्यवस्था को नए सिरे से गढ़ा जाए और प्रशासकीय कायदे कानूनों व प्रक्रियाओं को बिल्कुल बदल दिया जाए। लेकिन इन सबसे भी ज्यादा जरूरी यह होगा कि दुनिया के साथ भाईचारे के भाव को अपनी जगह जीवित रखते हुए, भारतीयता और उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियों को उभरने का मौका दिया जाए। जब भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सकेगा और अपनी देखभाल स्वयं कर सकेगा तो वह दुनिया के दूसरे लोगों के भी किसी काम आ सकेगा। दुनिया भर से प्रेम और दुनिया भर की चिन्ता करने के लिए जरूरी होता है कि पहले अपनी और अपने आसपास के लोगों की चिन्ता कर ली जाए। जो अपनी और अपने पड़ोस की ठीक से परवाह नहीं कर पाते, उनसे दुनिया का भला क्या होगा ?

इस सदी के बीस और तीस के दशकों के दौरान और शायद उससे पहले भी भारतीय समाज के इरादे और उद्देश्य कुछ इसी तरह के हुआ करते थे। फिर हम भटक कहाँ गए ? जब हम आजादी के बाद अपनी भारतीय यात्रा पर निकले थे, तो हमारे पास दुनिया का कोई खास अनुभव नहीं था। क्या इसी अनुभवहीनता के कारण हम पथभ्रष्ट हो गए ? या कि हमारा चिन्तन ही कहीं विकृत हो गया ? क्या हमारी जानकारी सीमित थी और हम अपने सोचविचार को भूत व वर्तमान की वास्तविकता से किसी तरह से जोड़ ही नहीं पा रहे ? या शायद हो सकता है कि गुलामी की लंबी रात और आजादी की लड़ाई के उत्साह भरे दिनों के बाद अचानक सामान्य स्थितियों के लौटने पर इस तरह पथभ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक ही हो। इस तरह के अस्वाभाविक ऐतिहासिक दौरों के गुजर जाने के बाद किसी समाज के लिए रोजमर्रा के सहज जीवन को दोबारा ठीक से पकड़ पाने में शायद कुछ समय लगा ही करता है।

आज की स्थिति को समझने के लिए बहुत सारे सवालों का जवाब देना जरूरी है। इन सवालों का जवाब देते हुए ही हम दुनिया को और उसकी विभिन्न सभ्यताओं को ठीक से समझ पाएंगे। इसी प्रक्रिया में शायद हमें आधुनिकता और उससे उपजे ज्ञानविज्ञान व तकनीक के पीछे की मूल प्रवृत्तियों की भी कुछ समझ आ जाए। आमतौर पर कहा जाता है कि कोई सभ्यता विशेष रूप से दैवी या आसुरी नहीं हुआ करती, इसलिए किसी सभ्यता में उपजा विज्ञान और तकनीकें भी किन्हीं विशेष मूल्यों या मान्यताओं पर आधारित नहीं होती। सिद्धान्त रूप में ये बातें ठीक ही होंगी। लेकिन

दुनिया की बाकी सब चीजों की तरह ज्ञानविज्ञान व तकनीकें भी काल सापेक्ष हुआ करती हैं। किसी एक प्रकार के ज्ञानविज्ञान व तकनीकों का मूल उद्भव और विकास किसी एक विशेष सभ्यता के साथ जुड़ा रहता है। कम से कम इस दृष्टि से तो किसी विशेष ज्ञानविज्ञान व तकनीक की अभिव्यक्ति और स्वरूप उस सभ्यता की मूल प्रवृत्तियों पर निर्भर करती ही हैं जिसमें इनका विकास हुआ हो। एक उदाहरण लीजिए। चेहरे मोहरे को दुरुस्त करने की शल्य क्रिया, जिसे आजकल प्लास्टिक सर्जरी कहा जाता है, अठारहवीं सदी में भारत में खूब प्रचलित थी। लगता है कि यह कला भारत में बहुत प्राचीन काल से ही विकसित हो चुकी थी। आधुनिक प्लास्टिक सर्जरी की शुरुआत भारतीय शल्य क्रिया की जानकारी से ही हुई। लेकिन आधुनिक सभ्यता में प्लास्टिक सर्जरी को जिस तरह के कामों के लिए बरता जाता है, उससे इस कला के भारतीय मूल का कोई अंदाजा नहीं हो सकता। इसी तरह अठारहवीं सदी के आखिर में बर्मा के लोग पेट्रोलियम के बारे में जानते थे। इसे वहां ईंधन व औषधि के रूप में और कई दूसरे उद्देश्यों के लिए बरता जाता था। यह सम्भव है कि बर्मा के पेट्रोलियम की जानकारी से दुनिया भर में पेट्रोलियम की खोज को बढ़ावा मिला हो। लेकिन आज पेट्रोलियम को जिन व्यापक कार्यों के लिए बरता जाता है, वे सब कार्य पश्चिमी सभ्यता की जरूरतों से ही उपजे हैं। आज भारत में घरेलू ईंधन की भारी कमी है। अगर भारतीय विज्ञान पश्चिम की नकल करने के बजाय अपने ही रास्ते पर चल रहा होता, तो हो सकता है कि बर्मा में खोजे गए पेट्रोलियम का उपयोग हमारे यहाँ गांवों और छोटे कस्बों के लोगों की ईंधन की जरूरतों को पूरा करने के लिए किया जाता। लेकिन क्योंकि हम विज्ञान के क्षेत्र में सिर्फ पश्चिम की नकल ही कर रहे हैं, इसलिए आज हमारे पेट्रोलियम और ईंधन गैस के स्रोत गैरजरूरी यातायात को चलाने, फालतू के औद्योगिक कृत्रिम पदार्थों को बनाने और रासायनिक खादों के उत्पादन में खर्च होते हैं। रासायनिक खादों के बजाए, गोबर की खाद से कहीं बेहतर तरीके से हम अपना काम चला सकते हैं। हमारे यहाँ बहुत पहले से गोबर की खाद बरती ही जाती रही है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई ऐसी नई वैज्ञानिक खोज नहीं की जा सकती जिसको बरत कर पौधों के पोषण के लिए हवा में पाई जाने वाली नाइट्रोजन को सीधे बरतना सम्भव बनाया जा सके। ऐसी खोज होने पर पश्चिमी सभ्यता में विकसित रासायनिक खाद की तकनीक गैरप्रासंगिक हो जाएगी। विज्ञान को खुद अपने तरीके से चलाने का दम हो और अपनी सभ्यता से पाई सही दृष्टि हो, तो प्राकृतिक और मानवीय विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में ऐसी अनेक नई खोजें होती ही चली जाएंगी।

लेखक परिचय

श्री धर्मपालजी का जन्म सन् १९२२ में उत्तर प्रदेश के मुझफ्फरनगरमें हुआ था। उनकी शिक्षा डी. ए. वी. कालेज, लाहौर में हुई। १९३० में ८ वर्ष की आयु में उन्होंने पहली बार गांधीजी को देखा । उसके एक ही वर्ष बाद सरदार भगतसिंह एवं उनके साथियों को फाँसी दी गई। १९३० में ही वे अपने पिताजी के साथ लाहौर में कोंग्रेस के अखिल भारतीय सम्मेलन में गये थे। उस समय से लेकर आजन्म वे गांधीभक्त एवं गांधीमार्गी रहे।

१९४० में, १८ वर्ष की आयु में उन्होंने खादी पहनना शुरू किया। चरखे पर सूत कातना भी शुरू किया। १९४२ में 'भारत छोडो' आन्दोलन में भाग लिया। १९४४ में उनका परिचय मीराबहन के साथ हुआ। उनके साथ मिलकर रुड़की एवं हरिद्वार के बीच सामुदायिक गाँव के निर्माण का प्रयास किया। उस सामुदायिक गाँव का नाम था 'बापूग्राम'। आज भी बापूग्राम अस्तित्व में है। १९४९ में भारत का विभाजन हुआ। परिणाम स्वरूप भारत में जो शरणार्थी आये उनके पुनर्वसन के कार्य में भी उन्होंने भाग लिया। १९४९ में वे इंग्लैण्ड, इझरायल और अन्य देशों की यात्रा पर गये। इझरायल जाकर वे वहाँ के सामुदायिक ग्राम के प्रयोग को जानना समझना चाहते थे। १९५० में वे भारत वापस आये। १९६४ तक दिल्ली में रहे। इस समयावधि में वे Association of Voluntary Agencies for Rural Development (AVARD) के मन्त्री के रूप में कार्यरत रहे। अवार्ड की संस्थापक अध्यक्षा श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय थीं, परंतु कुछ ही समय में श्री जयप्रकाश नारायण उसके अध्यक्ष बने और १९७५ तक बने रहे। १९६४-६५ में श्री धर्मपालजी आल इण्डिया पंचायत परिषद के शोध विभाग के निदेशक रहे। १९६६ में लन्दन गये। १९८२ तक लन्दन में रहे। इन अठारह वर्षो में भारत आते जाते रहे। १९८२ से १९८७ सेवाग्राम (वर्धा, महाराष्ट्र) में रहे। उस दौरान चैन्नई आते जाते रहे। १९८७ के बाद फिर लन्दन गये। १९९३ से जीवन के अन्त तक सेवाग्राम, वर्धा में रहे।

१९४९ में उनका विवाह अंग्रेज युवति फिलिस से हुआ। फिलिस लन्दन में,

बापूग्राम में, दिल्ली में, सेवाग्राम में उनके साथ रहीं। १९८६ में उनका स्वर्गवास हुआ। उनकी स्मृति में वाराणसी में मानव सेवा केन्द्र के तत्त्वावधान में बालिकाओं के समग्र विकास का केन्द्र चल रहा है। धर्मपालजी एवं फिलिस के एक पुत्र एवं दो पुत्रियां हैं। पुत्र डेविड लन्दन में व्यवसायी है , पुत्री रोझविता लन्दन में अध्यापक है और दूसरी पुत्री गीता धर्मपाल हाईडलबर्ग विश्वविद्यालय, जर्मनी में इतिहास विषय की अध्यापक है।

धर्मपालजी अध्ययनशील थे, चिन्तक थे, बुद्धि प्रामाण्यवादी थे। परिश्रमी शोधकर्ता थे। अभिलेख प्राप्त करने के लिये प्रतिदिन बारह चौदह घण्टे लिखकर लन्दन तथा भारत के अन्यान्य महानगरों के अभिलेखागारों में बैठकर नकल उतारने का कार्य उन्होंने किया। उस सामग्री का संकलन किया, निष्कर्ष निकाले। १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी के भारत के विषय में अनुसन्धान कर के लेख लिखे, भाषण किये, पुस्तकें लिखीं।

उनका यह अध्ययन, चिन्तन, अनुसन्धान विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करने के लिये या विद्वता के लिये प्रतिष्ठा, पद या धन प्राप्त करने के लिये नहीं था। भारत की जीवन दृष्टि, जीवन शैली, जीवन कौशल, जीवन रचना का परिचय प्राप्त करने के लिये, भारत को ठीक से समझने के लिये, समृद्ध, सुसंस्कृत भारत को अंग्रेजों ने कैसे तोडा उसकी प्रक्रिया जानने के लिये, भारत कैसे गुलाम बन गया इसका विश्लेषण करने के लिये और अब उस गुलामी से मुक्ति पाने का मार्ग ढूंढने के लिये यह अध्ययन था। जितना मूल्य अध्ययन का है उससे भी कहीं अधिक मूल्य उसके उद्देश्य का है।

श्री जयप्रकाश नारायण, श्री राम मनोहर लोहिया, श्री कमलादेवी चट्टोपाध्याय, श्री मीराबहन उनके मित्र एवं मार्गदर्शक हैं। गांधीजी उनकी दृष्टि में अवतार पुरुष हैं। वे अन्तर्बाह्य गांधीभक्त हैं, फिर भी जाग्रत एवं विवेकपूर्ण विश्लेषक एवं आलोचक भी हैं। वे गांधीभक्त होने पर भी गांधीवादियों की आलोचना भी कर सकते हैं।

इस ग्रन्थश्रेणी में प्रकाशित पुस्तकें १९७१ से २००३ तक की समयावधि में लिखी गई हैं। विद्वज्जगत में उनका यथेष्ट स्वागत हुआ है। उससे व्यापक प्रभाव भी निर्माण हुआ है।

मूल पुस्तकें अंग्रेजी में हैं। अभी वे हिन्दी में प्रकाशित हो रही हैं। भारत की अन्यान्य भाषाओं में जब उनका अनुवाद होगा तब बौद्धिक जगत में बडी भारी हलचल पैदा होगी।

२४ अक्टूबर २००६ को सेवाग्राम में ही ८४ वर्ष की आयु में उनका स्वर्गवास हुआ।